

UNIVERSAL
LIBRARY

OU₁180834

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—23—4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No.

H81

Accession No.

P. G.
H3285

Author

T84-K

Title

त्रिवेदी, विपिन सिंहारं तथा
उषा गुप्ता
काव्य विवेचन 1961.

This book should be returned on or before the date
last marked below.

काव्य विवेचन

: लेखक :

विपिन विहारी त्रिवेदी

एम० ए०, डी० फिल०

सहायक प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

तथा

उ० ए० गुप्त

एम० ए०, पी-एच० डी०

सहायक प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय



प्रकाशन केन्द्र लखनऊ

- प्रकाशक
प्रकाशन केन्द्र,
अमीनाबाद, लखनऊ

- संस्करण
प्रथम संस्करण जनवरी १९६१

- मूल्य : ४ रुपया

- आवरण सज्जा
श्री हिम्मतराय, हिमसन्स, लखनऊ

- मुद्रक
स्वदेश प्रेस,
गौतमबुद्ध मार्ग, लखनऊ

श्रद्धेय गुरुदेव

आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल

को

सादर

विषय सूची

पृष्ठ

ङ

दो शब्द

प्रथम अध्याय

(रस विवेचन १-८६)

काव्य, उसका आदर्श एवं उसका प्रयोजन	१
काव्य के भेद	१-२
रस	२-४
विभाव	४-७
अनुभाव	७-१२
संचारी या व्यभिचारी भाव	१२-२८
स्थायी भाव	२८-३४
साधारणीकरण	३४
शृंगार रस	३४-४५
हास्य रस	४५-५४
वीर रस	५४-५९
अद्भुत रस	५९-६२
रौद्र रस	६२-६५
करुण रस	६५-६८
वीभत्स रस	६८-७०
भयानक रस	७०-७३
शान्त रस	७३-७६
वत्सल रस	७६-८०
भक्ति रस	८१-८२
रसाभास	८२-८३
भावाभास	८३-८४

भावशांति	८४
भावोदय	८४
भावसन्धि	८४-८५
भाव शबलता	८५
अनेक रसों की स्फुरणा	८५-८६

द्वितीय अध्याय

(हिदी साहित्य में विविध रस ८७-१८३)

भृंगार रस	८७-११०
हास्य रस	११०-११८
वीर रस	११८-१३४
अद्भुत रस	१३४-१३६
रोद्र रस	१३९-१४६
करुण रस	१४६-१५४
वीभत्स रस	१५४-१६३
भयानक रस	१६३-१७०
शांत रस	१७०-१७६
वात्सल्य रस	१७६-१७९
भक्ति रस	१७९-१८३

तृतीय अध्याय

(अलंकार १८४-२१६)

पृष्ठभूमि	१८४-१९२
शब्दालंकार—	१९२-१९८
अनुप्रास	१९२-१९५
यमक	१९५-१९६
इलेष	१९६
वक्रोक्ति	१९६-१९७
पुनरुक्तिवदाभास	१९७-१९८
चित्र	१९८
अर्थालंकार—	१९८-२१९
उपमा	१९८-२००
रूपक	२००-२०३

अनन्वय	२०३-२०४
उत्प्रेक्षा	२०४-२०६
प्रतीप	२०६-२०८
अपह्नुति	२०८-२०९
व्यतिरेक	२१०
भ्रम	२१०
संवेह	२१०-२११
उल्लेख	२११
अतिशयोक्ति	२११-२१३
अर्थान्तरन्यास	२१३-२१४
परिसंख्या	२१४
निदर्शना	२१४-२१५
पर्यायोक्ति	२१५
व्याजस्तुति	२१५-२१६
मुद्रा	२१६
अधिक	२१७
अल्प	२१७
अप्रस्तुतप्रशंसा	२१७-२१८
विभावना	२१८-२१९

चतुर्थ अध्याय

(छंद या वृत्त २२०-२३६)

पृष्ठभूमि	२२०-२२२
छन्द	२२२
वर्ण	२२२-२२३
मात्रा	२२३
मात्रिक छंद	२२३
वर्णिक वृत्त	२२३
मुक्तक छंद	२२३-२२४
सम, अर्द्धसम, विषम, साधारण, दंडक,	२२४
मात्रिक छंद—	
वर्णिक गण	२२४-२२५
चौपाई	२२५-२२६

रोला	२२६
गीतिका	२२६
हरिगीतिका	२२६
सरसी	२२६-२२७
दोहा	२२७-२२८
छप्पय	२२८-२३०
कुंडलिया	२३०
वर्णिक छंद—	
वंशस्थ	२३१
वसंततिलका	२३१-२३२
मालिनी	२३२
शिखरिणी	२३२-२३३
मंदाक्रान्ता	२३३
शार्दूलविक्रीडित	२३३-२३४
सवैया	२३४
मुक्तक छंद—	
मनहरण	२३४-२३५
रूप घनाक्षरी	२३५
देव घनाक्षरी	२३५-२३६

दो शब्द

विविध कलायें पहले प्रादुर्भूत हुईं बाद में उनका विवेचन और ज्ञान कराने वाले शास्त्र बने। यह अवश्य है कि शास्त्र भावक-विवेचक का निर्माण करके कला विशेष का पारखी बना सकते हैं और आंशिक रूप में कलाकार का मार्ग-दर्शन कर सकते हैं परन्तु बहुधा उन्मुक्त कला के सृजन में उनकी परिपाटी बाधक भी हो सकती है। असाधारण प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों को भले ही शास्त्र ज्ञान की, अपनी कला विशेष की निष्पन्नता में उतनी अपेक्षा न हो परन्तु साधारण व्यक्ति को विविध कलाओं के परिज्ञान हेतु उनका शास्त्रोक्त ज्ञान होना अनिवार्य है।

प्रस्तुत ग्रंथ काव्यशास्त्र का साधारण ज्ञान कराने के प्रयत्न में उस अभाव की पूर्ति है जो बी० ए० (हिंदी) कक्षा के विद्यार्थियों को खटकता है। १ दिसम्बर १९४८ ई० को लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक पद की नियुक्ति के साथ बी० ए० की श्रेणियों को काव्यशास्त्र पढ़ाने का भार विभागाध्यक्ष डा० दीनदयालु जी गुप्त ने दिया था। उस समय से अब तक वह उत्तरदायित्व पूरा किया जा रहा है। संस्कृत और हिंदी के आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक लब्धप्रतिष्ठ ग्रंथ अपने भाष्य और कारिकाओं सहित सामने थे परन्तु विद्यार्थी को उन्हें समझने योग्य बौद्धिक स्तर प्रदान करने वाले एवं निर्धारित पाठ्यक्रम की पूर्ति करने वाले ग्रंथ सुलभ न थे।

यह पढ़ने-पढ़ाने का क्रम सम्भवतः अपनी पूर्व गति से ही चलता रहता यदि मेरी प्रिय शिष्या और अब सहयोगिनी डा० उषा गुप्ता ने अपने स्वाभाविक दुर्निवार आग्रह से इस अध्ययन को प्रकाशित करने योग्य स्थिति में लाने के लिए विवश न कर दिया होता। मेरी स्वीकृति मिलने के उपरान्त उनका आग्रह शब्दों मात्र तक ही सीमित न रहा वरन् वह ग्रंथ लेखन कार्य में पूर्ण सहायता लेकर भी आया।

मालवीय पुस्तक केन्द्र के संचालक बंधु हम लोगों के पीछे पड़ गए और उन्होंने इस ग्रंथ को समाप्त करवा के ही साँस ली। स्वदेश प्रेस के प्रबंधक

(च)

श्री बजरंगशरण तिवारी जी के निर्देश में उनके प्रेस कर्मचारियों ने दत्तचित्त होकर शीघ्र मुद्रण कार्य सम्पन्न किया ।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष पूज्यपाद् गुरुदेव स्वर्गीय आचार्य ललिता प्रसाद जी सुकुल के अनुग्रह एवं स्नेह अविस्मरणीय हैं । कोई शिष्य अपने गुरु ऋण से कभी मुक्त नहीं हो सकता । जिनकी सतत् प्रेरणा हिंदी जगत् में कार्य करने के लिए खींच लाई, उनकी पावन स्मृति को शतशः प्रणाम करते हुए प्रस्तुत ग्रंथ उन्हें सादर समर्पित है ।

सहायक प्रोफेसर,

हिंदी विभाग,

लखनऊ विश्वविद्यालय ।

त्रिपिन बिहारी त्रिवेदी

काव्य विवेचन

काव्य, उसका आदर्श एवं उसका प्रयोजन

वह शब्दार्थ जो अवगुण रहित तथा गुण एवं अलंकार सहित (अथवा कहीं अलंकार-रहित भी) हो काव्य कहलाता है।

काव्यादर्श को लेकर संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने पर्याप्त विचार किया है। काव्य-प्रणयन के प्रेरणात्मक रहस्य का मनोवैज्ञानिक अवगाहन करके उन्होंने अनूठे मत्त्यों का उद्घाटन किया है तथा आनंद और कीर्ति को काव्य-रचना का प्रयोजन बनाने में वे प्रायः एक मत हैं। संसार में अवतरित हुए व्यक्ति के लिये सर्वोत्तम धर्म-मंगल^१ है जिसे जैनधर्म में अहिंसादि से भी अधिक उत्कृष्ट माना गया है। काव्य-प्रयोजन के संबंध में विविध निष्कर्ष निकालते हुए आचार्य भामह^२ का कथन था कि उत्तम काव्य रचना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप चारों पुरुषार्थों को उत्पन्न करती है जिसका प्रतिपादन आचार्य कुन्तक^३ ने भी किया है।

काव्य के भेद

ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और अलंकार—काव्य के ये तीन भेद हैं। जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ में अधिक चमत्कार होता है वह ध्वनि कहलाता है। जहाँ पर व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार नहीं होता उसे

१. धम्मो मंगल मुक्किट्ठी अहिंसा संयमो तवो।
२. काव्यालंकार सूत्र, श्लोक १-२;
३. वक्रोक्तिजीवित, श्लोक ३;

गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं, और जहाँ व्यंग्यार्थ के बिना शब्द-रचना या वाच्यार्थ में ही चमत्कार होता है वह अलंकार कहलाता है ।

ध्वनि के दो मुख्य भेद हैं—(१) लक्षणामूला और (२) अभिधामूला । लक्षणामूलाध्वनि को अविवक्षित ध्वनि (वाच्यार्थ की विवक्षा की अनुपस्थिति) कहते हैं । अभिधामूला ध्वनि को 'विवक्षितअन्यपरवाच्य, ध्वनि (वाच्यार्थ की विवक्षा की वाछता) कहते हैं । इसके दो भेद हैं—(१) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि (जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम भली भाँति न प्रतीत होता हो); (२)—संलक्ष्यक्रमध्वनिव्यंग्य ध्वनि (जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का पौर्वापर्य क्रम संलक्ष्य अर्थात् भली प्रकार प्रतीत होता हो) । असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के आठ प्रकार हैं—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशांति, भावोदय, भावसंधि और भाव शबलता ।

रस

'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' अर्थात् जिस वाक्य में रस है वही काव्य है । वाक्विदग्धता या अभिव्यंजना कौशल का प्राधान्य होने पर भी रस ही काव्य की आत्मा है । रस के क्षेत्र में अपना और पराया विस्मृत हो जाता है । उस अपरिमित भावोन्मेष से जो सर्वसाधारण एवं समस्त संबंधातीत होता है सभी सहृदय जन रस प्राप्त करते हैं । जब रसास्वादन होने लगता है तब विषयान्तर की अनुभूति भी नहीं होती । यह रस अलौकिक चमत्कारी होता है—'रसे सारः चमत्कारः' । अस्तु चमत्कार को रस का प्राण कहना उचित होगा ।

किसी सफल काव्य रचना हेतु केवल शब्द समूह ही पर्याप्त नहीं होता । इसके लिए इसमें हृदयस्पर्शी चमत्कार की उपस्थिति एक अनिवार्य तत्व है । यह चमत्कार ही रस है । काव्य का शरीर शब्द और अर्थ द्वारा निर्मित है । परन्तु रस को उसका प्राण जानना चाहिए ।

इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की गवेषणा में आचार्यों को कितना समय लगा होगा इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है । रसशास्त्र की गौरवमय देन विशुद्ध भारतीय है । योरोपीय काव्यशास्त्रों में रस सम्बन्धी विवेचन अनुपस्थित है यद्यपि वह अन्य अनेक मनोवैज्ञानिक गवेषणाओं के रूप में अन्य विषयों में अनुशीलन-परिशीलन के प्रयोजन हेतु अपने ढंग विशेष से प्रकट हुआ है परन्तु साहित्य में उसका उपयोग नहीं किया जाता ।

आचार्य भरत के आधार पर हम महामना द्रुहिण को रसशास्त्र का अनुसन्धानकर्ता मान सकते हैं । अपने नाट्यशास्त्र में भरत ने शृंगार, रौद्र, वीर, वीभत्स को आदि रस माना है तथा हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक को

क्रमशः पूर्वं रसों से उत्पन्न बताया है^१ । इन रसों के वर्ण और देवता आचार्य ने इस प्रकार बताये हैं—

रस	वर्ण ^२	देवता ^३
शृंगार	श्याम	विष्णु
हास्य	श्वेत	प्रमथ
करुण	कपोत	यम
रौद्र	रक्त	रुद्र
वीर	गौर	महेन्द्र
भयानक	कृष्ण	काल
बीभत्स	नील	महाकाल
अद्भुत	पीत	ब्रह्मा

नाट्यशास्त्र में नवें शान्त रस का भी उल्लेख है । कविराज विश्वनाथ ने वात्सल्य रस को भी पृथक् स्थान दिया है । हिन्दी के आधुनिक विद्वानों ने भक्ति रस को मिलाकर ग्यारह रस मनोनीत किये हैं ।

आचार्य भरत का कथन है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है^४ । ये प्रत्येक रस में भिन्न-भिन्न होते हैं ।

भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में आठ रसों का शास्त्रोक्त उल्लेख किया है । उद्भट ने सर्वप्रथम नाटक में शान्त रस की अवतारणा की है । रुद्रट ने

१. शृंगाराद्धि भवेद्भास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
वीराच्चैनाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः ॥ ४४
शृंगारानुकृतिर्यानु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः ।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः ॥ ४५
वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परकीर्तितः ।
वीभत्स दर्शनं यत्र ज्ञेयः स तु भयानकः ॥ ४६ —(नाट्यशास्त्र)
२. श्यामो भवति शृंगारः सितो हास्य प्रकीर्तितः ।
कपोतः करुणश्चैव रक्तो रौद्र प्रकीर्तितः ॥ ४७ ॥
गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः ।
नील वर्णास्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः ॥ ४८ ॥
३. शृंगारो विष्णुदेवत्ये हास्य प्रथम देवतः ।
करुणो यम देवतः ॥ ४९ ॥
बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः ।
वीरो महेन्द्र देवः स्याद्भुतो ब्रह्मदेवतः ॥ ५० ॥
४. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

इन सब रसों के अतिरिक्त 'प्रेमान' रस भी माना है। भोज ने उदात्त और उदत्त इन दो रसों को भी स्थान दिया है। विश्वनाथ ने वत्सल नामक एक नये रस का उल्लेख किया है। रूपगोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती ने अपने समय तक शान्त रस के अन्तर्गत विवेचित किये जाने वाले भक्ति रस की स्वतंत्र स्थापना की है। अभिनवगुप्त ने आद्रता-स्थायिक स्नेह और गन्धस्थायिक लौक्य रस की कल्पना की है। रसतरंगिणी में माया रस भी माना गया है। संगीतसुधाकर में बाह्य, संभोग और विप्रलम्भ नामक तीन अन्य रसों का उल्लेख है। उद्भट की दृष्टि में सभी भाव रस रूप धारण कर सकते हैं। मधुसूदन-सरस्वती, नमिसाधु तथा मानसशास्त्र के अनुसार मानव-जीवन की समस्त चित्र-वृत्तियाँ परिपुष्ट होने पर रसावस्था को प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार रस-संख्या के निर्धारण में विभिन्न मत हैं परन्तु अधिकांश विद्वानों और आचार्यों में विशेषतः अभिनवगुप्त एवं मम्मट ने नव ही रस माने हैं।

विभाव

रति आदि स्थायी भावों की उत्पत्ति के जो कारण निमित्त अथवा हेतु होते हैं उन्हें विभाव कहते हैं। अति सूक्ष्मता से हृदय में वास करनेवाले भावों को ये विभावन करते हैं—अस्वाद के योग्य बनाते हैं।

विभाव दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बन (२) उद्दीपन। प्रत्येक रस के आलम्बन और उद्दीपन विभाव भिन्न-भिन्न होते हैं।

१ आलम्बन विभाव

जिन पर आलम्बित होकर स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं। आलम्बन के अभाव में काव्य की सृष्टि सम्भव नहीं है।

आलम्बन विभाव दो प्रकार के होते हैं—विषयालम्बन और आश्रयालम्बन। जिसके उद्देश्य से रति आदि स्थायी भाव जागृत होते हैं वह रति आदि स्थायी भावों का विषय या आलम्बन है तथा उन रति आदि भावों का जो आधार है वह आश्रय है। यथा—

देखते ही रौद्र मूर्ति वीर पृथ्वीराज की

चीख उठा राजा ज्यों सहसा पथिक के

सामने भयानक मृगेन्द्र कूदे काल सा। —वियोगी हरि.

इसमें पृथ्वीराज की रौद्र मूर्ति जयचन्द के भय का विषय है क्योंकि उसी को देखकर राजा का भय जागृत होता है। स्थायी भाव भय का आधार जयचन्द है अस्तु वही आश्रय है। इस प्रकार उपर्युक्त छन्द में दोनों आलम्बन वर्तमान हैं।

आधुनिक काव्य में दोनों आलम्बनों की योजना कर सकना सम्भव सा नहीं है। कहीं-कहीं आलम्बन को गौण रूप देकर माध्यम के द्वारा भाव व्यक्त किये जाते हैं फलतः अन्योक्ति-प्रणाली का सहारा आवश्यक हो जाता है। कहीं आलम्बन की प्रतीति कठिन हो जाती है और कहीं उसका पता ही नहीं लगता।

१- मेरा आहत प्राण न देखो,

टूटा स्वर सन्धान न लेखो,

लय ने वन-वन दीप जलाये, मिट मिटकर जलजात खिलाये।

२- अश्रु मेरे मांगने जब

नींद में वह पास आया।

स्वप्न सा हँस पास आया।

हो गया दिव की हँसी से

शून्य में सुरचाप अंकित,

रश्मि रोमों में हुआ

निस्पंद तम भी सिहर पुलकित :

—महादेवी

२ उद्दीपन विभाव

रति आदि स्थायी भावों को जो उद्दीप्त करते हैं उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं। ये स्थायी भाव के उत्पादक कारण नहीं होते वरन् उन्हें उद्दीप्त करते हैं। जिस प्रकार उत्पन्न अंकुर को जल न मिलने से वह नष्ट हो जाता है उसी प्रकार उत्पन्न स्थायी भाव यदि इनके द्वारा उद्दीप्त न हो तो वह नष्ट हो जाता है।

प्रत्येक रस के उद्दीपन विभाव पृथक् होते हैं। जैसे सखा, सखी, दूती, पट्कृतु, वन, उपवन, चन्द्र, चाँदनी, पुष्प, चित्र, नदी-तट आदि शृंगार रस के उद्दीपन विभाव हैं।

नायिका की सखी के चार प्रकार हैं—१ हितकारिणी, २ व्यंग्यविदग्धा, ३ अन्तरंगिणी और ४ बहिरंगिणी। नायिका से हास-विनोद-आलाप करना, उसके साथ खेलना-कूदना, उगे शिक्षा-सलाह आदि देना तथा विभूषित करना आदि उसके कार्य हैं।

१- अलि कैसे उनको पाऊँ।

वे आँसू बनकर मेरे, इस कारण ढुल ढुल जाते,

इन पलकों के बन्धन में, मैं बांध बाँध पछताऊँ।

—महादेवी

२- मुसकाता संकेत भरा नभ

अलि क्या प्रिय आनेवाले हं ?

—महादेवी

आधुनिक ढंग से प्रस्तुत वर्षा ऋतु का उदाहरण—

जागी किसकी वाष्पराशि, जो सूने में सोती थी ?

किसकी स्मृति के बीज उगे ये, सृष्टि जिन्हें बोती थी?

अरी वृष्टि ऐसी ही उनकी दया दृष्टि रोती थी ?

विश्व-वेदना की ऐसी ही चमक उन्हें होती थी ?

—गुप्त जी

ज्योत्स्ना का उदाहरण—

१- कालिमा घुलने लगी घुलने लगा आलोक,

इसी निभृत अनन्त में बसने लगा अब लोक,

इस निशामुख की मनोहर सुधामय मुस्कान,

देखकर सब भूल जायें दुःख के अनुमान ।

—प्रसाद

२- नीचे दूर दूर विस्तृत था

उमिल सागर व्यथित अधीर ।

अंतरिक्ष में व्यस्त उसी सा

रहा चन्द्रिका-निधि गंभीर ।

—प्रसाद

सखी द्वारा नायिका को विभूषित करने का उदाहरण—

माँग सँवारि सिंगारि सुबारनि बेनी गुही जु छवानि लौं छावैं ।

त्यों 'पद्माकर' या विधि और हूँ साजि सिंगार जु स्याम को भावैं ।

रोझे सखी लखि राधिका को रंग, जा अंग जो गहनो पहिरावैं ।

होत यो भूषित भूषन गात ज्यों डाँकत ज्योति जवाहिर पावैं ॥

उद्दीपन के प्रकार—

उद्दीपन विभाव विषयगत और आश्रयगत दोनों प्रकार का होता है ।

विभिन्न रूप वाले होने के कारण शृंगार रस में प्रेमी और प्रेमिका दोनों की ओर से उद्दीपन होना अनिवार्य है । यथा—

इयामा सराहति श्याम की पार्गाहि श्याम सराहत श्यामा की सारी ।

एक ही दर्पन देखि कहैं तिय नोके लगौ पिय प्यो कहैं प्यारी ।

यहाँ दोनों की चेष्टायें उद्दीपन का कार्य करती हैं ।

उद्दीपन विभाव के दो भेद होते हैं—

विषयगत (पात्रस्थ) और बहिर्गत (वाह्य) । पात्र के गुण, पात्र की

चेष्टायें—हाव-भाव आदि और पात्र के अङ्कार विषयगत उद्दीपन हैं और चन्द्र, चाँदनी, पवन, उपवन, ऋतु आदि बहिर्गत उद्दीपन विभाव हैं।

काव्यगत पात्र ही आलम्बन विभाव होते हैं और परिस्थिति विशेष को हम उद्दीपन विभाव कह सकते हैं। आलम्बन विभाव के रति आदि स्थायी भावों को जागृत करके उद्दीपन विभाव उनकी वृद्धि के कारण होते हैं।

अनुभाव

भाव के अनु (पीछे) अर्थात् विभावों के उपरान्त जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं।^१ ये भावों के कार्य हैं अर्थात् ये उत्पन्न हुए स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं। इनके चार भेद हैं (१) कायिक, (२) मानसिक, (३) आहार्य, (४) सात्त्विक। जैसे शृङ्गार रस में नायिका आलम्बन, चन्द्रोदय आदि नायक में रति उत्पन्न करते हैं किन्तु उसे प्रकट करने वाले कटाक्ष, भ्रूक्षेप, हस्त-संचालन आदि के द्वारा ही उसका ज्ञान हो सकता है।

१—गिर रहीं पलकें, झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रूलता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब सा था भरा गद्गद् बोल।

—प्रसाद (कामायनी)

कायिक—भ्रूभंग, कटाक्ष आदि अंगों की कृत्रिम चेष्टाओं को कायिक अनुभाव कहते हैं। यथा—

२—बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी। पियतनु चित्तें भौंह करि बाँकी।
खंजन मंजु तिरौछें नैननि। निज पति कहेउ तिनहि सिय सैननि ॥

—तुलसी (मानस)

मानसिक—अन्तःकरण की वृत्ति से उत्पन्न हर्ष, मोद, प्रमोद, व्याकुलता, संकोच आदि मानसिक अनुभाव कहे जाते हैं। यथा—

सूपनखा रावन कै बहिनी। दुष्ट हृदय दाहन जस अहिनी।
पंचवटी सो गइ एक बारा। देखि विकल भइ जुगल कुमारा ॥

—तुलसी (मानस)

आहार्य—बनावटी या आरोपित वेष रचना आहार्य अनुभाव कहलाती हैं। यथा—

१. अनुभावो भावबोधकः; अनुभावयन्ति इति अनुभावः ;

सोभा सीव सुभग दोउ बीरा । नील पीत जल जाभ सरीरा ।

मोरपंख सिर सोहत नीके । गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के ॥

—तुलसी (मानस)

सात्विक—शरीर के स्वाभाविक अंग-विकार सात्विक अनुभाव कहलाते हैं । यथा—

देखि रूप लोचन ललचाने । हरषे जनु निज निधि पहिचाने ।

थके नयन रघुपति छबि देखे । पलकन्हि हूँ परिहरीं निमेषे ॥

—तुलसी (मानस)

सात्विक अनुभाव

सत्त्व के योग में उत्पन्न भावों को सात्विक कहते हैं । ये आठ प्रकार के होते हैं—

१. स्तम्भ—हर्ष, भय, रोग, विस्मय, विषाद, लज्जा, रोषादि से शरीर के अंगों का संचालन रुक जाना स्तम्भ है । इसमें खड़ा रह जाना, निष्कम्प, निस्संज्ञ, शून्यता, जड़ता आदि होना अनुभाव होते हैं । यथा—

१— छूट्यो गेह काज लोक लाज मन मोहिनी को ,

भूत्यो मन मोहन को मुरली बजाइबो ।

बेखो बिन द्वं में 'रसखान' बात फैलि जहै ,

सजनी कहाँ लौ चन्द हाथन दुराइबो ।

कालि हू कलिन्दी तीर चितयो अचानक ही ,

दोऊन को दोऊ मुरि मृदु मुसिकाइबो ।

दोऊ परे पइयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ, उन्हें—

भूलि गई गइयाँ इन्हें गागरि उठाइबो ॥

—रसखान

२— अधिक सनेह देह भैं भोरी । सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ॥

—तुलसी (मानस)

२. स्वेद—क्रोध, केलि, भय, हर्ष, श्रम, दुःख, लज्जा, रोग, उपघात तथा व्यायाम आदि से यह उत्पन्न होता है । पसीना आना आदि इसके अनुभाव हैं । यथा—

ऊँची अटा पं अकेली हुती अलबेली खरी करि रूप उँजारो ।

एड़िन छवै छहरात हुतो 'हरिओध' छूट्यो कच घूघुर वारो ।

औचक आइ दोऊ अँखियाँ इतनेहि मैं मूँदि लियो पिय प्यारो ।

भेद भरो मन ऊबि छरो गयो सेद मैं डूबि गयो तन सारो ।

—हरिओध

३. रोमांच-हर्ष, श्रम, शीत, स्पर्श, क्रोध आदि से यह उत्पन्न होता है। शरीर का कंटकित, पुलकित तथा रोमांचित होना इसके अनुभाव हैं। यथा—

बूझि भली विधि कीजै कछू अलि काज उतावली के नहि नीके ।
चौगुनी चंचल होति चलै 'हरिऔध' कथानक केलि-थली के ।
धीर धरे हूँ बनैगी न वीर जो कामिनी क्यों हूँ परी कर पी के ।
नेक ही नैन लरे सिगरे-तन-रोम खरे हूँ गये रमनी के ॥

४. स्वरभंग-भय, हर्ष, क्रोध, मद, वृद्धावस्था, रोगादि से यह उत्पन्न होता है। स्वर का गद्गद होना, स्वाभाविक ध्वनि का परिवर्तित हो जाना आदि इसके अनुभाव होते हैं। यथा—

जाती हुती निज गोकुल को हरि आयौ तहाँ लखि कै मग सूना ।
ता सों कह्यो पदमाकर यों अरे साँवरे बावरे तैं हमैं छू ना ॥
आज थौँ कैसी भई सजनी उत वा विध बोल कद्योई कहूँ ना ।
आनि लगायो हियो सों हियो भरि आयो गरो कहि आयो कछू ना ॥

—पदमाकर

५. वैवर्ण्य-मोह, शीत, क्रोध, भय, श्रम, रोग, ताप आदि से यह उत्पन्न होता है। मुख का रंग बदल जाना, मुख पर चिन्ता की रेखा का व्याप्त होना आदि इसके अनुभाव होते हैं। यथा—

कहि न सकत कछु लाज तैं, अकथ आपनी बात ।
ज्यों-ज्यों निशि नियरात है, त्यों-त्यों तिय पियरात ॥

—पदमाकर

६. वेपथु (कंप)-क्रोध, भय, शीत, आनन्द, श्रम, रोग, ताप आदि से यह उत्पन्न होता है। कंप आदि इसके अनुभाव होते हैं। यथा—

साजि सिंगारनि सेज पै पारि भई मिस ही मिस ओट जिठानी ।
त्यों 'पदमाकर' आइ गो कन्त हकन्त जबै निज तन्त में जानी ॥
सो लखि सुन्दरि सुन्दर सेज तैं यों सरकी थिरकी थहरानी ।
बात के लागे नहीं ठहरात है ज्यों जलजात के पात पै पानी ॥

—पदमाकर

७. अश्रु-आनन्द, भय, शोक, क्रोध, अमर्ष, धुआँ, जैभाई, शीत, निर्नि-
मेप देखने आदि से यह उत्पन्न होता है। आँसू गिरना, पोंछना आदि इसके अनुभाव होते हैं। यथा—

भेद बिन जाने एती वेदन विनाहिबे कों,
आज हौँ गई ही बाट वंसीवट वारे की ।
कहे 'पदमाकर' लटू हूँ लोट पोट भई,
चित्त में अभी जो जोड़ पाय जटवारे की ।

बावरी लौं बूझति विलोकति कहा तू ,
 वीर जानै कहा कोऊ पीर प्रेम हटवारे की ।
 उमड़ि उमड़ि बहै बरखैं सु आँखिन ह्वै ,
 घट में बसी जो घटा पीत पटवारे की ॥

—पद्माकर

८. प्रलय—श्रम, मोह, मद, निद्रा, मूर्छा, अभिघात आदि से यह उत्पन्न होता है । निश्चेष्ट होना, श्वास का रुक जाना, पृथ्वी पर गिर जाना, अपनत्व भूल जाना आदि इसके अनुभाव होते हैं । यथा—

१— ये नँदगाँव ते आये इहाँ उत आई सुता वह कौन हू ग्वाल की ।
 त्यों 'पद्माकर' होत जुराजुरी दोउन फाग करी यहि ख्याल की ॥
 डीठि चली उनकी इन पैं इनकी उन पैं चली मूठि उताल की ।
 डीठि सी डीठि लगी उनको इनके लगी मूठि सी मूठि गुलाल की ॥

—पद्माकर

२— पाय कुँज एकान्त में भरी अंक ब्रजनाथ ।
 रोकन को तिय करत पैं कह्यो करत नहि हाथ ॥

उपर्युक्त आठों भेदों के उदाहरण निम्न छन्द में वर्तमान हैं—

ह्वै रही अडोल, घहरात गात बोलै नाहि बदल गई है छटा बदन सँवारे की ।
 भरि भरि आवैं नीर लोचन दुहँन बीच सराबोर स्वेदन में सारी रंग तारे की ।
 पुलकि उठे हें रोम, कछुक अचेत फेरि कवि 'लछिराम' कौन जुगुति विचारे की ।
 वानक सो डगर अचानक मिल्यो है लगी नजर तिरीछी कहूँ पीत पटवारे की ॥

नायिका के २८ अनुभाव

यौवनागम पर स्त्रियों में २८ प्रकार के अनुभाव प्रसूत होते हैं जो आचार्यों द्वारा अलंकार माने गये हैं । इनके भी तीन भेद हैं—

(१) अंगज, (२) अयत्नज और (३) स्वभावज ।

(१) अंग से उत्पन्न होने के कारण—(१) भाव (प्रथम लक्षित राग), (२) हाव (अल्पसंलक्षित विकारात्मक भाव) और (३) हेला (अत्यन्त स्फुट विकार वाला भाव) नामक तीन अलंकार अंग से उत्पन्न होने के कारण अंगज हैं ।

भाव का उदाहरण—

जामु विलोकि अलौकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मनु छोभा ॥
 सो सब कारन जान विधाता । फरकाहि सुभद अंग सुनु भ्राता ॥

—मुलसी (मानस)

हाव का उदाहरण—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय ।
सौंह करे भौंहनि हँसे देन कहै नटि जाय ॥

—बिहारी

हेला का उदाहरण—

फाग के भीर अभीरन में गहि गोविंद लें गई भीतर गोरी ।
भाई करी मन की 'पदमाकर' ऊपर नाइ अभीर की झोरी ।
छीन पितम्बर कमर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी ।
नैन नचाइ कही मुसकाइ लला फिर आइयौ खेलन होरी ॥

—पदमाकर

(२) कृत्रिम न होने के कारण—१ शोभा (शारीरिक सौन्दर्य), २ कान्ति (विलास से प्रवर्द्धित सौन्दर्य), ३ दीप्ति (अति विस्तृत कान्ति), ४ माधुर्य, ५ प्रगल्भता, ६ आदर्य और ७ धैर्य नामक सात अलंकार अयत्नज हैं ।

पुरुष सौन्दर्य का चित्र देखिये—

अवयव की दृढ़ मांस पेशियाँ,
उर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का,
होता था जिनमें संचार ।
—प्रसाद (कामायनी)

स्त्री सौन्दर्य—

बाँधा था विधु को किसने,
इन काली जंजीरों से ।
मणि वाले फणियों का मुख,
व्यों भरा हुआ हीरों से ॥

—प्रसाद (आँसू)

दीप्ति का उदाहरण—

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग ।
खिला हो व्यों बिजली का फूल मेघ बन बीच गुलाबी रंग ॥

—प्रसाद (कामायनी)

(३) कृति साध्य होने के कारण—१ लीला, २ विलास, ३ विच्छिन्नि (शृंगाराधायक अल्प वेश रचना), ४ विव्वाक (गर्व की अधिकता के कारण इच्छित वस्तु का अनादर), ५ किलकिचित् (प्रिय वस्तु की प्राप्ति आदि के हर्ष से हास, अभिलाष आदि कई भावों का सम्मिश्रण), ६ मोट्टायित (प्रिय-संबन्धी बातों में अनुराग द्योतक चेष्टा), ७ कुट्टमित (अंग स्पर्श से आंतरिक

हर्ष होने पर भी निषेधात्मक कर, सिर आदि का संचालन), ८ विभ्रम (जल्दी में वस्त्राभूषण का विपरीत धारण करना), ९ ललित (अंगों की सुकुमारता का प्रदर्शन), १० मद, ११ विहृत (लज्जावश समय पर भी कुछ न कहना), ११ तपन, १३ मौग्य, १४ विक्षेप (अकारण इधर-उधर देखने आदि से बहलाना), १५ कुतूहल, १६ लसित, १७ और १८ केलि नामक अठारह स्वभावज अलंकार हैं।

विच्छित्ति का उदाहरण—

मानो मयंकहि के पर्यंक निसंक लसै सुत बंक मही को ।
 त्यों पदमाकर जागि रह्यो जनु भाग हिये अनुराग जु पी को ।
 भूषण भार सिंगारन सों सजि सौतिन को जु करै मुख फीको ।
 ज्योति को जाल विसाल महा हिय भाल पै लाल गुलाल को टीको ।

कुट्टमित का उदाहरण—

अंचल के ऐंचे चल करती दृगंचल कों,
 चंचला ते चंचल चलै न भजि द्वारे को ।
 कहै 'पदमाकर' परै सी चौंकि चुम्बन में,
 छलनि छपावै कुच कुंभनि कितारे को ।
 छाती के छुये पै परै राती सी रिसाइ,
 गलबाहीं के किये पै नाहि-नाहिउँ उचारे को ।
 ही करति सीतल तमासे तुंग ती करति,
 सी करति रति में बसी करति प्यारे को ।

किलकिचित् का उदाहरण—

ऐसी है गोकुल के कुल की जिनि दच्छिन नैन किये अनुकूले ।
 खंजन से मनरंजन 'केसव' हास विलास लता लगि झूले ।
 बोलें शुकौ उझकौ अनबोलें फिरौ बिझुके से हिए महि फूले ।
 रूप भये सबके विष ऐसे ह्वै कान्ह कहौ रस कौन के भूले ॥—केशव

संचारी या व्यभिचारी भाव

अस्थिर मनोविकारों अथवा चिन्ता आदि चित्तवृत्तियों को संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं। ये स्थायी भाव के सहकारी होकर सभी रसों में संचरण करते हैं इसीलिए इन्हें संचारी भाव कहा जाता है। ये स्थायी भाव की तरह रस की सिद्धि तक स्थिर नहीं रहते वरन् अवस्था विशेष में पैदा होकर और स्थायी भाव को उचित सहायता देकर लुप्त हो जाते हैं। जल के बुलबुले या मेघ माला की सौदामिनी के सदृश प्रकट और लुप्त होने वाले इन संचारी भावों की संख्या तैंतीस है।

(१) निर्वेद—वैराग्य, दारिद्र्य, व्याधि, अपमान, आक्षेप, आपत्ति, इष्ट-वियोग, तत्त्वज्ञान आदि के कारण अपने को धिक्कारने को निर्वेद कहते हैं। जब निर्वेद वैराग्य या तत्त्वज्ञान से उत्पन्न होता है उस समय यह शान्त रस का स्थायी भाव होता है किन्तु जब अन्य उपर्युक्त कारणों से कुछ क्षणों के लिए हृदय पर प्रतिबिम्बित होता है तब यह अन्य रसों में व्यभिचारी रहता है। निर्वेद व्यभिचारी में दीनता, चिन्ता, अश्रुपात, दीर्घोच्छ्वास, विवर्णतादि अनुभाव होते हैं। यथा—

१- यों मन लालची लालच में लगी लोभ तरंगन में अवगाह्यो ।

त्यों पदमाकर देह के गेह के नेह के काज न काहि सराह्यो ॥

पाप किये पै न पातकी पावन जानि के राम को प्रेम निबाह्यो ।

चाह्यो भयो न कछू कबहूँ जमराज हूँ सों वृथा बैर बिसाह्यो ॥

२- कारज सीस को होत सबै पद पंकज की रज को अपनाये ।

स्वारथ होत हैं नैन दोऊ छवि साँवरी सूरत की दिखराये ॥

पातकी कान पुनोत बने 'हरिऔध' की प्यारी कथान सुनाये ।

पावन होति हे जीह अपावन भावन सों हरि के गुन गाये ॥

(२) ग्लानि—मानसिक ताप अथवा श्रम, भूख, प्यास आदि व्याधि शारीरिक कष्ट के कारण मन की मलिनता, खिन्नता, तथा अंगों के कान्तिहीन हो जाने को ग्लानि कहते हैं। इसके कार्य में अनुत्साह आदि अनुभाव होते हैं। यथा—

१- शापित सा मैं जीवन का यह

ले कंकाल भटकता हूँ,

उसी खोखलेपन में जैसे

कुछ खोजता अटकता हूँ ।

—प्रसाद (कामायनी)

२- शिथिल गात काँपत हियो, बोलत बनै न बन ।

करी खरी विपरीत कहूँ, कहत रंगीले नैन ॥

—बिहारी (सतसई)

३- यह महाभारत वृथा, निष्फल हुआ,

उफ ! ज्वलित कितना गरलमय द्यंग्य है ।

पाँच ही असहिष्णु नर के द्वेष से

हो गया संहार पूरे देश का ॥

—दिनकर (कुरुक्षेत्र)

(३) शंका—अनिष्ट की आशंका होने को शंका कहते हैं। इसमें मुख वैवर्ण्य, स्वरभंग, कम्प, अधर तथा कंठ का सूखना आदि अनुभाव होते हैं। यथा—

१- मोहि लखि सोवत बिथोरि गो सु बेनी बनी,
 तोरिगो हिये को हार छोरि गो सु गैया को ।
 कहें 'पदमाकर' त्यों घोरिगो घनेरो दुख,
 बोरिगो बिसासी आज लाज ही की नैया को ।
 अहित अनैसो ऐसो कौन उपहास यहै,
 सोचत खरी में परी जोवत जुन्हैया को ।
 बूझंगे चबैया तब कहों कहा दैया, इन
 पारिगो को मैया मेरी सेज पं कन्हैया को ।

(४) असूया—दूसरे की उन्नति, उत्कर्ष, ऐश्वर्य आदि को देखने या सुनने से उत्पन्न जलन को असूया कहते हैं। इसमें अनादर, भौहें चढ़ाना, निन्दा करना, दूसरे के दोषों को प्रकट करना आदि अनुभाव होते हैं। यथा—

१- यह जलन नहीं सह सकता में
 चाहिए मुझे मेरा ममत्व;
 इस पंचभूत की रचना में
 मैं रमण करूँ बन एक तत्व ।

—प्रसाद (कामायनी)

२- कद्रू बिनतहिं दीन दुख तुम्हहिं कौसिला देब ।
 भरत बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब ॥

—तुलसी (मानस)

इसमें मन्थरा ने कैकेयी के चित्त में असूया उत्पन्न कर दी है।

३- जैसे को तैसो मिलें तबही जुरत सनेह ।
 ज्यों त्रिभंग तन श्याम को कुटिल कूबरी देह ॥ —प्राचीन

(५) मद—वह अवस्था जिसमें बेहोशी और आनन्द का सम्मिश्रण हो, वही मद है। यह मद्यपान आदि से उत्पन्न मस्ती, अल्हड़पन आदि अनुभावों की उत्पादिका है। यथा—

१- छकि रसाल सौरभ सने मधुर माधुरी गंध ।

ठौर-ठौर झौरत झपत भौर झौर मधु अन्ध ॥ —बिहारी

यहाँ फूलों के रस के मद से मतवाले भीरों के समूह का झोरना-झपना आदि संचारी है।

२- तँसो लसं रंग इंगुर सो अंग तँसी दोऊ अँखियाँ रतनारी ।

तँसे पके कुंदुरू सम ओठ उरोज दोऊ उमंगें छबि न्यारी ।

तँसे ही चंचल 'बेनी प्रबीन' तू अंचल दें वृषभानु बुलारी ।

जोबन रूप की माती सदा मधुपान किये ते भई अति प्यारी ।

—बेनी प्रबीन

(६) श्रम—मार्ग चलने, व्यायाम, जागरण आदि से उत्पन्न खेद का नाम श्रम है। मुख सूख जाना, अँगड़ाई, जँभाई, दीर्घ श्वास लेना कार्यों में अरुचि आदि इसके अनुभाव है। यथा—

१— पुर ते निकसीं रघुबीर बधू धरि धीर हिये मग में उग द्वं ।
झलकीं भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वं ।
फिर बूझति हैं चलनो अब केतिक पर्णकुटी करिहौ कित ह्वं ।
सिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल चबं ॥

—तुलसी (कवितावली)

२— कै रतिरंग थकी थिर ह्वं परजंक में प्यारी परी मुख पाइ कै ।
त्यों पदमाकर स्वेद के बुंद रहे मुकताहल से तन छाइ कै ।
बिन्दु रचे मँहदी के लसै कर, ता पर यों रह्यो आनन आइ कै ।
इन्दु मनो अरबिन्द पैं राजत इन्द्र बधून के वृन्द विछाइ कै ॥

—पद्माकर

(७) आलस्य—गर्भ, जागरण, श्रम, व्याधि आदि के कारण कार्य करने से विमुख होना आलस्य है। अँगड़ाई, एक ही स्थल पर स्थिर रहना आदि इसके अनुभाव हैं। यथा—

१— केतकी गर्भ सा पीला मुंह,
आँखों में आलस भरा स्नेह,
कुछ कृशता नई लजीली थी,
कंपित लतिका सी लिये देह ।

—प्रसाद (कामायनी)

२— गोकुल में गोपिन गोविंद संग खेली फग,
राति भर प्रात सम ऐसी छबि छलकें ।
देहें भरी आलस कपोल रस रोरी भरे,
नींद भरे नयन कछूक झोंपें झलकें ।
लाली भरे अधर बहाली भरे मुख वर,
कवि पदमाकर बिलोकें कौन सलकें ।
भाग भरे लाल औ सुहाग भरे सब अँग,
पीक भरी पलकें, अबीर भरी अलकें ॥

(८) दैन्य—दुःख, दारिद्र्य, मनस्ताप, दुर्गति आदि से उत्पन्न अपने अपकर्ष (दुर्दशा) के वर्णन में दैन्य भाव होता है। मलिनता आदि इसमें अनुभाव होते हैं। यथा—

१— मानत न मन मनमानी ही करत नित,
तन हूँ हमारो नाहि बस मैं हमारे है ।

बहु दुःख बार-बार दुखित बनावत है,
 दादिर-दमामो दीह वाजत दुआरे है ।
 'हरिऔध' मान मदनीयता को देत नाहि,
 मति कमनीयता ते रहति किनारे है ।
 दीनबंधु तो सों दीनबंधु कौन दूसरो है ,
 दीनता हमारी दीन बंधुता सहारे है ।

—हरिऔध (रसकलस)

२- कोदों सर्वाँ जरतो भरि पेट न चाहति हों दधि दूध मिठौती ।
 सीत ब्रितीतत जो सिसिआत तो हों हठती पै तुम्हें न हठौती ।
 जौ जनती न हितू हरि सो तो में काहे को द्वारिका पेलि पठौती ।
 या घर तें कबहूँ न गयो पिय टूटो तवो अरु फूटी कठौती ॥

—नरोत्तमदास (सुदामाचरित)

(६) चिन्ता—इष्ट वस्तु की अप्राप्ति अथवा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न चित्तवृत्ति ही चिन्ता है । सन्ताप, चित्त में सूनापन, कृशता, अधोमुख, ऊँची साँस लेना इसके अनुभाव हैं । यथा—

१- ओ चिन्ता की पहली रेखा ,
 अरी विश्व वन की व्याली ;
 ज्वालामुखी स्फोट के भीषण ,
 प्रथम कंप सी मतवाली ।

—प्रसाद (कामायनी)

२- झिलत झकोर रहें जीवन को जोर रहें ,
 समद सरोर रहें सोर रहें तब सों ।
 कहें पदमाकर तकैयन के मेह रहें, नेह
 रहें नैननि न मेह रहें दब सों ।
 बाजत सुबंन रहें, उनमद नैन रहे ,
 चित्त में न चैन रहें चातकी के रव सों ।
 गेह में न नाथ रहें द्वारे ब्रजनाथ रहें ,
 कौ लों मन हाथ रहें साथ रहें सब सों ।

—पदमाकर (जगद्विनोद)

(१०) मोह—प्रिय-विद्योग, भय, व्याधि, दुख, चिन्ता आदि से उत्पन्न चित्त विक्षेप के कारण यथार्थ ज्ञान का ज्ञान न रहना ही मोह है । चित्त-भ्रम, चेतनाहीन होना, चिन्ता, भ्रम, सामने की वस्तु को भी न देखना आदि इसके अनुभाव हैं । यथा -

- १- दूल्हा श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं ।
गावत गीत सब मिलि सुन्दरि वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं ।
राम को रूप निहारत जानकि कंकन के नग की परछाहीं ।
या तें सब सुधि भूलि गई, कर टेक रही पल टारति नाहीं ॥

—तुलसी (कवितावली)

यहाँ पर सुख से उत्पन्न मोह व्यंजित है ।

- २- औरो कहा कोऊ बाल बधू है नयो तन जोवन तोहि जनायो ।
तेरेई नैन बड़े व्रज में जिनसो बस कीन्हों जसोमति जायो ।
डोलत है मनो मोल लियो कवि देव न बोलत बोल बुलायो ।
मोहन को मन मानिक सो गुन सों गुहि तैं उर सो उरझायो ॥

—देव

(११) स्मृति—पूर्व अनुभव किये हुए, सुख एवं दुख आदि विषयों का स्मरण स्मृति है । इसमें भौहों का चढ़ना आदि अनुभाव होते हैं । यथा—

- १- ऊधौ मोहि व्रज बिसरत नाहीं,
हंसुता की सुन्दर कगरी अरु कुंजन की छाहीं ।
वे सुरभी वे वच्छ दोहिनी खरिक दुहावन जाहीं ।
भवाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं ।
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाहीं ।
जगहि सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तनु नाहीं ।
अनगन भाँति करी बहु लीला जमुदा नन्द निबाहीं ।
सूरदास प्रभु रहे मौन गहि, यह कहि कहि पछिताहीं ।

- २- राधा-मुख मंजुल-सुधाकर के ध्यान ही सौं ,
प्रेम-रत्नाकर हियै यों उमगत है ।
त्योही विरहातप प्रचण्ड सौं उमंडि अति ,
ऊरध उसास कौ झकोर यों जगत है ।
केवट विचार कौ बिचारौ पचि हारि जाति,
होत गुनपाल ततकाल नभ-गत है ।
करत गंभीर धीर-लंगर न काज कछू ।
मन कौ जहाज डगि डूबन लगत है ॥

—रत्नाकर (उद्धवशतक)

(१२) धृति—लोभ, मोह, भय आदि उत्पन्न होने वाले उपद्रवों को दूर करने वाली चित्त-वृत्ति धृति है । इसमें प्राप्त, अप्राप्त और नष्ट वस्तुओं का शोक न करना, संतृप्ता, सानन्द वचन, मधुर स्मृति, स्थिरता आदि अनुभाव हैं । यथा—

- १- जबते दरसे मनमोहन जू तब तें अँखियाँ ये लगीं सो लगीं ।
 कुल कानि गई सखि वाही घड़ी जब प्रेम के चंद पगीं सो पगीं ।
 कवि 'ठाकुर' नैन के नेजन की उर में अनि अनि खगीं सो खगीं ।
 तुम गाँवरे नाँवरे कोऊ धरो, हम साँवरे रंग रँगों सो रँगों ॥

—ठाकुर

- २- क्यों संतापित हिय करौ भगि भगि धनिकन द्वार ।
 मो सिर पर राजत सदा प्रभु श्री नन्द कुमार ॥

(१२) ब्रीड़ा-नारी के पुरुष को देखने से तथा पराजय, प्रतिज्ञाभंग एवं अनुचित कार्य करने आदि से लज्जा होना ब्रीड़ा है। अशोमुख, विवर्णता, संकुचित होना आदि इसके अनुभाव हैं। यथा—

- १- संकेत कर रही रोमाली चुपचाप बरजाती खड़ी रही ।
 भाषा बन भौंहों की काली रेखा सी भ्रम में पड़ी रही ।

—प्रसाद (कामायनी)

- २- मोहन आपुनो राधिका को विपरीत की चित्र विचित्र बनाइ कै ।
 दीठि बचाय सलोनी की आरसी पैं चिपकाय गयो बहराइ कै ।
 घूमि घरीक में आइ कह्यो कहा बंठी कपोल में बिन्दु लगाइ कै ।
 दर्पन त्यों तिय चाह्यो नहीं मुसकाइ रही मुख मारि लजाइ कै ॥

- ३- लाज लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहिं ।
 ए मुँहजोर तरंग लों ऐंचत हू चलि जाहिं ।

—बिहारी

(१४) चपलता-प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष, अमर्ष, मात्सर्य आदि से चित्त का अस्थिर होना ही चपलता है। दूसरों को धमकी देना, कठोर शब्दों का उच्चारण, अविचारपूर्वक उच्छृंखल आचरण इसके अनुभाव होते हैं। यथा—

- १- कौतुक एक लख्यौ हरि ह्याँ 'पदमाकर' यों तुम्हें जाहिर की मैं ।
 कोऊ बड़े घर की ठकुराइनि ठाढ़ी निघाति रहै छिन की मैं ।
 झँकति हे कबहूँ झँझरीन झरोखनि त्यों सिर की सिरकी मैं ।
 झँकति हो खिरकी मैं फिर थिरकी थिरकी खिरकी खिरकी मैं ।

—पदमाकर (जगद्विनोद)

- २- चकरी लों सँकरी गलितु छिन आवति छिन जाति ।
 परी प्रेम के फन्द में बधू बितावति राति ॥

(१५) हर्ष-इष्ट की प्राप्ति, अभीष्ट जन के समागम आदि से उत्पन्न आनन्द ही हर्ष है। मन की प्रफुल्लता, रोमांच, गद्गद वचन, स्वेद आदि अनुभाव हैं। यथा—

१- उदित उदयगिरि मंच पर रघुवर बाल पतंग ।

निकसे सन्त सरोज उर हरषे लोचन भृंग ॥

—तुलसी (मानस)

२-बंठी ही सुन्दरि मंदिर में पति को पथ पेखि पतिव्रत पोखे ।

तौ लगि 'आये री' आय कह्यो दुरि द्वार तें देवर दौरि अनोखे ।

आनंद में गुरु की गुरुताउ गनी गुन गौरि न काहु के ओखे ।

नूपुर पाँइ उठे झनकाइ सु जाइ लगी धनि धाम झरोखे ॥—देव

(१६) आवेग—प्रिय या अप्रिय घटना के श्रवण से उत्पन्न चित्त की घब-

ड़ाहट अथवा उत्तेजित हो जाने को आवेग कहते हैं । विस्मय, स्तम्भ, स्वेद, शीघ्र गमन, वैवर्ण्य, कम्प, रोमांच आदि अनुभाव हैं । यथा—

१- सुनि आहट पिय पगनि की भभरि भगी यों नारि ।

कहुँ कंकन कहुँ किकिनी कहुँ सू नूपुर डारि ॥

२- देखन दौरीं सब ब्रजबाल सु आए गुपाल सुने ब्रज भूपर ।

टूटत हार हिये न सम्हारतीं छूटत बार न किकिणि नूपुर ।

भार उरोज नितंबन को न सहै कटि ओलटिबो दृग दूपर ।

'देव' सु दें पथ आई मनो चढ़ि धाई मनोरथ के रथ ऊपर ॥

(१७) जड़ता—इष्ट अथवा अनिष्ट को देखने-सुनने से किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाना पड़ता है । अपलक देखना, गुमसुम रहना आदि इसके अनुभाव हैं । यथा—

१- कालिंदी तट कालिह भटू कहुँ ह्वं गई दोउन भेटें भली सी ।

ठौर ही ठाढ़े चितौत इतौत न नैकऊ एक टकी टहली सी ।

'देव' को देखती देवता सी बृषभान लली न हली न चली सी ।

नंद के छोहरा की छवि सों छिनु एक रही छवि छैल छली सी ॥

२- हलें दुहें न चलें दुहें दुहुन बिसरिगे गेह ।

इकटक दुहुन दुहें लखें अटक अटपटे नेह ॥

३- आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,

सोहत सुहाई सीस ईडुरी सु पट की ;

कहै पदमाकर गँभीर जमुना के तीर,

लागी घट भरन नबेली नई अटकी ।

ताही समें मोहन सु बाँसुरी बजाई, तामें

मधुर मलार गाई ओर वंशीवट की ;

तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघट की,

घाट की न ओघट की बाट की न घट की ॥

—पदमाकर (जगद्विनोद)

(१८) गर्व-रूप, धन, बल, विद्या आदि का अभिमान ही गर्व है।
उपेक्षावृत्ति, अविनय, अनादर आदि इसके अनुभाव हैं। यथा—

१— भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्ही। विपुल बार महि देवन दीन्ही।
सहसबाहु भुज छेदन हारा। परसु बिलोकि महीप कुमार।
—तुलसी (मानस)

२— करती तू निज रूप का गर्व किन्तु अविवेक।

उमा रमा शचि शारदा तेरे सदृश अनेक॥

३— भौर ज्यों भ्रमत भूत वासुकी गनेस जूथ,
मानो मकरंद बुन्द भाल गंगाजल की।
उड़त पराग पट नाल सी विसाल बाहु,
कहा कहौं केसौदास सोभा पल पल की।
आयुध सघन सर्वमंगला समेत सर्व,
पर्वत उठाय गति कीन्ही है कमल की।
जानत सकल लोक लोकपाल दिकपाल।
जानत न बान बात मेरे बाहुबल की॥

—केशवदास

(१९) विषाद-पराजय, भय, इष्टहानि, अभीष्ट कार्य की असिद्धि, असाहाय्य अवस्था आदि के कारण निरुत्साह होना विषाद है। दीर्घ निश्वास लेना, सन्ताप, व्याकुलता, सहायान्वेषण, पछतावा आदि इसके अनुभाव हैं। यथा—

१— एक संग धाये नंदलाल औ गुलाल दोऊ,
दृगनि गये जू भरि आनंद मढ़े नहीं।
धोइ धोइ हारी 'पदमाकर' तिहारी सौंह,
अब तौ उपाय एकौ चित्त पं चढ़े नहीं।
कंसी करौं, कहाँ जाऊँ, का सों कहौ, कौन
सुनै, कोऊ तौ निकासौ जासों दरद बढ़े नहीं।
ए री मेरी बीर जैसे तैसे इन आंखिन ते,
कढ़िगो अबीर पैं अहीर को कढ़े नहीं॥

२— का सुनाइ विधि काह सुनावा। का दिखाइ यह काह दिखावा॥

—तुलसी (मानस)

(२०) औत्सुक्य-इष्टकार्य की तात्कालिक सिद्धि की इच्छा औत्सुक्य है। मन का सन्ताप, शीघ्रता, पसीना छूटना, निःश्वास आदि इसके अनुभाव हैं। यथा—

१— कैधौ हमारी ही बार बड़ो भयो, कै रवि को रथ ठौर ठयो है।
भोर ते भानु की ओर चितौति घरी पलते गनते ही गयो है।

आवत छोर नहीं छिन को दिन को नहीं तीसरो जाम छयो है ।
पाइये कैसे कै साँझ तुरन्त हि देखुरी घौस दुरन्त भयो है ॥

—देव

(२१) निद्रा-परिश्रम, मद (नशा) के कारण बाह्य विषयों से निवृत्त होना ही निद्रा है । इसके जँभाई, अँगड़ाई, आँखों का मिचना, उच्छ्वास आदि अनुभाव होते हैं । यथा—

१— चहचहीं चुभकें चुभी हैं चौक चुंबन की,
लहलही लांबी लटें लपटें सुलंक पर ।
कहै 'पदमाकर' मजानि मरगजी मंजु,
मसकी सु आंगी है उरोजन के अंक पर ।
सोई सरसार यों सुगंधनि समोई, स्वेद
सीतल सलोने लोने वदन मयंक पर ।
किन्नरी नरी है कै छरी है छविदार परी,
टूटि सी परी है कै परी है परजंक पर ॥

—पदमाकर (जगद्विनोद)

२— परे कब नहीं कूप में अपनो रूप बिसारि ।
कब बरबस खोये नहीं सोये पाँव पसारि ॥

—हरिऔध

(२२) अपस्मार—वियोग, शोक, वेदना, आघात, भय, जुगुप्सा, भूतावेश आदि के कारण उत्पन्न एक व्याधि को अपस्मार (मृगी रोग) कहते हैं । गिर पड़ना, कँपकँपी आना, मुँह से झाग निकलना आदि इसके अनुभाव होते हैं । यथा—

१— जा छिन ते सुनि साँवरे रावरे लागे कटाच्छ कछू अनियारे ।
त्यो पदमाकर ता छिन ते, तिय सों अंग-अंग न जात सँभारे ॥
हैं हिम हायल घायल सी धन घूमि गिरी परी प्रेम तिहारे ।
नैन गये फिरि फेन बहें मुख चैन रह्यो नहि मैन के मारे ॥

—पदमाकर (जगद्विनोद)

२— कै दुख-बस महि परि कँपति फेन तजति अकुलाति ।
कै मिरगी मुँह में परी है मृगदृगी दिखाति ॥

—हरिऔध

(२३) स्वप्न—निद्रानिमग्न व्यक्ति के विषयानुभव का नाम स्वप्न है । कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख, दुख आदि इसके अनुभाव होते हैं । यथा—

१— श्रद्धा काँप उठी सपने में सहसा उसकी आँख खुली,
यह क्या देखा मैंने ? कैसे वह इतना हो गया छली ?

स्वजनस्नेह में भय की कितनी आशंकाये उठ आतीं,
अब क्या होगा इसी सोच में ध्याकुल रजनी बीत चली ।
श्रद्धा का था स्वप्न किन्तु वह सत्य बना था,
इड़ा संकुचित उधर प्रजा में क्षोभ घना था ।

—प्रसाद (कामायनी)

२- पौढ़ी हुती पालिका पर में निसि ज्ञान रु ध्यान पिया मन साये ।
लागि गईं पलकें पलसों पल लागत ही पल में पिय आये ।
ज्यों ही उठी उनके मिलिवे कहूँ जाग परी पिय पास न पाये ।
‘मीरन’ और तो सोइ कै खोवत में सखि पीतम जागि गवाये ॥

(२४) विबोध—अविद्या या अज्ञान नाश अथवा निद्रा दूर होने के बाद चैतन्यलाभ होना विबोध है । जम्हाई, अँगड़ाई, मुख पर आलोक, शान्ति आदि इसके अनुभाव होते हैं । यथा—

१- कुंज भवन तजि भवन को चलिये नंदकिशोर ।
फूलति कली गुलाब की चटकाहट चहुँ ओर ॥

—बिहारी

यहाँ गुलाब की कली चटकने से नवोद्भा के जागरण की सूचना दी गई है ।

२- वीर जन वीरता वसुन्धरा विबोधिनी है,
साहसी ही साहस दिखाइ होत आगे है ।
सबल के साथ में सरोवर पयोनिधि है,
सावधान सामने धरनि धुरे धागे है ।
‘हरिऔध’ सारी सिद्धि तिनकी सहोदरा है,
सिद्धि साधना में सच्ची साधना के पागे है ।
भाग जागे भूमें कौन भोग भोग पाये नहीं,
जाग गये जग में न काके भाग जागे है ॥

—हरिऔध (रसकलस)

३- अधखुली कंचुकी उरोज अध आधे खुले,
अधखुले बैस नख रेखन की झलकें ।
कहै ‘पदमाकर’ नवीन अध नीवी खुली,
अधखुले छहरि छराके छोर छलकें ।
भोर जगि प्यारी अध ऊरध इतैं की ओर,
झाँखी झिखि झिरकि उघारि अध पलकें ।
आँखें अधखुली अधखुली खिरकी हैं खुली,
अधखुले आनन पं अधखुली अलकें ॥

—पदमाकर (जगद्विनोद)

(२५) अमर्ष-निन्दा, अपमान, आक्षेप, मानहानि के कारण उत्पन्न चित्त की चिढ़ या असहिष्णुता ही अमर्ष है। नेत्रों का लाल होना, भ्रू-भंग, गर्जन-तर्जन, शिर-कम्प, सन्ताप, प्रतिकार के उपाय आदि इसके अनुभाव होते हैं। क्रोध की कोमलावस्था (पूर्वावस्था) अमर्ष तथा उत्कट अवस्था क्रोध है। यथा—

१— गरब सुअंजन ही बिना कंजन को हरि लेत ।

खंजन मद भंजन अरथ अंजन अँखियन देत ॥

—पदमाकर

यहाँ कंजन और खंजन पर अमर्ष है क्योंकि वे कमल के सौन्दर्य और काजल डालने पर खंजन का मान मर्दन करना चाहते हैं ।

२—खुले केस रजस्वला सभा बीच दुःसासन,

लायो सो पुकार रही सारे सभाचारी कौं ।

आदि आयो हार्यो किधौं आदि मोको हार्यो नृप,

करन बिगारी बात विकरन सुधारी कौं ।

भीम कहै ऐंच्यो चीर तेई भुज ऐंच जेहै,

दिखावै हें जंघा सो विखै हौं तोरि डारी कौं ।

द्रुपद दुलारी ! खुली लटै कर दँहौं सारी,

एक नृप नारी ना अनेक नृप नारी कौं ॥

यहाँ चीर हरण पर भीम का अमर्ष दिखाया गया है ।

(२६) अवहित्था—भय, गौरव, लज्जा आदि से उत्पन्न हर्षादि के भावों को चतुरता से छिपाना ही अवहित्था है। मुख नीचा कर लेना, अन्य दिशा की ओर देखने लगना, बातचीत को पलट देना, किसी बहाने से दूसरे कार्य में संलग्न हो जाना इसके अनुभाव हैं। यथा—

१— चढ़त घाट बिचल्यौ सु पग भरी आय इन अंक ।

ताहि कहा तुम तकि रह्यौ या में कौन कलंक ॥

—बिहारी

२— निरखत ही हरि हरषि कै रहे सु आँसू छाय ।

बूझत अलि केवल कह्यो लाग्यो धूमहि धाय ॥

—पदमाकर

३— भोर जगी जमुना जल धार में धाड़ धँसी जल केलि की माती ।

त्यों 'पदमाकर' पैग चलै उछले जब तंग तरंग विघाती ।

टूटे हरा छरा छूटै सब सरबोर भई अँगिया रँगराती ।

को कहतौ यह मेरी दसा गहतो न गोबिंद तो में बहि जाती ॥

—पदमाकर (जगद्विनोद)

(२७) उग्रता-अपमान, दूषित व्यवहार, वीरता आदि से उत्पन्न होने वाली निर्दयता ही उग्रता है। घुड़कना, डाँटना, भर्त्सना, बध आदि इसके अनुभाव होते हैं। अमर्ष व उग्रता में यह अन्तर होता है कि अमर्ष में निर्दयता रूप नहीं होता किन्तु उग्रता में होता है। यथा -

१- और इड़ा पर यह क्या अत्याचार किया है ?

इसीलिए तू हम सबके बल यहाँ जिया है ?

आज वंदिनी मेरी रानी इड़ा यहाँ है ?

ओ यायावर ! अब तेरा निस्तार कहाँ है ?

—प्रसाद (कामायनी)

२- मातु पितहि जिन सोचबस करसि महीर किसोर,
गरभन के अरभक दलन परसु मोर अति घोर ।

—तुलसी (मानस)

३- सिन्धु के सपूत सुत सिंधु तनया के बंधु,
मन्दिर अमंद सुभ सुन्दर सुधार्ई के ।
कहैं 'पदमाकर' गिरीस के बसे हौ सीस,
तारन के ईस कुल कारन कन्हार्ई के ।
हाल ही के विरह विचारी यजलाल ही पै,
ज्वाल से जगावत जुआल-सी जुन्हार्ई के ।
ए रे मतिमंद चंद आवति न तोहि लाज,
ह्वं के द्विजपाल काज करत कसार्ई के ।

—पदमाकर (जगद्विनोद)

(२८) मति—तर्क एवं शास्त्रादि के विचार से किसी तथ्य का निर्णय कर लेना ही मति है। सन्तोष- आत्मनृप्ति, ढाढ़स बँधना आदि इसके अनुभाव होते हैं।

१- अपनहि नागर अपनहि दूत । से अभिसार न जान बहूत ।
की फल तेसर कान जनाय । आनब नागर नथन बझाय ।

—विद्यापति

२- बादहि बाद बदी के बकं मति बोरि ठं बंज विषं बिष ही को ।
मानि लै या पदमाकर की कही जो हित चाहति आपने जी को ।
संभु के जीव की जीवन मूरि सदा सुखदायक है सब ही को ।
रामहि राम कहै रसना कस ना तु भजै रसनाम सही को ।

—पदमाकर (जगद्विनोद)

(२९) व्याधि—रोग, वियोग आदि से उत्पन्न मन में सन्ताप को व्याधि कहते हैं। प्रस्वेद, कम्प, ताप, लेटे रहना आदि इसके अनुभाव हैं।

- १- औंधाई शीशी सुलखि बिरह जरी बिललात ।
बीचहि सुखि गुलाब गो छोटो छुओ न जात ॥

—विहारी

गुलाबजल का बीच में ही सूख जाना नायिका की व्याधि का सूचक है ।

- २- दूर ही ते देखत विथा में वा वियोगिनि की ,
आई भले भाजि ह्यां इलाज मढ़ि आवैगी ।
कहै 'पदमाकर' सुनो हो घनश्याम, जाहि
चेतन कहूँ जो एक आह कढ़ि आवैगी ।
सर-सरितान को न सूखत लगैगी देर ,
ऐतो कछु जुलमिनि ज्वाला बढ़ि आवैगी ।
ता के तन-ताप की कहौं मैं कहा बात मेरे,
गातहिं छुऔं तौ तुम्हें ताप चढ़ि आवैगी ।

—पदमाकर (जगद्विनोद)

- ३- सुनि-सुनि ऊधव की अकह कहानी कान
कोऊ थहरानी कोऊ थानहि थिरानी हैं ।
कहै 'रत्नाकर' रिसानी, बररानी कोऊ
कोऊ बिलखानी, बिकलानी, बिथकानी हैं ।
कोऊ सेद सानी, कोऊ भरि दृग पानी रहीं
कोऊ घूमि-घूमि परीं भूमि मुरझानी हैं ।
कोऊ स्याम-स्याम कै बहकि बिललानी कोऊ
कोमल करेजौ थामि सहमि सुखानी हैं ।

—रत्नाकर(उद्धवशतक)

(३०) उन्माद-भय, शोक, त्रास, काम आदि से चित्त का भ्रमित होना ही उन्माद है । अकारण हँसना, रोना, गाना, विचारशून्य शब्दों का उच्चारण आदि ही इसके अनुभाव होते हैं । यथा—

- १-लछमन समझाये बहु भाँती । पूछत चले लता तरु पाँती ।
हे खग ! मृग ! हे मधुकर ! सैनी । तुम देखी सीता मृगनंती ॥

—तुलसी(मानस)

- २-आपहि आप पै रूसि रही कबहूँ पुनि आपुहि आप मनावै ।
त्यों 'पदमाकर' ताल तमालनि भेंटिबे को कबहूँ उठि धावै ।
जौ हरि रावरो चित्र लखे तौ कहूँ कबहूँ हँसि हेरि बुलावै ।
व्याकुल बाल सुआलनि सौ कह्यो चाहै कछू तौ कछू कहि आवै ॥

—पदमाकर (जगद्विनोद)

३-नाहिन नंद को मन्दिर ये वृषभानु को भोन कहा जकती हो ।
 हौं ही अकेली तुही कवि देव जू घूँघट कै किहि कौं तकती हो ।
 भेंटती मोहि भटू किहि कारन कौन सी धौं छवि सौं छकती हो ।
 काह भयो है, कहा कहौ, कैसी हो कान्ह कहाँ है, कहा बकती हो ।

—देव

(३१) त्रास—प्रबल विरोध, भयानक वस्तु के दर्शन, बिजली की कड़क
 उल्कापान आदि प्राकृतिक उत्पात के कारण चित का व्यग्र होना त्रास संचारी
 है । देहकम्प, चीखना, चिल्लाना, पसीना आना आदि इसके अनुभाव हैं । यथा—

१-सखि परबोधि सयन तल आनी ।

पिय हिय हरख धयल निज पानी ।

छुड़ते राइ मलिन भै गेली ।

विधु करे कुमुदिनी मलिन भेली ॥

—विद्यापति

२-श्री वृषभानु लली मिलि कै जमुना जल केलि को हेलिनि आनी ।
 रोमवली नवली कहि 'देव' सु सोने से गात अन्हात सुहानी ।
 कान्ह अचानक बोलि उठे उर बाल के ध्यालबधू लपटानी ।
 धाय के धाय गही सँसवाय दुहू कर झारत अंग अयानी ॥

—देव

३-उतरि पलंग तें न दियो है धरा पै पग ,
 तेऊ सगबग निसिदिन चली जाती है ।
 अति अकुलातीं मुरझातीं न छिपातीं गात ,
 बात न सोहातीं बोले अति अनखाती है ।
 भूषन भनत सिंह साहि के सपूत सिवा ,
 तेरी धाक सुने अरि नारी बिललाती है ।
 जोन्ह में न जातीं ते वै धूपें चली जातीं ,
 पुनि तीन बेर खातीं ते वै तीन बेर खातीं है ॥

(३२) वितर्क—संदेह के कारण हृदय में उत्पन्न ऊहापोह या तर्क ही
 वितर्क संचारी है । झू चलना, शिर कम्प, ऊँगली उठाना आदि इसके अनु-
 भाव होते हैं । यथा—

१-कंधों मोर सोर तजि गए री अनत भाजि ।

कंधों उत दादुर न बोलत हैं ए दई ।

कंधों पिक् छातक महीप काहू मारि डारे ,

कंधों बग पाँति उत अंत गति ह्वै गई ।

‘आलम’ कहै हो प्यारी अजहूँ न आए प्यारे,
 कंधों उत रीति विपरीत विधि ने ठई ।
 मदन महीप की दुहाई फिरिबे ते रही,
 जूझि गये मेघ कंधों बीजुरी सती भई ।
 २-कज्जल के कूट पर दीपशिखा सोती है कि,
 श्याम घन मंडल में दामिनी की धारा है ।
 यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि,
 राहु के कबन्ध पं कराल केतु तारा है ।
 ‘शंकर’ कसौटी पर कंचन की लीक है कि,
 तेज ने तिमिर के हिए में तीर मारा है ।
 काली पाटियों के बीच मोहिनी की मांग है कि,
 ढाल पर खाँड़ा कामदेव का दुधारा है ।

—नाथूराम ‘शंकर’ शर्मा

(३३) मरण—मृत्यु के समान कष्ट की अनुभूति ही मरण है । मरण का वर्णन ऐसे ढंग से किया जाना चाहिए कि जिससे शोक की उत्पत्ति न हो ।
 यथा—

१—राधिकै बाढ़ी वियोग की बाधा, सुदेव अडोल अबोल डरी रही ।
 लोगनि की वृषभान के भौन में भीर ते भारी यँ भीर भरी रही ।
 वाके निदान कै प्रान रहे कढ़ि औषधि भूरि करोरि करी रही ।
 चेति मरू करि कै चितयो जब चारि घरी लौं मरी सी परी रही ।
 —देव

२—जानकी कौ सुनि आरत-नाद सु जानि दसानन की छलहाई ।
 त्यों पदमाकर नीच निसाचर आइ अकास में आइयो तहाँई ।
 रावन ऐसे महारिपु सों अति जुद्ध कियो अपने बल ताई ।
 सोहत श्री रघुराज के काज पँ जीव तजै तौ जटायु की नाई ।

—पदमाकर (जगद्विनोद)

मन के विकार होने के कारण भावों का सबसे स्वाभाविक और अनिवार्य सम्बन्ध है । कहा भी है—‘विकारो मानसो भावः’ । यह ध्यान में रखने का विषय है कि अपने सारे उपकरण लेकर भी संचारी स्थायी भाव की बराबरी नहीं कर सकता । रति आदि स्थायी भाव जब रस की अवस्था को नहीं पहुँचते तब उन्हें भाव मात्र ही कहा जाता है । जब स्थायी भाव अन्य रसों में प्रवेश करते हैं तो संचारी बन जाते हैं । अपने आधार भूत रस में इनकी जो आस्वाद्य योग्यता रहती है वह रसान्तर में पहुँचने पर नहीं वर्तमान रहने पाती । स्थायी भावों के सहायक होकर न आने पर संचारी भाव स्वतंत्र रूप से अभिव्यक्त

होते हैं और उन्हें भाव संज्ञा प्राप्त होती है । तैंतीसों संचारी भाव सभी रसों में उदित और अस्त होते रहते हैं । इन तैंतीस मनोवृत्तियों या चित्त-वृत्तियों के अतिरिक्त भी जो अनेक भाव शेष हैं वे प्रायः इन्हीं में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं ।

स्थायी भाव

आचार्य भरत का कथन सर्वोपरि है कि कवि के अन्तर्गत भाव की भावना करने से भाव की संज्ञा है ।^१ स्थायी और अस्थायी (संचारी) दोनों प्रकार के भावों में स्थायी भाव की प्रधानता है । रस की अवस्था तक स्थायी भाव ही पहुँच सकते हैं दूसरे भाव नहीं । कोई भी अस्थायी-भाव, विभाव, अनुभाव, और संचारियों से पुष्ट होकर भी स्थायी भाव के समान रस की अनुभूति नहीं करा सकता । इसका कारण यह है कि प्रधानता संचारी की ही मानी जावेगी जिसका स्थायित्व ही कभी नहीं हो पाता ।

चित्त में उद्बुद्ध होनेवाले नाना प्रकार के वृत्तियों रूपी भावों में से जो अधिक व्यापक विस्तृत और अधिक देर तक ठहरनेवाले हैं उन्हें पृथक् करके स्थायी भाव नाम से विभूषित किया गया है । आस्वाद के मूल होने एवं बहुलता से प्रतीत होने के कारण ही ये स्थायी भाव कहे गये हैं । रति आदि ऐसे ही स्थायी भाव हैं । इन स्थायी भावों की यह विशेषता है कि अन्य भाव इसे मिटा नहीं सकते वरन् विरुद्ध होने पर भी इन्हीं के द्वारा आत्मसात कर लिए जाते हैं । स्थायी भाव मूल-भूत एवं सहजात होते हैं । अस्तु हम कह सकते हैं कि वासनात्मक होकर जो भाव मन में चिर समय तक स्थिर रूप में रहता है वही स्थायी भाव है । अपने में अन्य भावों को लीन कर लेने वाला, सजातीय और विजातीय भावों से नष्ट न होने वाला, आस्वाद का मूलाधार बन कर स्थित रहनेवाला तथा विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा पुष्ट होकर रस विशेष में परिणत होनेवाला स्थायी भाव ही होता है ।

उपर्युक्त चारो गुण केवल नौ भावों में ही पाये जाते हैं जो स्थायी भाव के भेद हैं । निम्न विवेचन उन्हें स्पष्ट कर देगा—

१ रति

अनुकूल विषय की ओर मन का अनुराग रति कहलाता है ।

सहायक सामग्री से परिपुष्ट होकर व्यजित होनेवाले स्थायी भाव की रस में परिणति हो जाती है । जैसे वीर रस में उत्साह स्थायी भाव होता है और शृंगार में रति । जहाँ परिपोषक सामग्री का अभाव होता है वहाँ स्थायी भाव ही स्वतंत्र रूप से ध्वनित होता है । यथा—

१. कवेरन्तर्गतं भावं भावयन भाव उच्यते । नाट्यशास्त्र ।

१-एक झिटका सा लगा सहर्ष

निरखने लगे लुटे से, कौन-

गा रहा यह सुन्दर संगीत ?

कतूहल रह न सका फिर मौन ।

यहाँ श्रद्धा के मधुमय गुंजार करनेवाले शब्दों ने मनु के मन को लूट कर रति भाव परिपुष्ट कर दिया ।

२-हीरामन जो कँवल बखाना । सुनि राजा होइ भँवर भुलाना ॥

इसमें हीरामन सुए द्वारा पद्मावती रूपी कमलिनी के रूप का वर्णन करने पर राजा के मन का भ्रमर रूप में उसमें भूलना रतिभाव का व्यञ्जक है ।

२ हास

सहृदय के मन को विकृत वाणी, कार्य और रूप-विन्यास से जो हर्ष उत्पन्न होता है, वही हास है । यथा-

१-अति उदार करतूतिदार सब अवधपुरी की बामा ।

खीर खाय पैदा सुत करतीं पति कर कछु नहिं कामा ।

सखी बचन सुनतै रघुनंदन बोले मृदु मुसकाते -

आपन चलन छिपावहु प्यारी कहहु आन की बातें ।

कोऊ नहिं जन्मै मात-पिता बिन बँधी वेद की नीती ।

तुम्हरे तौ महि ते सब उपजैं अस हमरे नहिं रीती ॥

इस विनोद में स्थायी भाव हास्य की ही व्यञ्जना है ।

२- टूट चाप नहिं जुटहि रिसाने । बँठिय होइहि पाँय पिराने ॥

जो अति प्रिय तो करिय उपाई । जोरिय कोउ बड़ गुनी बोलाई ।

इसमें भी हास्य की परिपूर्णता न होकर व्यञ्जना मात्र है ।

३ शोक

इष्ट पदार्थों एवं वैभव के विनाश आदि कारणों से उद्भूत चित्त की व्याकुलता ही शोक है । (प्रेमी और प्रेमिका की जीवितावस्था में परस्पर वियोग जनित वातावरण में चित्त की व्याकुलता में स्थायी भाव शोक की स्थिति नहीं समझनी चाहिए, वहाँ पर शोक वियोग-शृंगार का संचारी भाव हो जाता है) यथा—

१- भौरन को लँकै दच्छिन समीर धीर,

डोलति है मंद अब तुम धौं कितै रहे ।

कहै कवि 'श्रीपति' हो प्रबल बसन्त मति-

मंत मेरे कंत के सहायक जितै रहे ।

लागत विरह-जुर जोर तै पवन ह्वैकै,
 परे घूमि भूमि पै सम्हारत नितै रहे ।
 रति को विलाप देखि करुना अगर कछु—
 लोचन को मूँदैं कै त्रिलोचन चितै रहे ॥

इसमें 'कछु' शब्द शोक भाव का द्योतक है और करुण रस का परिपाक नहीं होने पाता ।

२— कहा मनु ने, “नभ धरणी बीच,
 बना जीवन रहस्य निरुपाय ।
 एक उल्का सा जलता भ्रान्त,
 शून्य में फिरता हूँ असहाय ।”

इसमें मनु की असहायता और विवशता शोक भाव की व्यंजना करती है ।

४ क्रोध

असाधारण अपराध (जैसे गुरु एवं बंधुजनों का वध आदि) । कलह, विवाद और उत्तेजना पूर्ण अपमान आदि से प्रभूत मनोविकार क्रोध कहलाता है । (जहाँ पर साधारण अपराध के फलस्वरूप क्रूर वाक्यों का प्रयोग होता है वहाँ संचारी भाव 'अमर्ष' होता है ।) यथा—

१— बोले चित्तय परशु की ओरा । रे शठ सुनेसि प्रभाव न मोरा ॥
 भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्हों । विपुल बार महि देवन्ह दीन्हों ॥
 सहसबाहु भुज छेदन हारा । परशु बिलोकि महीप कुमारा ॥
 —तुलसी (मानस)

यहाँ पर क्रोध की ही अभिव्यक्ति है रौद्र रस की पुष्टि नहीं होती ।

२— सुनि अस लिखा उठा जरि राजा । जानहुँ देव तड़पि घन गाजा ॥
 का मोहि सिंघ देखावसि आई । कहौं तौ सारदूल धरि खाई ॥
 बादशाह अलाउद्दीन का पत्र मिलने पर राजा रत्नसेन के क्रोध की व्यंजना यहाँ दिखाई गई है ।

५ उत्साह

धैर्य और शौर्य के कारण किसी कार्य के करने के लिए उत्पन्न आवेश को उत्साह कहते हैं । यथा—

१— इत कपि रीछ उत राछसनहीं की चमू,
 डंका देत बंका गढ़ लंका ते कढ़ें लगी ।
 कहै पदमाकर उमंड जग ही के हित,
 चित्त में कछूक चोप चाप की चढ़ें लगी ।

बानन के बाहिबे को कर में कमान कसि,
धाई धूरधान आसमान में मढ़ें लगी ।
देखतें बनी है बुहँ बल की चढ़ाचढ़ी में,
राम दृग हू पै नेक लाली जो चढ़ें लगी ॥
इसमें उत्साह की व्यंजना है वीर रस का परिपाक नहीं ।

६ भय

हिंसक जंतुओं के दर्शन, किसी बलवान का अपराध या विरोध करने पर उत्पन्न मन की व्याकुलता भय है । यथा—

१— तीनि पैग पुहुमी दई, प्रथमहि परम पुनीत ।
बहुरि बढत लख बामनहि, भे बलि कछुक सभीत ॥
'कुछुक सभीत' के कारण भय की व्यंजना है और भयानक रस का परिपाक नहीं हो पाया है ।

२— काली हूद काली लख्यो बनमाली ढिंग आतु ।
मंद मंद गति भीत ज्यों चलन लग्यो विकलात ॥
यहाँ भी 'भीत ज्यों' कहने से भय मात्र ही व्यंजित होता है ।

३— चितैं चितैं चारों ओर चोंकि चोंकि परं, त्योही
जहाँ-तहाँ जब-तब खटकत पात हैं ।
भाजन सो चाहत, गँवार ग्वालनी के कछू,
डरनि डराने से उठाने रोम गात हैं ।
कहँ 'पदमाकर' सु देखि दसा मोहन की,
सेष हु महेस हु सुरेस हु सिहात हैं ।
एक पाय भीत एक पाय भीत काँधे धरे,
एक हाथ छींको एक हाथ दधि खात है ।

इस छन्द में भी भयानक रस की परिपुष्टि नहीं है, केवल भय की व्यंजना हुई है ।

७ जुगुप्सा या ग्लानि

घृणात्मक वस्तु या दृश्य को देखने आदि से घृणा की उत्पत्ति जुगुप्सा कहलाती है । यथा—

१— सूपनखा को रूप लखि स्रवत रुधिर विकराल ।
तिय सुभाय सिय हटि कछुक मुख फेर्यो तिहि काल ॥
यहाँ 'कछुक मुख फेरयो' में जुगुप्सा भाव व्यंजित है । इसमें वीभत्स रस का परिपाक नहीं हुआ है ।

२- आवत गलानि जो बखान करौ ज्यादा यह ,
 मादा मल मूत और मज्जा की सलीती है ।
 कहै 'पदमाकर' जरा तौ जागि भीजी तब ,
 छोजी दिन रैन जैसे रेनु ही की भीती है ।
 सीतापति राम के सनेह-बस बीती जो पै ,
 तौ तो दिव्य देह जम-जातना में जीती है ।
 रोती राम नाम ते रही जो बिन काम तौ, या
 खारिज खराब हाल खाल की खलीती है ।

यहाँ शरीर को 'मादा मल मूत और मज्जा की सलीती' तथा 'खाल की खलीती' कहकर ग्लानि व्यंजित की गई है और बीभत्स रस का परिपाक नहीं हुआ है ।

८ आश्चर्य (विस्मय)

अलौकिक वस्तु के देखने, सुनने या स्मरण करने से उत्पन्न मनोविकार आश्चर्य कहलाता है । यथा—

१- तब देखी मुद्रिका मनोहर । राम नाम अंकित अति सुन्दर ॥
 चकित चितै मुद्रिक पहचानी । हर्ष विषाद हृदय अकुलानी ॥
 इसमें आश्चर्य स्थायी भाव मात्र है । अद्भुत रस की पुष्टि नहीं हो पाई है ।
 २- देखत क्यों न अपूरब इंदु में ह्वै अरविद रहे गहि लाली ।
 त्यों 'पदमाकर' कीर बधू इक मोती चुगै मनौ ह्वै मतवाली ।
 ऊपर ते तम छाड़ रह्यो रवि की दबि तैं न दबैं खुलि ख्याली ।
 यों सुनि बैन सखी के विचित्र भये चित चकित से बनमाली ।
 यहाँ बनमाली का चकित रह जाना विस्मय भाव का व्यंजक मात्र है ।
 अद्भुत रस का परिपाक नहीं होने पाया है ।

३- सुर नर सब सचकित रहे पारथ कौ रन देखि ।

पै न गिन्यो जडुनाथ अति करन पराक्रम पेखि ।

इसमें 'पै न गिन्यो' के कारण अर्जुन का रण कौशल विस्मय की व्यंजना करके रह गया और अद्भुत रस का परिपाक नहीं हो पाया है ।

९ निर्वेद अथवा शम

नित्य और अनित्य वस्तु के तत्त्वज्ञान से सांसारिक विषयों में विराग की उत्पत्ति शम या निर्वेद कहलाती है । यथा—

१- काम से रूप, प्रताप दिनेस ते, सोम से सील गनेश से माने ।

हरिचंद से साँचे बड़े विधि से मघवा से महीप विषं सुख साने ।

शुक से मुनि शारद से बकता चिर जीवन लोमस ते अधिकाने ।

ऐसे भये तौ कहा 'तुलसी' जु पं राजिव लोचन राम न जाने ।

सब कुछ होने पर भी मानव-जीवन राम के भजन के बिना तुच्छ है, इस उक्ति में निर्वेद भाव की व्यंजना है ।

२- 'पदमाकर' हों निज कथा, का सों कहों वखान ।

जाहि लखौ ताहै परी, अपनी-अपनी आन ॥

सब अपने स्वार्थ निरत हैं, कोई भी दूसरे की मुनने वाला नहीं है, यही भावना निर्वेद की व्यंजक है परन्तु इसमें शान्त रस का परिपाक नहीं हो पाया है ।

जहाँ पर इष्ट के वियोगादि से निर्वेद की उत्पत्ति होती है, वहाँ केवल संचारी होता है ।

हिन्दी के कतिपय विद्वानों ने वात्सल्य और भक्ति को पृथक् स्थायी भाव की संज्ञा दी है । संस्कृत के आचार्यों में कविराज विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में वात्सल्य की स्वतंत्र संज्ञा घोषित की है अन्यथा अन्य आचार्यों ने वात्सल्य और भक्ति को शृंगार के अन्तर्गत ही स्थान दिया है । यह बात नहीं है कि वात्सल्य और भक्ति सम्बन्धी रचनायें हिन्दी युग में ही हुई हैं, संस्कृत साहित्य में भी इनका विपुल भंडार है और यह सब देखते, मुनते तथा समझते हुए भी संस्कृत के आचार्यों ने संभवतः रस की कोटियों की संख्या बढ़ाना समीचीन नहीं समझा । जो भी रहा हो हिन्दी में विचारकों ने विशेषकर सूर और तुलसी द्वारा विरचित वात्सल्य भाव वाले पदों और कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा प्रभृति सन्तों के भक्तिपूर्ण उद्गारों से प्रभावित होकर वात्सल्य और भक्ति की स्वतंत्र सत्ता मनोनीत की है । अस्तु हमारा इन पर भी विचार कर लेना वांछित है ।

१० वात्सल्य या स्नेह

पुत्र-पुत्री और माता-पिता भाई-बहन आदि का परस्पर जो प्रेम होता है उसे वात्सल्य या स्नेह कहा जाता है । यथा—

१- मइया कर्बहि बढैगी चोटी,

इती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी ।

२- जो मिसरी मिछरी कहै कहै खीर सों छीर ।

नन्हों सो सुत नंद को हरै हमारी पीर ॥

इसमें नन्द के नन्हें नन्दन कहने से श्रोताओं में केवल वात्सल्य भाव जगता है ।

११ भक्ति

परमात्मा के प्रति प्रेम भक्ति के नाम से प्रसिद्ध है । संस्कृत के आचार्यों ने

भक्ति को भाव संज्ञा देकर शृंगार के अन्तर्गत ही मनोनीत किया है। यथा—

१— राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्वान ।

भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवण पुट पान ॥

यहाँ राम के चरणों में भक्ति करने की व्यंजना है ।

२— जो जन तुम्हारे पद-कमल के असल मधु को जानते ।

वे मुक्ति की भी कर अनिच्छा तुच्छ उसको मानते ॥

इसमें मुक्ति से भक्ति की श्रेष्ठता दिखाते हुए, भक्ति-भाव व्यंजित हुआ है । भक्ति रस का परिपाक नहीं होने पाया है ।

साधारणीकरण

भावना या भावकत्व का व्यापार भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण है । भाव-तादात्म्य पाठक या दर्शक की उस दशा का अभिव्यक्तीकरण है जिसमें कुछ समय के लिए वह व्यक्तिगत आत्मचेतनता खोकर किसी कहानी, उपन्यास, सिनेमा या नाटक के पात्र के साथ आत्मीयता स्थापित कर लेता है । यह आत्मविभोर करने वाली दशा भावकत्व व्यापार से बार-बार की विभावना (चिंतना या कल्पना) से उत्पन्न होती है । इसका परिणाम यह होता है कि स्थायी भाव एवं विभाव आदि साधारण रूप से अनुभूत होने लगते हैं अर्थात् किसी विशिष्ट व्यक्ति में उत्पन्न रति आदि स्थायी भाव व्यक्ति विशेष के न होकर सामान्य रूप धारण कर लेते हैं । सीताराम, राधाकृष्ण, पार्वतीमहेश्वर, शकुन्तला-दुष्यंत सामान्य दम्पति प्रतीत होते हैं और उनका प्रेम व्यक्तिगत सम्बन्ध त्याग कर सर्वसाधारण का हो जाता है । विभावादिकों का सामान्य रूप में परिवर्तित हो जाना ही साधारणीकरण है ।

शृंगार रस

शृंगार को आदि रस अथवा रसरज भी कहा जाता है । इसके अनेक कारण हैं । (१) मानव जीवन में शृंगार की प्रधानता ही नहीं अन्य रसों की अपेक्षा प्रमुखता भी है । प्रेम और युद्ध मानव-जीवन में इतने घुले-मिले और व्यापक हैं कि विश्व साहित्य में यदि इनका औसत निकाला जाय तो प्रेम सम्बन्धी रचनायें सर्वाधिक मात्रा में मिलेंगी और उसके उपरान्त गणना में आर्येणो वीरोन्मादी भावों से ओतप्रोत युद्ध-प्रेरक आत्मरक्षार्थ अथवा आक्रामक परस्वहर्ता पुष्ट स्थायी विचारधारायें । (२) शृंगार का क्षेत्र असीम है । बालक-युवा-वृद्ध, सभ्य-असभ्य, शिक्षित-अशिक्षित, साक्षर-निरक्षर सभी में यह व्याप्त है । जाति, वर्ग, धर्म, देश और वर्ण की संकीर्णता की परिधियों को मिटाकर यह सबको प्रभावित करता है । मनुष्येतर प्राणियों में भी रतिभाव की प्रबलता देखी जाती है ।

संयोग और विप्रलम्भ सदृश भेद जैसे शृंगार में हैं अन्य रसों में नहीं पाये जाते । भारतीय दर्शन के अनुसार 'एकोहं बहुस्यामि' अर्थात् ब्रह्माण्ड का यह सारा प्रसार उसी एक आदि सत्ता का प्रतीक है । फिर यह स्वाभाविक ही है कि बिछुड़े हुआओं में मिलन की तड़प है । इस शाश्वत मिलन की चिरंतन चाह के फलस्वरूप ही रति की भावना का उद्रेक होता है । वियोग से छटपटाकर मिलन की आतुरता इस पृष्ठभूमि में साधारणतः समझ ली जा सकती है ।

मानव मन को रतिभाव से उसी प्रकार का पोषण प्राप्त होता है जिस प्रकार विश्व को विष्णु से । इस रतिभाव के स्थायित्व ने जगत में किसी को परम साधक, उपासक और भक्त बना दिया, किसी को अथाह सागर की गहराई की माप करने के लिए प्रेरित किया, किसी को लावा फेंकते हुए ज्वालामुखी के अन्तराल का रहस्य लाने के लिए बढ़ावा दिया, किसी को पक्षियों की भाँति आकाश में उड़कर वायुयान का आविष्कार कराने का गौरव दिया तथा किसी को प्राणों के सौदे पर विविध विषों के स्वाद जानने के लिए प्रोत्साहित किया । रति-क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में शेष रसों के मूलाधार प्रेम ने कभी महात्मा दधीच को अपनी अस्थियाँ जीवितावस्था में ही वृत्रासुर दानव के संहार द्वारा विश्वत्राण हेतु देवराज को अर्पित कराई, किसी सत्यवादी हरिश्चन्द्र को अपने वचनों की पूर्ति हेतु राज-पाट देकर अपनी रानी और कुमार को बेंचकर श्मशान में डोम का कार्य कराया, किसी दानवीर कर्ण से दान करवा दिये, किसी मोरध्वज से अपने पुत्र के मस्तक पर आरा चलवा दिया, किसी शिवि को न्याय की तुला पर अपने शरीर का मांस काट-काट कर चढ़वा दिया, किसी राम की पग-पग पर जीवनाहुति दिलाकर उन्हें विश्व के समक्ष आदर्श रूप में उपस्थित किया और किसी कृष्ण द्वारा आततायी उत्पीड़कों का समूलोच्छेदन करके 'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे' का घोष कराया । प्रेम की इसी चिनगारी ने कभी बुद्ध को अपना शरीर मृग की रक्षार्थ व्याध के सामने रखकर, 'अंगुलिमाला' जैसे नर पिशाचों को सन्मार्ग दिखाकर तथा 'आम्रपाली वेश्या' को सद्धर्म-दीक्षित करके 'अहिंसा परमोधर्मः' की वैजयन्ती विश्व में फहरा दी, कभी मानवता की रक्षार्थ क्रास पर कीलों से जड़े हुए ईसु द्वारा अपने प्राण लेने वालों को क्षमा दान कराया और कभी हरा की कन्दरा में सोनेवाले मुहम्मद को बाँग देकर अन्धविश्वास और कुरीतियों में खोये हुए अरबवासियों को जगाने के लिए उठा दिया । रतिभाव ने कभी शीरी की प्राप्ति हेतु फरहाद द्वारा टाँकियों से पहाड़ खुदवाने का अभूतपूर्व साहस और दृढ़ता का परिचय विश्व को दिलाया और कभी लैली से मिलन-परिणय हेतु मजनू की वियोगी स्वर लहरियों से मरुभूमि के कण-कण को स्पंदित ही नहीं किया वरन् हिंसक जन्तुओं को भी अहिंसक बना दिया । यही कारण है कि

आचार्यों ने प्रत्येक भाव में कूटस्थ रति को लक्ष्य किया और शृंगार को रस-राज का सिंहासन प्रदान किया । निर्दिष्ट उत्सर्गों और अलौकिक कृत्यों ने स्वभावतः ही समय-समय पर भावुक हृदयों को प्रेरित करके साहित्य को प्रेम सम्बन्धी मौलिक उद्भावनाओं से आपूर कर दिया ।

शृंगार में लगभग समस्त संचारियों का प्रयोग होता है । यह सच है कि तैंतीस संचारियों में से मरण, जुगुप्सा और उग्रता का प्रयोग संभोग में नहीं किया जाता परन्तु विप्रलम्भ में उनका भी समावेश हो जाता है । अन्य रसों में से किसी में भी इतने संचारी प्रयुक्त नहीं होते । इसी से काव्यशास्त्र में यह रस महिमान्वित होकर रसराज की श्रेणी प्राप्त कर सका है ।

शृंगार रस की इसी महत्ता, व्यापकता तथा माधुर्य आदि गुणों को लक्ष्य करके ध्वन्यालोक में कहा गया है—

‘शृंगाररसो हि संसारिणां नियमेन अनुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः ।’

(अर्थात् संसारिकों को नियमतः शृंगार रस की अनुभूति होती है तथा अपनी-अपनी कमनीयता के कारण यह सब रसों में प्रधान है ।)

और महाराज भोज तो शृंगार को ही एक रस मानते हैं—

शृंगारवीर कृष्णाद्भुतरौद्रहास्य वीभत्स वत्सल भयानक शान्त नाम्नः ।

आम्नासिषुदर्श रसान्मुधियो वयं तु शृंगारमेव रसनाद्रसमाम नामः ॥

—शृंगारप्रकाश

कविवर देव का कथन है—

नव रसनि मुख्य सिंगार जहँ उपजत बिनसत सकल रस ।

उघों सूक्ष्म स्थूल कारन प्रगट होत महा कारन विवश ॥

और मतिराम भी कहते हैं—

जो बरनत तिय पुरुष को कवि कोविद रति भाव ।

तासों रीझत हैं सुकवि सो सिंगार रस राव ॥

शृंगार [= शृंग (= सींग) + आर (√/ऋ = गमन)] का अर्थ है सींगों का निकलना । पशुओं के सींगों का आगमन उनके यौवनकाल के प्रस्फुटन का द्योतक होता है । उसी प्रकार युवक-युवतियों में काम की वृद्धि की प्राप्ति होने पर तदनुकूल क्रियायें, प्रतिक्रियायें, चेष्टायें आदि शृंगार रस के अन्तर्गत आती हैं ।

प्रेमी-प्रेमिका के मन में संस्कार रूप से वर्तमान रति या प्रेम रस की अवस्था को प्राप्त होकर जब आस्वादनीय हो जाता है तब वह शृंगार रस कहलाता है ।

विभावादि

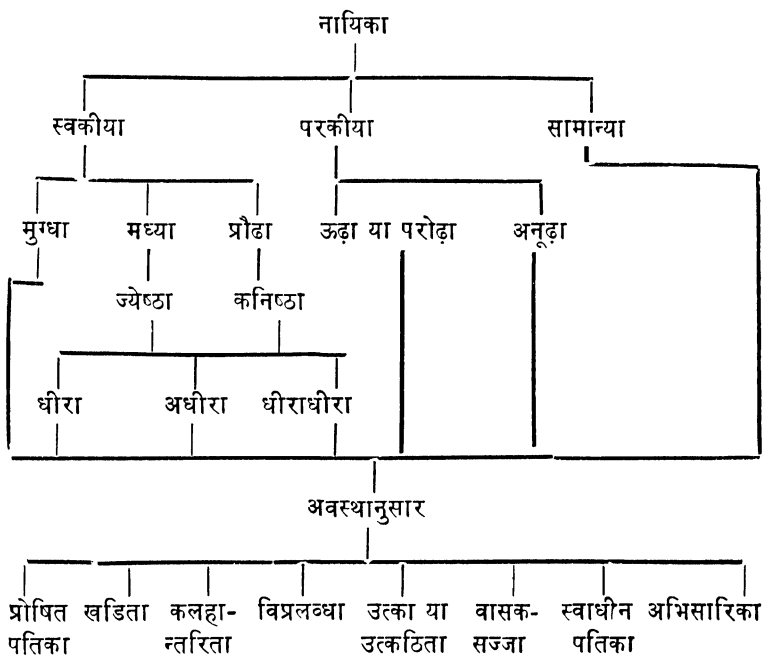
आलंबन—नायक और नायिका । इनके निम्न भेद हैं—

- १-पति ।
- २-उपपति—जो अन्य नायिका में अनुरक्त हो ।
- ३-वैशेषिक—व्यभिचारी ।

पति चार प्रकार के होते हैं—

- १-अनुकूल—अपनी पत्नी से प्रीति रखनेवाला ।
- २-दक्षिण—अनेक नायिकाओं से स्वभावतः समान अनुराग रखने वाला ।
- ३-धृष्ट—अपराध करने पर अत्यन्त तिरस्कृत होकर नायिका से विनय करनेवाला ।
- ४-शठ—अपराधी होने पर भी नायिका को ठगने में चतुर ।

नायिकाओं के निम्न प्रकार है—



इनको हम इस प्रकार समझ सकते हैं—

स्वकीया (पतिव्रता) तरह है । उनके भेद—

- १-मुग्धा—अंकुरित यौवना अर्थात् जिसमें यौवन अंकुरित हो रहा हो ।
- २-मध्या—जिसमें लज्जा और काम समान हो ।
- ३-ज्येष्ठा—जिस पर पति का अधिक प्रेम हो ।

धीरा—अन्यासक्त नायक पर परिहासपूर्वक वक्रोक्ति से क्रोध प्रकट करने वाली ।

अधीरा—अन्यासक्त नायक को कठोर वचन कहने वाली ।

धीराधीरा—अन्यासक्त नायक के सामने रोककर अपना क्रोध प्रकट करने वाली ।

३-कनिष्ठा—जिस पर पति का प्रेम कम हो । इसके तीन भेद धीरा, अधीरा और धीराधीरा के लक्षण ज्येष्ठा के भेदों के समान ही हैं ।

६-प्रौढ़ा—केलि-कलाप-प्रगल्भा अर्थात् रति-क्रीड़ा की क्रियाओं में विदग्ध ।

ज्येष्ठा—

धीरा—अन्यासक्त नायक का बाहर से आदर परन्तु भीतर से उदासीन ।

अधीरा—अन्यासक्त नायक की ताड़ना करने वाली ।

धीराधीरा—अन्यासक्त नायक को वक्रोक्ति द्वारा क्लेश पहुँचाने वाली ।

३-कनिष्ठा

इसके तीन भेद धीरा, अधीरा, धीराधीरा के लक्षण ज्येष्ठा के समान हैं ।

१-परकीया—गुप्त रूप से पर पुरुष से प्रेम रखने वाली ।

ऊढ़ा (या परोढ़ा)—अन्य पुरुष की विवाहिता ।

अनूढ़ा—अविवाहिता (जिसकी रति पिता भाई आदि के आश्रित होने से पराधीन होती है ।)

१-सामान्या-वेश्या ।

निर्दिष्ट सोलह प्रकार की नायिकायें अवस्था भेद के अनुरूप आठ प्रकार की होती हैं । यथा—

प्रोषितपतिका—जिसका पति प्रवासी हो ।

खंडिता—परस्त्री-संसर्ग के चिह्नों से नायक को चिह्नित देखकर ईर्ष्यालु ।

कलहान्तरिता—प्रार्थी नायक का अपमान करके पश्चात्तापपूर्ण ।

विप्रलब्धा—नियत स्थान पर नायक के न आने से अपमानिता ।

उत्का या उत्कंठिता—संकेत करने पर भी नायक के कारणवश न आने से चिंतित होने वाली ।

वासकसज्जा—नायक के आने का निश्चय होने पर शृंगार आदि से सुसज्जित होने वाली ।

स्वाधीनपतिका—जिसके गुणों से अनुरक्त होकर नायक आज्ञाकारी होता है ।

अभिसारिका—काम से आतुर होकर नायक के पास जाने वाली अथवा स्वयं उसे अपने पास बुलाने वाली ।

इन आठ के अतिरिक्त दो अवस्थायें और हैं—

प्रवत्स्यत्प्रेयसि (जिसका नायक परदेश जा रहा हो) और आगतपतिका

(नायक के प्रवास से आगमन पर हर्षित होने वाली)। परन्तु इन दोनों में विशेष भेद नहीं है ।

इस प्रकार नायिकाओं के १२८ भेद हुए । इनके भी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार तीन-तीन भेद और हैं—

उत्तमा—अन्यासक्त होने पर नायक की हितैषिणी ।

मध्यमा—नायक के हितकारी या अनहितकर्त्ता होने पर उसी के समान ।

अधमा—हित करने वाले नायक के लिए सदैव अहित करने वाली ।

निर्दिष्ट सोलह नायिकाओं—१३ स्वकीया, २ परकीया और १ सामान्या—के स्वभावानुसार और तीन भेद होते हैं—

अन्य संभोग दुःखिता—अपने नायक के साथ रमण करके आई हुई अन्य नायिका को देखकर दुःख करने वाली ।

वक्रोक्ति गर्विता—अपने रूप और नायक के प्रेम का गर्व रखने वाली ।

मानवती—अन्यासक्त नायक पर क्रोध करने वाली ।

मुग्धा के चार भेद और किये गये हैं—

ज्ञात यौवना—जिसे यौवन के आगमन का ज्ञान हो ।

अज्ञात यौवना—जिसे यौवनागम का ज्ञान न हो ।

नवोद्गा—लज्जा और भय ने जिसकी रति को पराधीन कर दिया हो ।

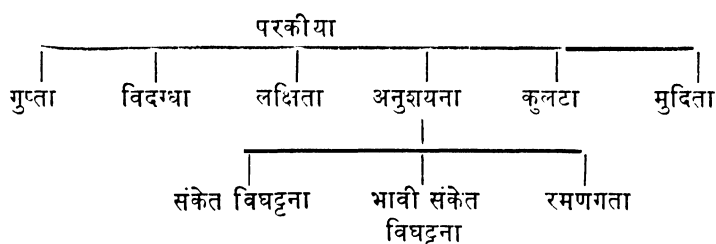
विश्रब्ध नवोद्गा—नायक पर जिसको कुछ विश्वास हो ।

क्रिया के अनुसार प्रौढा के दो भेद और होते हैं—

रतिप्रिया—संभोग में प्रीति रखने वाली ।

आनन्दसम्मोहिता—रति के आनन्द से सम्मोहित होने वाली ।

क्रिया के अनुसार परकीया के ६ भेद और किये गये हैं ।



गुप्ता—भूत, वर्तमान और भावी प्रेम-व्यापार को छिपाने वाली ।

विदग्धा—वचन और क्रिया की चतुराई से नायक को संकेत करनेवाली ।

लक्षिता—जिसका प्रीति व्यापार सखियों ने जान लिया हो ।

अनुशयना—१—संकेत विघट्टना—संकेत स्थान के नष्ट हो जाने से दुःखी ।

२—भावी संकेत विघट्टना—भावी संकेत स्थान हेतु चिंतित ।

३-रमणगता—किसी कारणवश संकेत स्थान पर न पहुँच सकने वाली ।

कुलटा—अनेक पुरुषों में आसक्त ।

मुदिता—मनचाही बातें मुनकर प्रसन्न होने वाली ।

उद्दीपन विभाव—

१-नायिका की सखी—इनके कार्य—मंडन, शिक्षा, उलाहना और परिहास आदि ।

२-नायक के सहायक सखा—

१-पीठमर्द—कुपित नायिका को प्रसन्न करने की चेष्टा करने वाला ।

२-विट—कामतंत्र की कला में निपुण ।

३-चेट—नायिका और नायक को मिलाने में दक्ष ।

४-विदूषक—अंगों की विकृत चेष्टाओं द्वारा हँसाने वाला ।

३-द्विती—इनके चार भेद हैं—उत्तमा, मध्यमा, अधमा और स्वयंद्वितिका ।

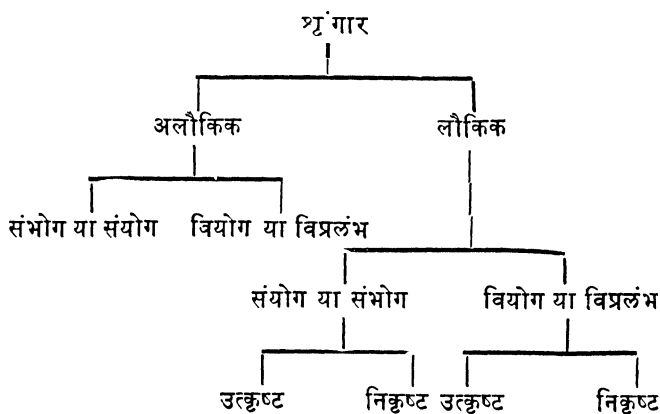
४-देशकाल आदि—षट्कृतु, वन, उपवन, नदीतट, सरोवर, कमनीय, लतामंडप, चन्द्र, ज्योत्स्ना, पुष्प, पराग, भ्रमर, कोकिल, पक्षियों का गुंजार व निनाद, मधुर गीत, काव्य, वाद्य संगीत आदि ।

अनुभाव—अनुरागपूर्ण परस्पर अवलोकन, प्रेमपूर्ण आलाप, भृकुटि-भंग, हस्त-संचालन, आलिंगन, रोमांच, स्वेद, कम्प आदि अनेक कायिक, वाचिक और मानसिक अनुभाव हैं ।

संचारी—मरण, उग्रता और जुगुप्सा को छोड़कर शेष तीनों संचारी प्रयोग में आते हैं ।

स्थायी भाव—रति

जब स्त्री और पुरुष परस्पर अपने को एकात्म भाव से ग्रहण करते हैं, तभी उनके प्रकाशित भावों का आस्वादन रति कहलाता है ।



अलौकिक शृंगार आत्मा-परमात्मा के प्रगाढ़ प्रेम-तत्त्वों को लौकिक दाम्पत्य के आदर्शों से जोड़ता है। हिन्दी में इसका प्राचीन रूप अपने को 'राम की बहुरिया' भी कहने वाले सन्तों की वाणियों में दृष्टव्य है। यथा—

आई गवनवाँ की सारी उमरि अबहि मोरि बारी ।

साज समाज पिया लै आये और कहरवा चारी ।

बन्हना नेदरदी अँचरा पकरि कै जोरत गँठिया हमारी ।

सखी सब गावत गारी ॥

यहाँ मृत्यु से मिलन परमात्मा से मिलन है अस्तु उमे गौने की विदा का रूप दिया गया है और स्वभावतः ही यह परम आनन्द का उत्सव बन गया है। इसे हम आध्यात्मिक संभोग शृंगार का उदाहरण भी कह सकते हैं।

जायमी ने अपने पदमावत में मिलन और विरह के बड़े सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं जिनमें लोक-पक्ष को लेकर वास्तव में अलौकिक पक्ष उद्घाटित हुआ है। देखिए—

नहिं पावस ओहि देसरा नहिं हेवन्त बसंत ।

ना कोकिल न पपीहरा जेहि सुनि आवाहि कंत ॥

वियोगिनी नागमती दुख में विदग्ध हैं। उनके प्रियतम राजा रत्नसेन परदेश में नहीं लौटे। वे कह बैठती हैं कि जिस देश में राजा है वहाँ वर्षा, हेमन्त और वसन्त ऋतुयें नहीं होतीं अन्यथा उन्हें देख-सुनकर कान्त आ जाते। सत्य ही है कि ब्रह्म के शून्य देश में ऋतुओं और पक्षियों का अभाव है। उस के पास तो आत्मा को ही प्रयास करके पहुँचना होगा।

आधुनिक छायावादी कवियों ने उस अलौकिक शृंगार को निम्न रूप दिया है—

कैसे कहते हो सपना है अलि, उस मूक मिलन की बात ।

भरे हुए अब तक फूलों में मेरे आँसू उनके हास ॥

—महादेवी

उत्कृष्ट और निकृष्ट शृंगार में इतना अन्तर समझ लेना चाहिए कि जहाँ पर आसक्ति या वासना की तीव्रता या प्रबलता हो वहाँ निकृष्ट शृंगार जान लिया जाय।

संभोग शृंगार

नायक-नायिका की संयोगावस्था में जो पारस्परिक रति रहती है वही संभोग शृंगार कहलाता है इसमें संयोग का अर्थ संभोग सुख की प्राप्ति होगा। यहाँ इतना यह भी ध्यान रखना चाहिए कि संयोग में वियोग और वियोग में

भी संयोग सम्भव है यथा मान की अवस्था में संयोग में वियोग है और स्वप्न समागम में वियोग में संयोग है ।

१—सुन्दरता पय पात्रक जावक पीक द्विगे नख-चन्द नए हैं ।
चन्दन चित्र सुधा विष अंजन, टूटि सबै मनहार गए हैं ।
केसव नैननि नींद मई मदिरा मद धूमत मोहमए हैं ।
केलि कै नागर नागरी प्रात उजागर सागर भेष भए हैं ।

—केशव

२—और एक फिर व्याकुल चुंबन रक्त खौलता जिससे,
शीतल प्राण धधक उठता है तृषा तृप्ति के मिस से ।
दो काठों की संधि बीच उम निभृत गुफा में अपने,
अग्निशिखा बुझ गई, जागने पर जैसे सुख सपने ।

संयोग शृंगार हम उगे कह सकने हैं जहाँ नायिका की संयोगावस्था में पारस्परिक रति तो है परन्तु संयोग-मुख सुवभ नहीं है । यथा—

एक पल येरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊार सहज नीचे गिरे ।
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानों प्रणय संबन्ध था ।

विप्रलम्भ शृंगार

नायक और नायिका का वियोग होने पर भी जहाँ पारस्परिक प्रेम बना रहे वहाँ विप्रलम्भ या वियोग शृंगार होता है । यथा—

जा महु दिण्णा दिअहडा दइएँ पयसंतेण ।
ताण गणन्तिएँ अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण ॥

अर्थात्—प्रवास काल में प्रियतम द्वारा दिए गये दिनों की गणना नखों से करते-करते प्रोषितपतिका की अंगुलियाँ जर्जरित हो गई ।

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्ड करीसु ।
पाणिउ नवइ सरावि जिबँ सव्वंगेँ पइसीसु ॥

अर्थात्—यदि किसी प्रकार मैं अपने प्रिय को पा जाऊँ तो अलौकिक कृत्य करूँगी । नये दीपक में जैसे जल प्रवेश करता है वैसे ही मैं भी उसके सर्वांगों में प्रवेश कर जाऊँगी ।

मैं पठई मति लेन सखी सु रही मिलि कै मिलिबे कहँ आनै ।
जाइ मिले दिन ही दृग-दूत दयाल सों देह दसा न बखानै ।
प्रेरत पैज किए तन प्राननि जोग के और प्रयोग निदानै ।
लाज तें बोलन पाऊँ न केसव ऐसैं ही कोऊ कहा दुख जानै ॥ —केशव

इसके चार भेद हैं—१ पूर्वराग, २ मान, ३ प्रवास और ४ करुण ।

१—पूर्वराग—

मोहि तजि मोहनै मिल्यो है मन मेरो दोरि,
नैन हू मिले हैं देखि-देखि साँवरो सरीर ।
कहे पद्माकर त्यों तानमय कान भये,
हौं तो रही जकि थकि भूली सी भ्रमी सी वीर ।
ये तो निरदयी दई उनको दया न दई,
ऐसी दशा भई मेरी कैसे धरौं तन धीर ।
होतो मन हू के मन नैन के नैन जो पै,
कानन के कान तो पै जानतो पराई पीर ॥

यहाँ मोहन आलंबन, साँवरे शरीर से मन का दौड़कर मिल जाना उद्दीपन है, भूलना भ्रम में पड़ना अनुभाव है तथा चिन्ता और विषाद संचारी हैं । श्याम शरीर के दृष्टिपथ में आने के कारण राधा की अन्तर्वेदना ही पूर्वानुराग है ।

दर्शन के चार भेद हैं—प्रत्यक्ष-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन और श्रवण-दर्शन । स्वप्न-दर्शन का एक उदाहरण लीजिए—

माई म्हाणो शुपणा मा परण्यां दीनानाथ ।

छप्पण कोट्यां जणा पधार्थां दूल्हो सिरी ब्रजनाथ ।
शुपणां मां तोरण बंध्या रो शुपणां मां गह्या हाथ ।
शुपणां मां म्हारो परण गया पायां अचड सुहाग ।
मीरां रो गिरधर मिड्या पुरब जमण रो भाग ॥

२—मान

रे मन आज परीक्षा तेरी ।

सब अपना सौभाग्य मनावें
दरस परस निःश्रेयस पावें ।
उद्धारक चाहें तो आवें,
यहीं रहे यह चिरी ।

—गुप्त जी

इसमें यशोधरा आलम्बन है, उद्धारक गौतम के प्रति यह भाव कि वे चाहें तो आवें उद्दीपन है, मन को समझाना और उद्बोधन अनुभाव है तथा इसमें गोपा का प्रणयमान है । मति, वितर्क और अमर्ष संचारी हैं ।

३—प्रवास-शाप, भय और कार्य—ये तीन प्रवास के कारण बताये गये हैं । भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीन भेद कार्यवश प्रवास के और किये गये हैं । देखिये—

ईर्ष्या से आर्त मनु का प्रवास—

लो चला आज मैं छोड़ यहीं, संचित संवेदन भार पूंज ।

मुझको काँटे ही मिलें धन्य, हों सफल तुम्हें ही कुसुम कुंज ।

कह, ज्वलनशील अन्तर लेकर मनु चले गये, था शून्य प्रांत ।

“रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही !” वह कहती रही अधीर श्रांत ।

तथा आगे के छन्द भी दृष्टव्य हैं ।

—प्रसाद (कामायनी)

इसमें प्रवास का वर्तमान से सम्बन्ध होने के कारण वर्तमान प्रवास है ।

करुण—

यहाँ करुण से विप्रलम्भ जनित करुण शृंगार समझना चाहिए । करुण रस में नायक-नायिका में किसी की मृत्यु-वश अथवा अन्य किसी कारण वश मिलन की समाप्ति हो जाती है और करुण विप्रलम्भ में मरणातक दशा पहुँच कर भी मृत्यु नहीं होती और भविष्य में मिलन की पूर्ण आशा रहती है । देखिये—

कालिय काल महा विष ज्वाल जहाँ जल ज्वाल जरै रजनी दिन ।

ऊरध के अध के उबरे नहि जाकी बयारि बरै तह ज्योतिन ।

ता फनि की फन फाँसिन मे फँदि जाय फँस्यो-उकसै न अजौ छिन ।

हा ब्रजनाथ सनाथ करौ हम होती है नाथ अनाथ तुम्हें बिनु ।

इस छन्द में गोपियों की उक्ति करुण विप्रलम्भ शृंगार की द्योतक है ।

वियोग में काम की दस दशायें होती हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और स्मृति । इनमें चिन्ता, स्मरण, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण संचारी से सादृश्य रखते हैं । शेष चार से दो के उदाहरण देखिये—

काम दशा मे अभिलाषा—

ऐसी मति होति अब ऐसी करौ आली,

बनमाली के सिंगार में सिंगारिबोई करिये ।

कहै पदमाकर समाज तजि काज तजि,

लाज को जहाज तजि डारिबोई करिये ।

घरी घरी पल-पल छिन-छिन रैन दिन,

नैनन की आरती उतारिबोई करिये ।

इन्दु तें अधिक अरबिंद तें अधिक, ऐसो,

आनन गोविन्द को निहारिबोई करिये ॥

२—काम दशा में गुण कथन—

चोरिन गोरिन में मिलिकै इतैं आई ही हाल गुवाल कहाँ की ।

को न विलोकि रह्यो पदमाकर वा तिय की अवलोकनि बाँकी ।

बीर अबीर की धूँधुरि में कछु फेर सो कै मुख फेरि कै झाँकी ।
कै गई काटि करेजन के कतरे-कतरे पतरे करिहाँ की ॥

श्लील और अश्लील

बहुधा शृंगार रस के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य में श्लील (प्रशंसनीय) और अश्लील का प्रश्न उठता रहता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो श्लील और अश्लील अपनी भावना पर अवलम्बित होता है। जैसे किसी सुन्दरी के शरीर को डाक्टर रोग के निदान हेतु, कलाकार उसके अगों-प्रत्यंगों में कलात्मक सौंदर्य गवेषणा हेतु और कामी अपनी काम-वासना-पूर्ति हेतु देखते हैं वैसे ही साहित्यिक रचनाओं के अध्ययन-अध्यापन में अपनी भावना ही प्रमुख होती है।

विद्यापति की शृंगारिक पदावली का गान करते हुये अपने आराध्य के माधुर्य भाव के चित्रों में आत्मविभोर होकर चैतन्यदेव मूर्च्छित हो जाते थे और सूर ने अपने आराध्य के लीला-गान में भक्ति-शृंगार की जो मदाकिनी बहाई उससे परवर्ती कवियों को शृंगार की सुराधारा प्रवाहित करने की प्रेरणा मिली--इससे हमारा यही निष्कर्ष है कि श्लील और अश्लील अपनी भावना पर ही वस्तुतः आधारित है।

हास्य रस

विकृत आकार, वाणी, वेश और चेष्टा आदि को देखने से हास्य रस उत्पन्न होता है। हास्य रस का विकास आचार्यों ने शृंगार से मनोनीत किया है और शृंगार का स्थायी भाव रति होने के कारण हास्य की जड़ें प्रेम में स्थित हैं। इसकी प्रकृति चित्र-विचित्र रंगवाली होती है तथा हृदय शुद्ध होता है।

आलम्बन— विकृत या विचित्र वेशभूषा आकार आदि, व्यंग्यपूर्ण वाक्य, निर्लज्जता, मूर्खताभरी चेष्टाओं का देखना या सुनना आदि।

उद्दीपन— हास्यजनक चेष्टायें आदि।

अनुभाव— कपोल, नासिका तथा ओठों का स्फुरण, आँखों का मिचना, मुख का विकसित होना, पेट का हिलना, व्यंग्य भरे वचन कहना, आँसू आना, काँपना आदि।

संचारी— अवहित्था, रोमांच, असूया आदि।

स्थायी भाव— हास।

देवता— प्रमथ।

वर्ण— श्वेत।

आचार्यों ने हास्य के दो भेद किये हैं—(१) आत्मस्थ और (२) परस्थ । जो हँसी स्वयं अपने मन से उद्भूत होती है वह आत्मस्थ और जो दूसरे को हँसता देखकर पैदा होती है वह परस्थ कहलाती है । प्रकारांतर से इसके छै भेद और किये गये हैं—(१) स्मित, (२) हसित, (३) विहसित, (४) अवहसित, (५) अपहसित और (६) अतिहसित । परन्तु इन भेदों का आधार हास्य की न्यूनाधिकता मात्र है जो कोई विलक्षणता नहीं है । यहाँ स्मित का अभिप्राय नेत्रों के ईषद् विकास किंवा अधर स्पंदन (आँखों के कुछ-कुछ फड़क उठने) का है । हसित वह हास्य है जिसमें कुछ दाँत भी दिखाई पड़ जायें । विहसित वह है जिसमें साथ ही साथ मधुर शब्द भी निकल पड़ें । अवहसित वह है जिसमें कन्धे और सिर कांपने लगें । अपहसित का अभिप्राय उस हँसी से है जिसमें आँखों में आँसू तक आ जायें और अतिहसित वह हँसी है जिसमें हाथ पैर भी उठाये पटके जाया करें ।

हास्य के अतिरिक्त अट्टहास का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर पता चलता है कि इसकी पृष्ठभूमि में प्रबल आत्मविश्वास (Absolute confidence), आवश्यकताओं का अभाव (Want of wants) तथा उपेक्षा (Contempt or disregard) निहित होते हैं । पुराणों में वर्णित तांडव नृत्यकर्ता भगवान शंकर का अट्टहास सुपरिचित है । दानवों और राक्षसों का अट्टहास भी विदित ही है । जहाँ और जब उपर्युक्त तीन पूर्तियाँ होंगी उनके स्तर एवं उनकी स्थिति के अनुरूप अट्टहास का स्तर ऊँचा या नीचा होगा ।

प्रो० शिवाधार पाण्डे २ ने हँसी के तीन भेद किये हैं—(१) दिव्य (जो अपने हर्ष से उत्पन्न हो और सबको मुदित करे), (२) किन्नरी—(जिस हँसी में कौतुक हो और सबको हँसावे) तथा (३) विद्याधरी—(जो हँसी समझाने-मुधारने के लिए दूसरे की हँसी उड़ावे और सबको अच्छी लगे) । हँसी के ये तीनों भेद सात्विक हैं, उनका हृदय शुद्ध है तथा वे दूसरों का दिल नहीं दुखाते । हर्ष, कौतुक व सुधार उनके मूल मंत्र हैं और यही उनकी परीक्षा है । आमोद, प्रमोद और आह्लाद इनके गुण हैं ।

श्री जगन्नाथ जी की काण्ठ मूर्ति का दर्शन अथवा विचार करके संस्कृत कवि की अनोखी मेधा और प्रज्ञा ने किन्नरी हास्य का अद्भुत ठाट बाँध दिया है । देखिये—“एक बकवादिनी स्त्री (सरस्वती), दूसरी चंचल (लक्ष्मी), भुवन

१. आत्मस्थौ द्रष्टुस्त्वस्त्री विभावै क्षणमात्रतः ।

हसंतमपरं दृष्ट्वा विभावश्चोपजायते ।

योऽसौ हास्यस्सस्तज्ज्ञैः परस्यः परिकीर्तितः ॥

—रस गंगाधर

२. चेतना, वर्ष १, संवत् २००६, अंक १० ।

विजेता पुत्र मन्मथ, शेष पर शय्या, उदधि में शयन और गरुड़ का वाहन पाकर विरोध, अशान्ति और विडम्बना के घात-प्रतिघात द्वारा आक्रान्त हो विष्णु काठ के हो गये—

एका भार्या प्रकृति सुखरा चंचला च द्वितीया ।

पुत्रश्चैको भुवन विजयी मन्मथो दुर्निवारः ॥

शेषः शय्या शयनप्रुदधौ वाहनं पन्नगारिः ।

स्मारं-स्मारं स्वगृह चरितं दाहभूतौ मुरारिः ॥

बारहवीं शती में आविर्भूत होने वाले 'कुमारपाण प्रतिबोध' नामक प्राकृत-काव्य के प्रणेता सोमप्रभ ने दम मन्त्रक और एक शरीर वाले रावण के जन्म पर उसकी माता कैकसी की चिन्ता और विस्मय का चित्रण कर किन्नरी हास्य को साकार कर दिया है—

रावण जायहु जहि दिर्आहि दह मुह एक सरीर ।

चिंताविष तइयहि जणणि कदणु खियावहुँ खोर ॥

विद्याधरी हास्य के लिए संस्कृत कवि की निम्न उक्ति अति सार्थक है जिसमें समुराल की समता स्वर्ग में करने हुए उमे स्थायी आवास बनाने वालों को युक्ति चानुरी से सावधान किया गया है—

इवसुर गृह निवासो स्वर्ग तुल्यो नराणां ।

वसति यदि विवेकी पंच षट् वा दिनानि ॥

हास्य के ये प्रकार भी बनाये गये हैं—हास्य (Humour), वाक्चातुरी (Wit), व्यंग्य (Irony) और वक्रोक्ति (Satire) ।

हास्य समस्त अनुभूति-देश को विकम्पित करने की शक्ति रखता है । इसमें प्रशस्त आनन्द की ज्योति जगमगा उठती है । व्यंग्य के विषले वाण इसमें सम्मिलित नहीं होते । तीक्ष्ण बुद्धि और कल्पना पटु तथा शब्द कौशल पर अधिकार रखने वाला लेखक ही विट की मृष्टि करने में समर्थ हो सकता है । विट को हम हाजिर जवाबी भी कह सकते हैं । जैसे एक बार प्रिवी कौंसिल में किसी अंग्रेज ने कहा—हिन्दुस्तानी बड़े झूठे हैं । इस पर गोखले ने कहा—और अंग्रेज झूठों के बादशाह हैं ।

व्यंग्य विद्रूपकारी लेखक किसी पक्ष का अवलंबन नहीं करता । वह एक परोक्ष भाव का निर्देश कर देता है । जैसे 'सुना जाता है कि सारे सरकारी घूसखोर अफसर हट रहे हैं ।' दूसरे शब्दों में सारे सरकारी विभाग बन्द कर दिये जावेंगे ।

वक्रोक्ति (Satire) के दो भेद हैं—(१) काकु (Hightened) तथा (२) श्लेष (Fun) । जैसे, काकु—मित्र ने कहा कि मेरी सरलता आप जानते

ही हैं। उत्तर मिला—जी हाँ आप पूरे महात्मा है। श्लेष—भाई मैं बेकार हूँ। उत्तर—तो एक कार क्यों नहीं खरीद लेते ?

अंग्रेज लेखक एडीसन (Addison) का कथन है कि मनुष्य ही सृष्टि मात्र में हँसी विनोद करता है। उससे ऊपर के जीव अपना मुँह नहीं बिगाड़ते, न पशु न देवता। जिन बातों पर मनुष्य को हँसी लगती है देवताओं को दया लगती है या रोष आता है। परन्तु एडीसन के विचारों में बांछित गहराई नहीं है। पशु चाहे न हँसते हों—न लकड़बग्घे, न सिआर, न लोमड़ी परन्तु देवता अवश्य हँसते हैं। हिन्दू त्रिमूर्ति पर हँसी का साम्राज्य है। नारायण मुस्कुराते रहते हैं। और शंकर का अट्टहास सर्वविदित है। व्यंग्य में प्रवीण अमुरों ने जब नाट्यशास्त्र चुरा लिया तब देवताओं ने उसका उद्धार किया। अब वह सबके लिए सुलभ है और हास्य उसमें एक प्रधान अंश है। मार्क ट्वेन (Mark Twain) का कथन है कि स्वर्ग में हँसी नहीं है, वह नरक में होनी चाहिए। परन्तु इस कथन की विचारशून्यता तत्काल ही अपना पता दे देती है। नरक की कल्पना चाहे वह हिन्दू हो, मुस्लिम हो और चाहे ईसाई हो उसमें समाज व्यवस्था को तोड़ने वाले पापियों द्वारा उनके कर्मानुसार विभिन्न प्रकार की दारुण यंत्रणायें भोगने का चित्र अंकित किया गया है अस्तु नाना प्रकार के क्लेश पाने वाले नरक के प्राणियों को आमोद-प्रमोद और आह्लाद की कौन सी शुभ प्रेरणा हँसा सकती है, यह भोले मार्क ट्वेन ने नहीं सोचा। दुःख भोगनेवाले नारकीयों की हँसी का प्रश्न तो बहुत दूर है, दिल बहलाने वाले उनके घोर कष्ट नरक के दूतों को भी सम्भवतः हँसाने की क्षमता कम ही रखते हैं क्योंकि यम के अनुशासन और कर्तव्य की पाबन्दी वे करते हैं न कि अपना अपराध किये जाने पर वे बंदियों को दण्ड देते हैं। दूसरों को अकारण सताकर और उनके आर्तनाद पर स्वभावतः प्रसन्न होने वाले राक्षस और दानव अथवा उन सदृश घोर तामसिक वृत्ति वाले व्यक्ति ही ऐसी परिस्थितियों में हास्य के आश्रय या आलंबन बन सकते हैं।

हिन्दी साहित्य में दिव्य, किन्नरी और विद्याधरी हास्य के उदाहरण पा सकना प्रायः असम्भव सा ही है परन्तु यह स्वाभाविक है। पं० रामदहिन मिश्र ठीक ही लिखते हैं—हास्य समस्त अनुभूति को आंदोलित करता है। इससे प्रशस्त आनन्द फूट पड़ता है। इसमें व्यंग्य वाण का आघात नहीं रहता। करुण रस में जब इसका परिपाक होता है तो इसकी गंभीरता और बढ़ जाती है। हिन्दी में उच्च और गम्भीर हास्य रस का प्रायः अभाव सा है।^१ पराधीन भारत के हिन्दी साहित्य में व्यंग्य के अच्छे उदाहरण सुलभ हैं।

विशुद्ध हास्य के लिए देश काल की अपेक्षित परिस्थितियों के बंधन व्यंग्य

पर लागू नहीं होते क्योंकि सब देशों और सब कालों में तथा सभी परिस्थितियों में व्यक्ति असंतुष्ट हो सकता है। यही कारण है कि यूरोपीय और भारतीय प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यों में हमें देश-काल और परिस्थिति के बंधनों से उन्मुक्त व्यंग्य के दर्शन होते हैं। हँसी सीधी होती है, वह किसी का दिल नहीं दुखाती, व्यंग्य टेढ़ा, चुभनेवाला, काट खाने वाला, और मर्मगत तक को पीड़ित करने की प्रबल शक्ति से पुंजीभूत होता है। प्रो० ललिता प्रसाद सुकुल ने लिखा है—“अपने मूल रूप और शुद्ध रूप में हास्य रस का उद्रेक शारीरिक और मानसिक तुष्टि और उसके द्वारा अनुप्राणित प्रफुल्लता से ही सम्भव होता है। इसे आचार्यों ने भोद और विनोद की कोटि का माना है। यही शुद्ध हास्य का प्रधान रूप है। किन्तु असंतुष्टि और द्वंद्वात्मक होड़ की परिस्थितियों में रसात्मक उद्रेक व्यंग्य का रूप ले लेता है और इसके विविध प्रादुर्भूत रूप हास्य न रह कर उपहास अथवा परिहास की कोटि के हो जाते हैं। जीवन में इसका उपयोग और इसके रूप सामयिक परिस्थितियों और व्यक्तिगत योग्यताओं के अनुसार देश-विदेशों में प्रायः सभी कालों में होते ही रहे हैं।”

यूरोपीय साहित्य में हमें व्यंग्य के भेद-प्रभेदों का साक्षात्कार विशेष रूप से होता है। वहाँ के साहित्यकारों ने इसका विशेष रूप से विश्लेषण करके विवेचना की है। प्रो० शिवाधार पाण्डे ने व्यंग्य के पाँच भेदों का विशद उल्लेख किया है—(१) गूढ़ (Irony) (२) प्रत्यक्ष (Satire)। (३) वैयक्तिक (Saracasm), (४) दार्शनिक (Sardonism) और (५) आसुरी (Diabolical)।

गूढ़ व्यंग्य (Irony) का उद्देश्य सुधार है, क्षेत्र समाज है, हृदय शुद्ध या अशुद्ध दोनों हो सकते हैं तथा इसके अनंत भेद हैं।

प्रत्यक्ष व्यंग्य (Satire) का उद्देश्य भी सुधार है, समाज या उसके वर्ग इसके क्षेत्र हैं, इसका हृदय शुद्ध होता है, और अशुद्ध हृदय होने से इसमें खुनस आ जाती है।

वैयक्तिक व्यंग्य (Saracasm) का उद्देश्य निराकरण करके नीचा दिखाना है, उपस्थित समाज ही इसका क्षेत्र है और इसका हृदय अशुद्ध है।

दार्शनिक या नास्तिक व्यंग्य (Sardonism) के दो भेद चार्वाकी और अधोरी हैं। इसका उद्देश्य केवल निराकरण ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण आध्यात्मिक बल व विश्वास का विनाश है, जिसे बुद्धि-विकास व अंतरात्मा द्वारा उद्धार कहा गया है। चार्वाकी भाव Epicurian सदृश स्वार्थी थे परन्तु Sardo-

nism की प्रकृति यथार्थ थी जिसे हम (Cynic) द्वेषी या कुटिल कह सकते हैं। उपस्थित तथा अनुपस्थित समाज ही इसका क्षेत्र है तथा इसका शुद्ध या अशुद्ध हृदय स्वार्थी होता है। अघोरी व्यंग्य का उद्देश्य अपने ही संकीर्ण पथ द्वारा उद्धार है और उसके लक्षण चार्वाकी व्यंग्य के अनुरूप हैं।

आसुरी या शैतानी (Diababical) व्यंग्य निराशावादिता से विषावत हो जाता है। इसका उद्देश्य सर्वनाश है। हृदय इसका विद्वेषी है और मनुष्य मात्र इसका क्षेत्र है। दानवी और राक्षसी इसके दो भेद हैं। बल प्रधान हो तो दानवी और छल प्रधान हो तो राक्षसी कहलाता है।

यूरोपियन व्यंग्य के लकड़दादे यूनानी आर्कीलौकस का विवाह उमके दासी पुत्र होने के कारण रुक गया और वह विपैले वाणों की वर्षा करने लगा। अंग्रेज जोनाथन स्विफ्ट को लंदन के विशप का पद न मिला तथा अन्य असंतोषप्रद घटनायें घटी और 'टेल आफ ए टब' तथा 'गुलिवर्स ट्रैवल्स' आदि व्यंग्यात्मक रचनाओं की उसने सृष्टि की। यूरोपियन व्यंग्य का क्षेत्र अधिकांशतः समाज रहा है। सामाजिक कुरीतियों का खाका बहुधा सुधार के उद्देश्य से खींचा गया है।—

शार्लट गिल्मन की 'ग्रेजोड व्याह' शीर्षक कविता दृष्टव्य होगी--

“आ हो जा मेरी बीबी मुर्गी से बोला गिद्ध

आराम किया कर घर बैठी मैं उड़ने में परसिद्ध”

“हे शौक नहीं है शक्ति नहीं उड़ने की मुझमें प्यारे”

मुर्गी बोली, “तुम उड़ा करो गगनों में पंख पसारे नयनों के मेरे तारे”

बे व्याहे बोले, “अहाहा, यह प्रेम महा अलबेला”

मुर्गी बैठी अंडे सेती उड़ता था गिद्ध अकेला ॥१॥

“मेरी बीबी हो जाओ कुछ जरा तरस तो खाओ

तू सीधी है तू भोली है, मैं नाहर हूँ खूँखार है गहरा मेरा प्यार।”

मिमियायी भेड़, “मेरे राजा पछियाओ हन हन खाओ

मैं करती नहीं न कर सकती कुछ बुरा मेरे दिलदार”

बे व्याहे बोले, “अहाहा यह प्रेम महा अलबेला”

चरती थी भोली भेड़ शिकारी था वह शेर अकेला ॥२॥

“आ हो जा मेरा स्वामी,” मछली घोंघे से बोली.

“मैं चलती फिरती सिंधु सरित तू घोंघा है घर घुसना”

“रम ताल नदी तू सागर” बोला घोंघा घर घुसना

“मैं रुसना हूँ घर घुसना हूँ चहता चुलबुली ठोली”

बे व्याहे बोले “आहाहा यह प्रेम महा अलबेला”

मछली तो गहरे तैर चली घोंघा घर घुसा अकेला ॥३॥

श्रीमती मिलोमांट कांग्रेव के 'पाश्चात्य विवाह' की निम्न पंक्तियाँ उक्त प्रथा के खोखलेपन की अच्छी खिल्ली उड़ाती हैं—

बस हम दोनों रहें अछूते जैसे बहुत दिनों के व्याहे ।

शिष्ट सभ्य आचरे हमेशा जैसे बिलकुल कभी न व्याहे ॥

(अनु०—प्रो० शिवाधार पांडे)

इलियट की "पोले नरचोले" (बुढ़ऊ को छिदहा पैसा) शीर्षक निम्न कविता में व्यंग्य के छोटे स्पष्ट हैं—

मानव

हम पोले

हम ठुंसे ठुंसे हैं भुस

बस सधे बधे आगुस

खुस खुस खुस खुस

सुनसान निरर्थक

सूखी घासों सुसनी सुस सुस

टूटे शीशों मूसी सरपट

फस फस फस फिस फुस

हमारे तहखानों में रूखे

काया रूप रहित

छाया वर्ण रहित

शक्ति पक्षाघातित

इंगित-गति नाशित

जितने पार गये

सूधे नयनों-बढ़े हये

जहाँ जमाये दूजा राज

जमराज—

सुमिर रहे जो हमें कभी

बस यही—

हम जीव

नहीं झगड़ुए

नहीं बगड़ुए

बस

हम पोले

ठस ठुंसे भुस ।

(अनु० प्रो० शिवाधार पांडे)

इनके अतिरिक्त दग्ध नार्टन, औडेन, औवेन सीमन, फेल्टिकन, आर्टेमस

वाङ्ग प्रभृति अंग्रेज कवियों की गूढ़, प्रत्यक्ष और वैयक्तिक व्यंग्य की रचनायें प्रसिद्ध ही हैं।

संस्कृत साहित्य में भी व्यंग्य वर्तमान है। लटक-मेलक सरीखे प्रहसनों में व्यंग्यात्मक हास्य का पूर्ण परिपोष मिलता है। किसी विष्णुशर्मा की वैशिकता का भर्त्सनापूर्ण चित्रण कवि ने कितनी कुशलता से किया है, जब वह उससे कहलाता है, “हाय मैं तो मरा, क्योंकि वेश्या ने अपने अपवित्र हाथ की मूठ बाँधकर बड़े बल से थूतकार शब्द समेत मेरे सिर पर एक घूँसा मारा जो प्रत्येक मंत्र के साथ पवित्र किये हुए जल बिन्दुओं में छिड़ककर पवित्र किया गया था”-

आकुंच्य पाणिमशुचि मम मूर्ध्नि वेदया ।

मन्त्राम्भसां प्रतिषदं पृषतः पवित्रे ।

तारस्वनं प्रथितयत्कमदात्प्रहारं ।

हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥

पड़ानन और गणेश की बाल मुलभ क्रीड़ा में झगड़े का एक रोचक प्रसंग अवलोकनीय है। “गणेश के रोने पर पार्वती ने पूछा कि क्यों रोते हो ? उन्होंने कहा कि अग्निभू मेरे कान खींचते हैं। माँ ने इस कुचेष्टा के लिए स्कन्द को डाटा तो उन्होंने कहा कि इमने मेरी आँखें गिनी थीं। इस अभियोग को मुनकर पार्वती हँस पड़ी”-

हे हेरम्ब ! किमम्ब ! रोदिवि कथं ? कर्णो लुटत्यानि भूः ।

कि रे स्कन्द विवेष्टितम् ? ममपुरा संख्या कृता चक्षुषाम् ।

नैनत्ते ह्युचितं गजास्यचरितं ! नासा प्रमीताच मे ।

तावेवं सहसा विलोक्य ह्युचितं व्यग्रा शिवा पातुवः ॥

जैन महाराष्ट्री प्राकृत की प्राचीन रचना ‘दमवेयालिय निज्जुत्ति’ में एक साधु की वंचकता का भंडाफोड़ बड़े ही विनोद पूर्ण ढंग से किया गया है। उसके वस्त्र में अनेक छिद्र देखकर दूसरा साधु कौतूहल वश कहता है कि हे साधु, तुम्हारे वस्त्र में एतने छिद्र क्यों हैं ? वह उत्तर देता है कि यह मछलियाँ पकड़ने में जाल का काम करता है। दूसरा साधु आश्चर्य से कहता है कि तुम मछली खाते हो ? पूर्व साधु उत्तर देता है कि हाँ, और मीठी मुरा के साथ। दूसरा साधु कहता है कि तुम मीठी मुरा पीते हो, तो पूर्व साधु उत्तर देता है कि हाँ, वेश्याओं के साथ। दूसरा आश्चर्य से फिर कहता है कि तुम वेश्याओं का संसर्ग करते हो और उत्तर में मुनता है कि अपने शत्रुओं के दमन के उपरान्त। वह प्रश्न करता है कि तुम्हारे शत्रु भी हैं ? जिसका उत्तर मिलता है कि वे, जिनके घर मैं लूटता हूँ। दूसरा साधु कहता है कि तब तो तुम चोर हो और पूर्व साधु कहता है कि केवल जुआ खेलने के

कारण । दूसरे साधु का आश्चर्य और क्षोभ इस समय तक अधिक हो जाता है और वह कहता है कि तुम जुआड़ी भी हो ? पूर्व साधु कहता है कि क्या तुम नहीं जानते कि मैं दासी पुत्र हूँ—

“O monk your cloak has so many holes !”

“Yes, it serves me as a net when I catch fish.”

“You eat fish ?”

“I eat them along with my brandy.” You drink sweet brandy ?”

“Oh yes, with the harlots.” “What, you go to harlots”

“After I have crushed my enemies.” “You have enemies then ?”

“Only because of the game of dice.” “How, are you a gambler ?”

“Am I not, after all the son of a slave mother ”

(अनु० त्यूमन)

मूल प्राकृत रचना तो देखने में नहीं आई परन्तु उसका निम्न संस्कृत रूपान्तर अवश्य मिला है—

भिन्नो ! कन्याश्लया ते नहि शफरि बधे बालमशनासिमत्स्याम् ।
ते वै मद्योपदशाः पिबसि मधु समं वेश्ययायासि वेश्यां ।
दत्त्राष्ट्रिमूर्ध्यंगरीत्यं तव किमु रिपवो भित्तिमेतास्मि येषाम् ।
चौरोऽसि द्यूत हेतोः त्वयि सकलमिदं न्यास्ति नष्टे विचारः ॥

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ का दिया हुआ व्यंग्यात्मक हास्य का निम्न उदाहरण भी दृष्टव्य है—

गुरोर्गिरः पंचदिनान्यधीत्य वेदान्त शास्त्राणि दिन त्रयं च ।

अमी समाग्राय च तर्कवादान्समागताः कुक्कुट मिश्र पादाः ॥

(अर्थात्-हट जाओ देखो श्री कुक्कुट मिश्र जी पधार रहे हैं । आप ही वे महामहोपाध्याय हैं जो पाँच दिन में ही प्रभाकरमीमांसा की चटनी कर गये, तीन दिन बीतते-बीतते वेदान्त दर्शनों को पी गये और तर्क शास्त्रों को सूँघ लेना आपके बायें हाथ का खेल ही ठहरा ।)

अब हिन्दी की कुछ रचनायें भी विचारणीय हैं—

१-यह चित्रित हें दस चित्र विचित्र बड़ी इनसों छवि भौन की भारी ।

इनमें जगनायक की यह सातवीं साँवरी मूरति कौन की प्यारी ।

सखि, तू हें सयानी सहेलनि में, इहि सौं हम पूछत देहु बतारी ।

विकसे से कयोलन, बाँकी चितौन सिया सखियान की ओर निहारी ।

यहाँ रामचन्द्र जी के चित्र को लक्ष्य करके सीताजी के प्रति सखियों की

प्रथम तीन चरणों की व्यंग्योक्ति ही हास्य का आलंबन है, सीताजी के कपोलों का विकास और बाँकी चितवन अनुभाव तथा ब्रीड़ा संचारी है।

२-रूप अनूप सजे पट भूषण जात चली मद के झकझोरनि।

औचक काँटो चुभ्यो पग में मुख सों सिसकार कढ़ी बरजोरनि।

सो मुनि के बिट बोल्यो हहा ! फिर हूँ इमि क्यों न करे चित चोरनि।

चंदमुखी मुख आंचर दें चितई तिरछी बरछी दृग कोरनि ॥

इसमें बिट की उक्ति आलंबन है, चन्द्रमुखी का आंचल देकर तिरछे देखना अनुभाव है तथा हर्ष आदि संचारी हैं।

३-गोपी गुपाल कौ बालिका कँ वृषभानु के भौन सुभाइ गई।

‘उजियारे’ बिलोक विलोकि तहाँ हरि राधिका पास लिवाइ गई।

उठि हेली मिली या सहेलनि सो यौ कहि कंठ से कंठ लगाई गई।

भरि भेंटत अंक निसंक उन्हें वे मयंकमुखी मुसुकाई गई ॥

यहाँ स्वशब्दवाच्य मुसुकुराना मखी परक है और परनिष्ठ हास्य है। राधाकृष्ण का हास्य तो व्यंग्य ही है।

४-कविरत्न सत्यनारायण के प्रसिद्ध पद ‘भयौ क्यों अनचाहत कौ संग’ परिहास पद (Parody) भी देखिये—

भयौ क्यों अनचाहत कौ संग।

खुफिया पुलिस परी है पीछे करि डारे हम तंग।

जहँ तहँ जात दिखात तहाँ ही खात न्हात बतरात।

चौकि परत चंचल तुरंग सी फरकि जात जो पात।

निरखत परखत रहति सदा ही अन्तर नेक न लावति।

हमरी करनी-धरनी को लिखि लेखौ तुरत पठावति।

उधरी देह अँगौछा काछे जित जित प्रान बचाऊँ।

तित तित वा छरछंदों की में छटा निरख तो जाऊँ।

दीनबन्धु मेरी करनी कौ कैसहु कुफल चलाओ।

सत्य कहूँ पर इन खुपियन ते मेरी पिंड छुड़ाओ ॥

वीर रस

जिस विषय में उत्साह का पोषण हो वहीं वीर रस की निष्पत्ति समझनी चाहिए। इसका स्थायी भाव उत्साह है और उत्साह-प्रदर्शन की कहीं कोई परिधि नहीं बाँधी जा सकती अस्तु इस रस के अनेकानेक भेद संभव हैं जो मानव के गुण, कर्म और स्वभाव से साधारणतः सम्बद्ध हो जावेंगे। शौर्य की प्रच्छन्न शक्ति ही मानव को विविध भूमिकाओं में उत्साह से अग्रसर होने के लिए प्रेरित करती रहेगी।

वीर रस प्रारंभिक चार रसों में से एक है। इसी से कालांतर में अद्भुत रस का विकास हुआ है। इसका देवता महेन्द्र है और वर्ण गौर है।

आलम्बन—शत्रु, दीन, याचक, तीर्थ, पर्व आदि।

उद्दीपन—शत्रु का शौर्य, याचक की दीन दशा आदि।

अनुभाव—रोमांच, गर्वभरी वाणी, आदर-सत्कार, दया के शब्द आदि।

संचारी—गर्व, धृति, स्मृति, दया, हर्ष, मति, असूया, आवेग आदि।

कुछ आचार्यों का मत है कि 'वीर' पद का प्रयोग युद्धवीर रस में ही होना चाहिए परन्तु कविराज विश्वनाथ^१ और पंडितराज जगन्नाथ^२ ने इसके चार भेद—१ युद्धवीर, २ धर्मवीर, ३ दयावीर और ४ दानवीर माने हैं क्योंकि साहित्य में उन्होंने इन प्रकारों के उदाहरण प्राप्त किये थे। इन चारों भेदों में सबका स्थायी भाव तो उत्साह ही है परन्तु इनके आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी पृथक्-पृथक् होते हैं।

इस रस के चार भेद अवश्य किये गये हैं परन्तु किसी भी जाति के साहित्य में दान, धर्म और दया के उत्साहों की अपेक्षा शौर्य का उत्साह अधिक पाया जाता है क्योंकि आये दिन ही तो युद्ध लगे रहते हैं और इसीलिए युद्धवीर रसात्मक रचनाओं का परिमाण अधिक प्राप्त होता है। दानी दधीच, कर्ण आदि; धर्मवान युधिष्ठिर, भरत आदि; दयावान शिव आदि उँगलियों पर ही गिने जा सकते हैं।

भारत के राजनैतिक क्षितिज पर सन् १९२१ में महात्मा गांधी के आविर्भाव से उनकी जीवनचर्या, अहिंसक रीति-नीति एवं सत्याग्रह आन्दोलन से प्रभावित होकर भारत के अनेक नागरिक अपने देश के त्राण हेतु उनके चरण चिन्हों पर चलने के लिए प्रेरित हुए। और माँ भारती को पराधीनता की शृंखलायें तोड़ने के लिए उठे हुए इन सत्याग्रही वीरों के चरणों ने भारत के भावुक हृदयों को भावना की नवीन गति प्रदान की। फिर क्या था इस बलि-दानी और उसके दृढ़ अनुयायियों के उत्सर्ग की रूपरेखा के शब्द-चित्र काव्य में साकार हुए। फलस्वरूप साहित्य के क्षेत्र में वीर रस का एक नया भेद देखने में आया। आचार्य ललिता प्रसाद सुकुल को इस नवीन विद्या को सांगोपांग विधि से लक्ष्य करने का श्रेय है। उन्होंने 'पंचम विशिख' नाम से अपने 'काव्यचर्चा' नामक ग्रन्थ में पृ० १४७ पर वीर रस की इस नई प्रणाली का 'साहिष्णु बलिदान वीर' नाम से इस प्रकार विवेचन किया है—'यह प्रायः सभी कोटियों के सिद्ध संचारियों से मिलता-जुलता हुआ भी भिन्न है और है अनोखा।

१. साहित्यदर्पण, पृ० ९०

२. रसगंगाधर, पृ० ६३-६८

इसका यह अनोखापन इसे प्राप्त हुआ है इसकी परम सात्विक चेतना में, जिसमें न स्थान है प्रतिशोध के लिए, न परपीड़न के लिए, वरन् जिसका एक मात्र लक्ष्य है परिशोध और सत्यरक्षा। इसमें वीरोत्साह की सात्विक अभिव्यक्ति जिस सफलता के साथ साकार हो उठती है और सार्थक होती है उतनी कदाचित् अन्यत्र नहीं। इसीलिए यदि इस नवीन अंग को चिर प्रतिष्ठित वीर की अंगपूर्ति कहा जाय तो यह उचित ही होगा।”

युद्धवीर—

आलम्बन—शत्रु ।

उद्दीपन—शत्रु का पराक्रम ।

अनुभाव—गर्वसूचक वाक्य, रोमांच आदि ।

संचारी—धृति, स्मृति, गर्व, तर्क, हर्ष, आवेग, औत्सुक्य, असूया आदि ।

(१) गंगा राजरानी को मुभट अभिमानी भट,

भारत के वंश में न भीषम कहाँ मैं ।

जो पै सररेट औ दपेट रथ पारथ कौ,

लोकालोक परबत के पौर न बहाँ मैं ।

‘मित्र जू’ सुकवि रनधीर वीर जूम खरे,

कीन्हें यह पैज ताहि सब को मुनाँ मैं ।

कहाँ हों पुकारि ललकारि महाभारत में,

आज हरि हाथ जो न सस्त्र को गहाँ मैं ॥

इसमें श्रीकृष्ण और अर्जुन आलम्बन हैं। श्रीकृष्ण की यह प्रतिज्ञा कि वे शस्त्र न उठावेंगे उद्दीपन है। भीष्म के वाक्य अनुभाव हैं। गर्व, स्मृति, धृति आदि संचारी हैं।

सोहै अत्र ओढ़े जे न छोड़े सीस संगर की,

लंगर लंगूर उच्च ओज के अतंका में ।

कहै पदमाकर त्यों हुंकरत फुंकरत,

फलत फलात फाल बाँधत फलंका में ॥

आगे रघुबीर के समीर के तन के संग,

तारी दै तड़ाक तड़ातड़ के तमंका में ।

संका दै दसानन को डंका दै सबंका वीर,

डंका दै बिजै को कपि कूद पर्यौ लंका में ॥

इसमें दशानन आलम्बन है, उसका दुर्भेद्य दुर्ग लंका उद्दीपन है, तड़ातड़ ताली बजाना अनुभाव है। गर्व, धृति आदि संचारी हैं।

शृंगार रस में शेष रसों को समाहित करनेवाले केशव के युद्ध वीर रस के उदाहरण भी देखिये—

गति गजराज साजि देह की दिपति बाजि ,
 हाव रथ भाव पत्ति राजि चली चाल सों ।
 केसोदास मंदहास असि कुच भट भिरे ,
 भेट भए प्रतिभट भाले नखजाल सों ।
 लाज साजि कुलकानि-सोच पोच भय भानि ,
 भौहैं धनु तानि बान लोचन बिसाल सों ।
 प्रेम को कवच कसि साहस सहायक लै ,
 जीत्यो रति-रन आज मदन गुपाल सों ॥
 —राधिका जू को वीर रस

धर्मवीर—

आलम्बन—महाभारत, रामायण, मनुस्मृति, पुराण आदि धार्मिक ग्रन्थ ।
 उद्दीपन—धर्मग्रन्थों का धार्मिक इतिहास और फलस्तुति ।
 अनुभाव—धर्माचरण, धर्म हेतु कष्ट सहना आदि ।
 संचारी—धृति, मति, विबोध आदि ।

१— और जो टेक धरी मन माँहि न छाँड़ि हौं कोऊ करौ बहुतेरौ ।
 धाक यही है युधिष्ठिर की धन-धाम तजौं पै न बोलत फेरौ ।
 मातु सहोदर औ सुत नारि जु सत्य बिना तिहि होय न बेरौ ।
 हाथी तुरंगम औ बसुधा बस जीवहु धर्म के काज है मेरौ ।
 इसमें युधिष्ठिर का धर्म विषयक दृढ़ उत्साह स्थायी है । उनके वाक्य अनुभाव हैं तथा गर्व, हर्ष, धृति और मति संचारी हैं ।

२— तून के समान धन-धाम राज त्याग करि ,
 पाल्यौ पितु बचन जो जानत जनैया है ।
 कः पदमाकर विवेक ही को बानो बीच ,
 साँचो सत्यधीर धीर धीरज धरैया है ।
 सुमृति पुरान वेद आगम कह्यो जो पंथ ,
 आचरत सोई सुद्ध करम करैया है ।
 मोद-मति-मन्दर पुरन्दर मही को धन्य ,
 धरम धुरन्धर हमारो रघुरैया है ॥

इसमें पिता राजा दशरथ के वचन आलम्बन हैं । राम द्वारा तृण सदृश सारा राज-पाट-वैभव त्याग देना अनुभाव है । हर्ष, मति और धृति संचारी हैं ।
 दयावीर—

आलम्बन—दया का पात्र या दयनीय व्यक्ति ।
 उद्दीपन—दया के पात्र की करुण अवस्था ।
 अनुभाव—दया पात्र से सांत्वना के वाक्य कहना आदि ।

संचारी—हर्ष, मति, धृति आदि ।

- १— पापी अजामिल पार कियो जेहि नाम लियो सुत ही को नरायन ।
 त्यों पदमाकर लात लगे पर विप्रहु के पग चौगुने चायन ।
 को अस दीनदयाल भयो दशरथ के लाल से सूधे सुभायन ।
 दौरे गयंद उबारिबे को प्रभु वाहन छाँड़ि उपाहने पायन ॥

इस छन्द में गयंद दया का पात्र होने से आलम्बन है, उसकी दशा उद्दीपन है, उसकी रक्षा हेतु दौड़ पड़ना अनुभाव है तथा धृति, आवेग, हर्ष आदि संचारी है ।

- २— देखत मेरे को जोय हनै सुनि कै धुनि कोस हजार तें धाऊँ ।
 और को दुख न देखि सकौं जिहि भाँति छुटै तिहि भाँति छुटाऊँ
 दीनदयाल है छत्रि को धर्म तहूँ सिबि हौं जग व्याधि नसाऊँ ।
 तू जनि सोचै क्योत के पोतक आपनी देह दै तोहि बचाऊँ ॥

यहाँ कवूतर आलम्बन है, उसकी दयनीय दशा उद्दीपन है, शरणदाता दयावीर राजा शिवि के वाक्य कि अपनी देह देकर भी तेरी रक्षा करूँगा अनुभाव है । हर्ष, धैर्य, मति आदि संचारी हैं ।

दानवीर—

आलम्बन—दान योग्य पात्र, याचक, पर्व, तीर्थस्थान आदि ।

उद्दीपन—दानपात्र द्वारा की गई प्रशंसा, अन्य दाताओं के दान आदि ।

अनुभाव—याचक का आदर-सत्कार, अपनी दान करने की शक्ति की प्रशंसा आदि ।

संचारी—हर्ष, गर्व, मति आदि ।

- १— मुझ कर्ण का करतव्य दृढ़ है मागने आये जिसे ।
 निज हाथ से झट काट अपना शीश भी देना इसे ।
 बस, क्या हुआ फिर अधिक, घर पर आ गया अतिथि बिसे ।
 हूँ दे रहा कुण्डल तथा तन त्राण ही अपना इसे ॥

इस छन्द में इन्द्र आलम्बन है, उसके द्वारा कर्ण के दान की प्रशंसा उद्दीपन है, कर्ण द्वारा कवच कुण्डल दान अनुभाव है और स्मृति संचारी है ।

- २— सम्पत्ति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि ,
 तुरत लुटावत विलम्ब उर धारें ना ।
 कहै पदमाकर सु हेम हय हाथिन के ,
 हलके हजारन के बितर विचारें ना ।
 दीन्हें गज बकस महीप रघुनाथ राव ,
 यह गज धोखे कहूँ काहू देय डारें ना ।
 याही डर गिरिजा गजानन कौं गोय रही ,
 गिरि तैं गरें तो निज गोद ते उतारें ना ॥

इसमें दान वीरता की भरपूर व्यंजना है और राजा रघुनाथ राव के दानी-पन की प्रशंसा है परन्तु विचारणीय है कि इसमें राज-विषयक रति भाव का प्राधान्य है जिससे उत्साह अंग बन गया है अस्तु यह प्रकरण दानवीर का नहीं सिद्ध होता ।

सहिष्णु बलिदान वीर—

आलम्बन—आततायी उत्पीड़क ।

उद्दीपन—आर्तनाद और कर्तव्यपालन की दृढ़ चेतना ।

अनुभाव—मुख-मुद्रा पर दृढ़ संकल्प की स्पष्ट रेखा और आत्मोत्सर्ग की स्पष्ट घोषणा ।

संचारी—सात्विक गर्व, आर्त संवेदन और पीड़क संवेदन ।

इसका व्रती महा निर्भय है जुल्मों पर वह हँसता है ।

तपे हुए सोने सा दिन दिन उसका तेज दमकता है ।

उसे सताता जो उसको वह गले लगा करता है प्यार ।

सत्याग्रह ही एक मात्र है दीन निर्बलों का हथियार ॥

—माधव शुक्ल

निर्दिष्ट छन्द में यद्यपि आलम्बन का स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु साधारणतः ही हमें ध्वनि मिल जाती है कि वह भारतवासियों का उत्पीड़क सात समुद्र-पार से आने वाला अंग्रेज है । उसके किये हुए जुल्म उद्दीपन हैं । सत्याग्रही की निर्भयता, दमन पर हँसना, तपे सोने सदृश उसके तेज का दिन-दिन दमकना तथा शत्रु को प्यार से गले लगाना आदि अनुभाव हैं तथा धैर्य, मति आदि संचारी हैं ।

अद्भुत रस

अद्भुत रस को प्रधानता देनेवाले नारायण पण्डित का तर्क है कि रस का सार ही चमत्कार है और उस चमत्कार का सार स्वरूप अद्भुत रस है तथा चमत्कार की विलक्षणता ही मन को अपनी ओर खींचती है । अभिनवगुप्त चमत्कार के तीन अर्थ करते हैं—

(१) प्रस्तुत वासना के साथ साधारणीकरण का मिलन होकर एक विशेष चेतना का जागरण (२) चमत्कार से अद्भुत अलौकिक प्रसन्नता और (३) चमत्कार द्वारा स्वयं उत्पन्न कम्प रोमांच आदि शारीरिक विकार । अस्तु चमत्कार एक प्रकार की स्फूर्ति या प्रतिभा है । गम्मट चमत्कार से आस्वाद अर्थ लेते हैं । विश्वनाथ का कथन है कि रस में चमत्कार प्राण रूप है वह चमत्कार विस्मय ही है ।

अद्भुत में लोकोत्तर भाव समन्वित रहता है क्योंकि उसी से आश्चर्य का

जन्म होता है। जिज्ञासा विस्मय की सहज प्रवृत्ति है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन द्वारा विराट पुरुष का दर्शन महान् आश्चर्य का विषय है। वैष्णवों के अनुसार अद्भुत के चार भेद हैं—दृष्ट (देखने पर आश्चर्य), श्रुत (सुनने पर आश्चर्य), संकीर्तन (आश्चर्य रूप में वर्णन-कथन) तथा अनुमित (अनुमान द्वारा आश्चर्य प्रकट किया जाना)।

अद्भुत रस को दो स्थितियों में देखा जाता है। एक तो स्वयं अद्भुत रस और दूसरे सभी रसों को अद्भुत कहा गया है—सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।

आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में ब्रह्मा को अद्भुत रस का देवता माना है (अद्भुतो ब्रह्मदैवतः) इसीलिए भावप्रकाशनकार ने कहा है—

अद्भुतस्याप्यधिष्ठानं नानाशिल्पात्मिकैव धीः ।

ब्रह्मणः सेयमस्तीति सोऽयमस्याधिदैवतम् ॥

परन्तु कविराज विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में गन्धर्व को अद्भुत रस का देवता मान लिया है। विश्वनाथ की इस मान्यता का आधार प्राचीन आलंकारिक है जिन्होंने अद्भुत को 'गन्धर्व दैवत्' कहा है। गन्धर्वों की चित्र-विचित्र प्रकृति का अनुशीलन करके ही प्रतीत होता है कि प्राचीन आलंकारिकों ने गन्धर्व को अद्भुत रस का देवता कहा है और कविराज विश्वनाथ ने भी उसका समर्थन किया है। उन्होंने 'महावीरचरित' में लक्ष्मण के 'विस्मय' का निम्न अभिव्यंजन उदाहरणस्वरूप दिया है—

दोर्दण्डांचितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत—

षट्कारध्वनिरार्यबालचरितं प्रस्तावनाडिण्डिमः ।

ब्राह्मपर्यस्तकपालसंपुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर—

आम्ब्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नास्त्रापि विश्राम्यति ॥

(अर्थात्—ओह ! राम के भुजदण्डों पर चढ़े शंकर के पिनाक के खण्ड-खण्ड होने से उत्पन्न यह धनुषट्कार निध्वान, बलराम के वीर्याविदानों का प्रस्तावक यह डिण्डिमध्वान, अपने प्रचण्ड आघात से ब्रह्माण्ड भांड को तोड़ता-फोड़ता किंवा पुनः जोड़ने वाला यह भयंकर निर्घात, ओह ! अभी भी नहीं शान्त हो रहा ।)

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर में अद्भुत रस का निम्न उदाहरण दिया है—

चराचरजगज्जाल—सदनं वदनं तव ।

गलद्गमनगाम्भीर्यं, दीक्ष्यास्मि हृतचेतना ॥

अर्थात्—(भगवान् श्रीकृष्ण के विवृत मुख को किसी समय देखने पर यशोदा की उक्ति है)—जो स्थावर और जंगम सम्पूर्ण संसार का निवासस्थान है और जिसके सम्मुख आकाश की गम्भीरता भी नष्ट हो जाती है, उस तेरे मुख को देखकर मेरा चैतन्य लुप्त हो गया है—आश्चर्य से मैं हतबुद्धि हो गई हूँ ।)

विचित्र वस्तु को देखने-सुनने से जब आश्चर्य पुष्ट होता है तब अद्भुत रस की अभिव्यंजना होती है। इस रस का विकास वीर रस से हुआ है।

आलम्बन—अलौकिक व्यापार, अद्भुत वस्तु आदि।

उद्दीपन—विस्मयकारक वस्तु की विलक्षणता तथा अलौकिक घटना का आकस्मिक रूप में घटित होना।

अनुभाव—आँखें फाड़कर देखना, पुलक, स्तम्भ, स्वेद, मुख पर हर्ष और घबड़ाहट आदि के चिन्ह आदि।

संचारी—जड़ता, दैन्य, आवेग, शंका, चिन्ता, वितर्क, हर्ष, औस्तुक्य आदि।

स्थायी भाव—आश्चर्य या विस्मय।

देवता—चतुरानन ब्रह्मा।

वर्ण—पीत या पीला।

१—इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोरि कि आन बिसेखा।

देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँस दीन्ह मधुर मुसुकानी।

इसमें राम आलम्बन है; यहाँ-वहाँ बाल रूप में राम को देखना उद्दीपन है; राम की माता का व्याकुल होना अनुभाव है; भय, शंका, वितर्क संचारी है।

२—ब्रज बछरा निज धाम करि फिरि ब्रज लखि फिरि धाम।

फिरि इत लखि फिरि उत लखै ठगि बिरंचि तिहि ठाम॥

इसमें बछड़े आलम्बन है; ब्रह्मा का उन्हें पुनः ब्रज में देखना उद्दीपन है; उनका अपने धाम और ब्रज में पुनः पुनः देखना अनुभाव है तथा स्मृति, वितर्क और स्तम्भ संचारी है।

३—सात दिन सात राति करि उतपात महा,

माहत झकोरे तरु तोरं दीह बुख में।

कहे पदमाकर करी त्यों धूम धारन हूँ,

एते पै न कान्ह कहे आयो रोष-रुख में।

छोर छिगुनी के छत्र ऐसो गिरि छाइ राख्यो,

ताके तरं गाय गोप गोपी खरी सुख में।

देखि देखि मेघन की सैन अकुलानी, रह्यो,

सिन्धु में न पानी अरु पानी इंदुमुख में।

यहाँ गोवर्द्धन पर्वत को अपनी छिगुनी पर उठाये और उसके नीचे गोपी ग्वालबालों को आश्रय दिये हुये कृष्ण आलम्बन है। मेघों का गर्जन-तर्जन करके वर्षा करना और इससे कृष्ण का तनिक भी रोष में न आना उद्दीपन है। गाय-गोपों आदि का सुख से खड़े होने के कारण रोष-क्षोभ आदि अनुभाव है तथा मेघों की व्याकुलता आदि संचारी है।

४-दुवन दुसासन दुकूल गह्यो दीनबंधु,
 दीन हूँ के द्रुपद कुमारी यों पुकारी है ।
 छाँड़े पुरुषारथ कौ ठाढ़े पिय पारथ से,
 भीम महाभीम ग्रीव नीचे को निहारी है ।
 अंबर लौं अंबर अमर कियो 'बंसीधर',
 भीषम करन द्रोन सीमा यों निहारी है ।
 सारी मध्य नारी है कि नारी मध्य सारी है कि,
 सारी ही कि नारी है कि सारी है कि नारी है ॥

यहाँ भीष्म आदि के हृदय में द्रौपदी के चीर-हरण काल में साड़ी के अंबर पर अंबर लगते देख कर अद्भुत रस की व्यंजना हुई है ।

५-बोलि उठे चकित सुरासुर जहाँ ही तहाँ,
 हा हा यह चीर है की धीर वसुधा कौ है ।
 कहै रतनाकर कै अम्बर दिगम्बर कौ,
 कैधों परपंच कौ पसार विधिता कौ है ।
 कैधों सेसनाग की असेस कंचुली है यह,
 कैधों ढंग गंग की अभंग महिमा कौ है ।
 कैधों द्रौपदी की कहना कौ बरुनालय है,
 पारावार कैधों यह कान्ह की कृपा कौ है ॥

इसमें द्रौपदी के बढ़ते हुये चीर ने देवता और दानवों को विस्मय से भर दिया है ।

रौद्र रस

शत्रु की चेष्टा, मानभंग (अपमान), गुरुजनों की निन्दा, देश और धर्म के निरादर आदि से जहाँ प्रतिशोध लेने की भावना जागृत होती है वहाँ रौद्र रस प्रकट होता है । यह प्रारम्भिक चार रसों में से एक है ।

आलम्बन—शत्रु एवं उसका पक्ष आदि ।

उद्दीपन—शत्रु द्वारा किये गये अनिष्ट कार्य, अपमान, अपकार, अविक्षेप, कटु शब्द आदि ।

अनुभाव—नेत्रों व मुखमण्डल पर लालिमा, भृकुटि भंग, दाँत किटकिटाना, अधरों का चबाना, आँखें तरेरना, कटु शब्दों का उच्चारण करना, गर्जन-ताड़न, शस्त्रों का उठाना, आवेग, रोमांच, कंप, अपने कार्यों की प्रशंसा, प्रस्वेद आदि ।

संचारी—उग्रता, अमर्ष, उद्वेग, मद, असूया, श्रम, स्मृति, आवेग आदि ।

स्थायी भाव—क्रोध ।

देवता—रुद्र ।

वर्ण—अरुण या रक्त ।

प्रबल और उद्दीप्त क्रोध एक ऐसा आवेश है जिसमें संहारक शक्ति निहित है । अनिष्ट करनेवाले प्रतिपक्षी से प्रतिशोध लेने की भावना क्रोध में निरन्तर जागृत रहती है । गीता में क्रोध को पापों का मूल (जड़) कहा गया है । यद्यपि हम क्रोध की प्रशंसा नहीं कर सकते फिर भी क्रोध के नष्ट होने पर आत्म-गौरव की भावना समाप्तप्राय हो सकती है । अभिलाषाओं की पूर्ति न होने, आशा से विपरीत परिणाम होने, मार्ग में आई हुई बाधाओं को पार न कर सकने, रोग या हानि के कारण विवेक नष्ट हो जाने, विरोध में आन्दोलन होने, अपवाद होने, असत्य, अन्याय, दुष्टाचार न सह सकने, अवलाओं, अनाथों और दीनों पर अत्याचार होने तथा दुःखप्रद रूढ़ियों के कारण समाज का अनाट आदि होने से क्रोध का प्रादुर्भाव होता है । आये दिन युद्ध के बादल इसी क्रोध की हिसक वृत्ति के परिणाम हैं । श्राप या गालियाँ देना इसके वाचनिक व्यापार हैं और अस्त्र-शस्त्रों का हाथों से प्रहार करना कायिक ।

कुछ विद्वानों का विचार है कि रौद्र और वीर दोनों ही के आलम्बन शत्रु हैं और शत्रु की चेष्टायें ही दोनों की उद्दीपन हैं ।^१ अमर्ष, आवेग, उग्रता आदि अनेक संचारी भी दोनों में समान हैं अतः इन दोनों रसों का पृथक्-पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है । परन्तु यदि विचार करें तो ज्ञात होगा कि उक्त समानतायें होते हुए भी दोनों के स्थायी भाव भिन्न हैं । रौद्र का स्थायी भाव क्रोध है और वीर का उत्साह । क्रोधी, अनुदार, असहिष्णु तथा विनाशमूर्ति होता है जब कि वीर, उदार और सहिष्णु होता है । अयोग्य या निर्बल पर वीरता का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता किन्तु उस पर क्रोध उमड़ सकता है । क्रोध का सम्बन्ध प्रायः वर्तमान से रहता है और उत्साह का भविष्य से । रौद्र तथा युद्ध वीर का भेद प्रायः स्पष्ट ही है क्योंकि रौद्र रस में मुँह लाल हो उठता है तथा आँखें जलने लगती हैं किन्तु युद्ध वीर रस में ऐसा नहीं होता । अस्तु इस विशिष्ट पार्थक्य से दोनों रसों को भिन्न मानना ही उचित है जैसा अधिकांश आचार्यों का अभिमत है ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने शिवधनुर्भंग से कुपित परशुराम की निम्न उक्ति रौद्र रस के उदाहरण में दी है—

१. वीर—‘आलम्बन विभावास्तु, विजेतव्यादयो मताः ।’

रौद्र—‘आलम्बनमरिस्तत्र’ ।

वीर—‘विजेतव्यादिचेष्टाद्याः तस्योद्दीपनरूपिणः ।’

रौद्र—‘तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ।’ साहित्यदर्पण ।

नवोच्छलित - यौवन-स्फुरदखर्वगर्वञ्जरे ,
 मदीय गुरू कामुकं गलित साध्वसं वृश्चति ।
 अयं पततु निदर्यं बलितदृप्त भूमृद्वल-
 स्खलद्रुधिरचस्मरो मम परश्वद्यो भैरवः ॥

(अर्थात्—उछलती हुई युवावस्था के कारण बढ़े हुए अत्यधिक अभिमान रूप ज्वर से युक्त किसी ने निर्भय होकर मेरे गुरु शिवजी के धनुष को तोड़ डाला है । अच्छा अब युद्ध में काटे गये गर्वीने भूषों के गले से टपकते हुए शोणित को पीने वाला यह भयंकर फरसा उसके ऊपर गिरे ।)

वेणीसंहार में अश्वत्थामा का क्रोध इस प्रकार अभिव्यंजित हुआ है—

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
 मनुज पशुभिर्निर्मयोर्देर्भवद्भ्रूढ्वायुधैः ।
 नरक रिपुण सार्धं तेषां समीमकिरीटिन-
 मयमहसृङ्भेदोमांसः करोमि दिशां बलिम् ॥

(अर्थात्—पाण्डव वीरो ! कुरु प्रवीरो ! अभी अभी देख लो कि कृष्ण, भीम, अर्जुन और उन उन निमर्याद, शस्त्रधारी नर पशुओं के खून, चर्बी और मांस के लोथड़ों से, जिन्होंने यह द्रोणवध रूप महापाप किया था, उम घोर पातक में राय दी या इस कुकर्म के साथी बने, कैसे दिशाओं की बलि चढ़ा देता हूँ ।)

१— भीम कहै प्यारी ! सारी कौरवन नारिन कौ ,
 रिकत वेस-भूसा मुक्त-केसा करि डारौंगो ।
 चण्ड भुज-दण्डन में प्रचण्ड या गदा कौ लै ,
 मण्डल भ्रमाय सिंहनाद कै प्रचारौंगो ।
 जंघन के संग ही घमण्ड करि भंग जग ,
 दुष्ट दुरजोधन कौ बेगि ही पछारौंगो ।
 रक्त सौ रंगे ही उन रक्त भए हायन सौ ,
 खुले केस बाँधि तेरी बेनी कौ सम्हारौंगो ॥

यहाँ द्रौपदी का शोक विभोर होना आलम्बन है ; दुर्योधन आदि द्वारा किये गये अपमान का स्मरण उद्दीपन है ; भीम के वाक्य अनुभाव हैं और गर्व, स्मृति, उग्रता आदि संचारी हैं ।

२— श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्षोभ से जलने लगे ।
 सब शील अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे ।
 संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े ।
 करते हुए यह घोषणा वे हो गए उठकर खड़े ।
 उस काल मारे क्षोभ के तनु काँपने उनका लगा ।
 मानो पवन के जोर से सोता हुआ अजगर जगा ॥

इसमें अभिमन्यु के वध पर कौरवों का हर्ष आलम्बन है; कृष्ण के पूर्व कथित वाक्य उद्दीपन हैं, अर्जुन के वाक्य अनुभाव हैं तथा अमर्ष, उग्रता, गर्व आदि संचारी हैं ।

३- अधम चढब गहि गढब अति, चहि रावन को काल ।

दृग कराल मुख लाल करि, दौरेउ दसरथ लाल ॥

यहाँ रावण आलम्बन है, उसके कार्य उद्दीपन हैं, राम का लाल मुंह और आँखें अनुभाव हैं तथा गर्व, अमर्ष और उग्रता संचारी हैं । इस प्रकार रौद्र रस की पुष्टि हो गई है ।

४- लंका ते निकसि आए जुत्थन के जुत्थ लखि ,

कूद्यो वज्र अंग किटकिटी दै झपट्टि कं ।

सुनि सुनि गवित वचन दुष्ट पुष्टन के ,

मुष्ट बाँधि उच्छलत सामने सपट्टि कं ।

‘ग्वाल कवि’ कहै महा मत्ते रत्ते अक्ष करि ,

धावै जित्त तित्त परे वज्र सो लपट्टि कं ।

चढबत अधर फँकै पढबत उत्तंग तुंग ,

दढबत दनुज के दलन हैं दपट्टि कं ॥

इसमें रावण का दल आलम्बन है; उसके गर्व भरे वाक्य उद्दीपन हैं; हनुमान का दाँत किटकिटाना, पर्वतों की चोटियों को फेंकना आदि अनुभाव हैं तथा उग्रता, अमर्ष आदि संचारी हैं परन्तु रौद्र रस का परिपाक नहीं हुआ है क्योंकि हनुमान जी के इस वीरत्व वर्णन में देव-विषयक रति-भाव है ।

५- मातु पितहिं जनु सोच बस करसि महीप किसोर ।

गर्भन के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर ॥

यहाँ शंकर के धनुष की महिमा घटाने वाले राम और लक्ष्मण आलम्बन हैं, लक्ष्मण के कठोर उत्तर उद्दीपन हैं, परशुराम के वचन, मुँह पर क्रोध, फरसे की महिमा और उसे दिखाना अनुभाव हैं तथा उग्रता, असूया, मद आदि संचारी हैं ।

करुण रस

बन्धु-विनाश, बन्धु वियोग, धर्म के अपघात, द्रव्यनाश, प्रेमपात्र के चिर वियोग आदि अनिष्ट से करुण रस की अभिव्यंजना होती है ।

आलम्बन—बन्धु-विनाश, प्रिय वियोग, पराभव आदि ।

उद्दीपन—प्रिय बन्धु जनों का दाह कर्म, उनके निवासस्थान, चित्र, वस्त्रा-भूषण आदि का दृश्य, उनके प्रेम, यश तथा अन्यान्य कार्यों का श्रवण एवं स्मरण आदि ।

अनुभाव—रुदन, उच्छ्वास, छाती पीटना, भूमि-पतन, मूर्च्छा, प्रताप, देव-निन्दा, विवर्णता, कम्प, मुख सूखना, स्तम्भ आदि ।

संचारी भाव—निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, प्रेम, दैन्य विषाद, जड़ना, उन्माद, चिन्ता आदि ।

स्थायी भाव—शोक ।

देवता—यम ।

वर्ण—कपोत ।

करुण रस का विकास रौद्र रस से हुआ है । यह ध्यान में रखना चाहिए कि एक ओर यह जहाँ शृंगार के विप्रलम्भ से संचारी रूप में संबद्ध है और वियोग की चरमावस्था में सहायक है तथा ऐसे असह्य वातावरण का चित्रण करना है कि उसकी किंचित् ही वृद्धि में रति का स्थान शोक ले सकता है वहाँ दूसरी ओर वह विनाश के सम्बंधित होने के कारण अपने मूलाधार रौद्र से संलग्न है ही ।

राम के वनवास से शोकाकुल दशरथ की दैवनिन्दा देखिए—

विपिने षष्ठ जटानिबन्धनं तव चेदं षष्ठ मनोहरं वपुः ।

अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खंगेन शिरीषकर्त्तनम् ॥

(अर्थात्—कहाँ तो तुम्हारा यह कोमल शरीर और कहाँ तुम्हारा वन में जटा-जूट का कठोर बन्धन । इन दोनों का मेल विधि विडंबना है । यह तो ऐसा है जैसे तलवार से शिरीष के फूल को काटना ।)

महाभारत के स्त्री पर्व में करुण रस का परिपोष भलीभाँति देखा जा सकता है । भवभूति का उत्तररामचरित तो करुण रस को अंगी बना कर निर्मित हुआ है ।

पंडितराज जगन्नाथ करुण रस का निम्न उदाहरण देते हैं—

अपहाय सकल बान्धव-चिन्तामुद्रास्य गुरुकुल प्रणयम् ।

हा तनय ! विनय शालिन् ! कथमिव परलोकपथिकोऽभूः ॥

(अर्थात्—हाय ! अति विनीत पुत्र ! तू सब बन्धुओं की चिन्ता त्याग कर और गुरुकुल के प्रेम को भी बिसारकर कैसे परलोक का पथिक हो गया ।)

करुण रस के चार भेद किये गये हैं—वन्धु विनष्टजन्य, वन्धु वियोगजन्य, धन वैभव विनाशजन्य तथा पराभव जनित ।

- १— जो भूरि भाग्य भरी विदित थी अनुपमेय सुहागिनी ,
हे हृदय वल्लभ ! हूँ वही अब मैं महा हतभागिनी ।
जो साथिनी होकर तुम्हारी थी अतीव सनाथिनी ,
हूँ अब उसी मुझ सी जगत में और कौन अनाथिनी ।

यहाँ अभिमन्यु का मृत शरीर आलम्बन है, उसके वीर कार्यों का स्मरण उद्दीपन है, उत्तरा का क्रन्दन अनुभाव है तथा स्मृति, दैन्य, चिन्ता आदि संचारी हैं।

२- भीषम कौं प्रेरीं कर्न हूँ कौ मुख हेरीं हाथ ,
सकल सभा की ओर दीन दृग फेरीं में ।
कहै रत्नाकर त्यों अन्ध हूँ के आगें रोइ ,
खोइ दीठि चाहति अनीठिहि निबेरीं में ।
हारी जदुनाथ जदुनाथ हूँ पुकारि नाथ ,
हाथ दाबि कढ़त करेजहि दरेरीं में ।
देखि रजपूती की सकल करतूति अब ,
एक बार बहुरि गुपाल कहि टेरीं में ।

यहाँ द्रौपदी की उक्ति में करुण रस व्यंजित हुआ है।

३- वह कौन रोता है वहाँ-
इतिहास के अध्याय पर,
जिसमें लिखा है, नौजवानों के लहू का मोल है
प्रत्यय किसी बूढ़े कुटिल नीतिज्ञ के व्यवहार का,
जिसका हृदय उतना मलिन जितना कि शीर्ष बलक्ष है,
जो आप तो लड़ता नहीं,
कटवा किशोरों को मगर,
आश्वस्त होकर सोचता,
'शोणित बहा, लेकिन गई बच लाज सारे देश की।

—कुरुक्षेत्र (दिनकर)

इसमें किशोरों का कटना और उनका शोणित बहना आलम्बन है; 'नौजवानों के लहू का मोल है' वाक्य उद्दीपन है; नेपथ्य में रुदन अनुभाव है तथा स्मृति, चिन्ता और वितर्क संचारी हैं।

४- अन्दर ते निकसीं न मंदिर को देख्यो द्वार ,
बिन रथ पथ ते उघारे पायें जाती हैं ।
हवा हू न लागती ते हवा तें बिहाल भई ,
लाखन की भीर में सँभारती न छाती हैं ।
भूषण भनत सिवराज तेरी धाक सुनि ,
हाथदारी चीर फारि मन झुंझलाती हैं ।
ऐसी परी नरम हरम बादशाहन की ,
नासपाती खातीं ते बनासपाती खाती हैं ।

यहाँ करुण की व्यंजना होकर भी करुण रस की पुष्टि नहीं हो सकी है क्योंकि प्रधानतः शिवाजी की प्रशंसा है अस्तु राजा-विषयक रति-भाव है

और यवन महिलाओ की करुणापूर्ण दशा उसका अग हो जाने के कारण सचारी है ।

करुण रस मे प्रिय से चिर वियोग हो जाता है और करुण विप्रलम्भ रस मे मरणातक दशा की प्राप्ति पर भी मृत्यु नहीं होती तथा प्रिय के मिलन की सभावना होने से आशा लगी रहती है—यही इन दोनो मे अन्तर है ।

वीभत्स रस

वीभत्स रस यद्यपि प्रारंभिक चार रसो मे से एक है परन्तु नव रसो के अन्तर्गत इसकी गणना अनेक विद्वान् इस तर्क के आधार पर नहीं करते कि यह किसी काव्य नाटक आदि मे प्रधान या अंगी नहीं हुआ है । वैसे है तो यह सत्य परन्तु यदि यह सम्भव करके दिखाया भी जाता तो उचित न होता । जो भी हो इसके प्रमाण थोड़े हो वा बहुत इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि अनेक सचारियो की अपेक्षा इस रस का आस्वादन बड़ी ही तीव्रता और उत्कटता से होता है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

श्मशान, शव, रक्त, मास, मज्जा, हड्डी आदि का वर्णन—विवेचन ही वीभत्स रस के लिए केवल वाञ्छित नहीं है वरन् कोई भी वस्तु जिसके देखने, सुनने, कल्पना करने, स्पर्श करने आदि से जुगुप्सा प्रसूत होकर इस रस को उत्पन्न कर सकती है । शारीरिक जुगुप्सा ही मानसिक जुगुप्सा को परिर्वर्द्धित करती है । जुगुप्सा दो प्रकार की होती है—१—विवेकजा (जिसमे स्त्री-पुत्र, सपत्ति को घृणा की दृष्टि से देखने पर विराग का प्रवर्द्धन होता है) और प्रायिकी (जिसमे घृणित वस्तुओ का उल्लेख होता है) । साहित्य मे अधिकांश उदाहरण प्रायिकी जुगुप्सा के ही पाये जाते हैं ।

घृणित वस्तु के देखने सुनने से जहाँ घृणा या जुगुप्सा का परिपाक होता है वहाँ वीभत्स रस की पुष्टि होती है ।

आलम्बन—दुर्गन्धित मांस, रुधिर, चर्बी, वमन, श्मशान, शव, मलमूत्र, खखार, दुर्गन्धित द्रव्य आदि घृणोत्पादक वस्तुये और विचार ।

उद्दीपन—मासादि मे कीड़े पड जाने का दृश्य आदि, गीधो का मास नोचना, मासभक्षी जीवो का मासार्थ युद्ध, कुत्सित तथा विकृत रग-रूप आदि ।

अनुभाव—थूकना, मुँह फेर लेना, आँखे बन्द कर लेना, स्वयं वमन करने लगना आदि ।

सचारी—मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि, मरण, जडता, चिन्ता, उन्माद, निर्वेद, ग्लानि, दैन्य आदि ।

स्थायीभाव—जुगुप्सा ।

देवता—महाकाल ।

वर्ण—नील ।

वीभत्स के अधिदेवता को महाकाल मानने का आधार यह है—

वीभत्सस्याधिष्ठानं महाकालोऽसृगात्मकः ।

प्रलयेऽस्य तवस्तीति सोऽयमस्याधि देवता ।

पंडितराज जगन्नाथ ने अपने रसगंगाधर में वीभत्स का निम्न उदाहरण शमशान के चित्रण में दिया है ।

नखैर्विदारितान्त्राणां शवानां पूयशोणितम् ।

आननेष्वनूलिम्पन्ति हृष्टा वेतालयोषितः ॥

(अर्थात्—हर्षयुक्त वेतालों की स्त्रियाँ नखों से मुरदों की अँतड़ियों को फाड़कर मवाद और रुधिर को अपने मुख पर लेप रही हैं ।)

भवभूति ने अपने मालतीमाधव नाटक में माधव की जुगुप्सा निम्न दृश्य से अभिव्यजित कराई है—

उत्कृत्यो कृत्य कृन्तिं प्रथममथ पृथूच्छोभ्यूषांसि मांसा—

न्यसस्फिक्पृष्ठपिण्डायवयव सुलभान्युग्रपूती निजधवा ।

अति पर्यस्त नेत्रः प्रकटित दशनः प्रेतरकः करंका—

दंकस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि कव्यमव्यग्रमन्तिः ॥

(अर्थात्—कैसा घिनीना दृश्य है । एक महादरिद्र प्रेत अपनी जाँघों पर मुर्दे को लिटाये है, उसकी हड्डियों से चमड़े को उधेड़ रहा है, उसके कन्धे, चूतड़, पीठ, पिंडली आदि में चिपके बुरी तरह दुर्गंध करने वाले, फूले सड़े मांस को खाता जा रहा है । इस डर से कि कहीं दूसरा प्रेत न आ धमके, चारों ओर आँखें फाड़-फाड़ कर देख रहा है, दाँत किटकिटा रहा है और अभी तो उसने ऐसा किया कि क्या कहा जाय । कहीं-कहीं हड्डियों की जोड़ में घँसे मांस को भी बड़ी प्रसन्नता से खाता दिखाई पड़ रहा है ।)

हिन्दी साहित्य में वीभत्स रस के उदाहरणों की कमी नहीं है । देखिये—

अति ताप तें अस्थि पसीजन सौं,

कढ़े मेद की बूंदन जो टपकावें ।

तिन धूम-धुमारिनु लोथिनि कौं,

ये पिसाच चितानु सौं खेंचि कं खावें ।

टिलियाइ खस्यो तचि मांस सबे,

जिहि सौ जुग संधिहु भिन्न लखावें ।

अस जंघनली-गत मज्जा मिली,

सब पी चरबी परबी-सी मनावें ॥

यहाँ आधे जले हुए शव आलम्बन हैं, हड्डियों से मेद टपकाना, पिशाचों

का चरबी पीना आदि उद्दीपन है, इस दृश्य का देखना अनुभाव है तथा मोह आदि संचारी हैं ।

२- आवत गलानि जौ बखान करौ ज्यादा वह.

मादा-मल-मूत औ मज्जा की, सलीती है ।

कहै पदमाकर जरा तो जागि भीजी तब,

छीजी दिन-रैन जैसे रैन ही की भीती है ।

सीतापति राम में सनेह यदि पुरो कियो,

तौ-तौ दिव्य देह जग-जातना सौं जीती है ।

रीती राम-नाम तें रही जौ बिना काम वह,

खारिज खराब हाल खाल की खलीती है ॥

यहाँ वीभत्सात्मक वर्णन होने पर भी वीभत्स रस का परिपाक नहीं होने पाया है । शरीर की वीभत्सता का चित्रण करके राम की भक्ति को प्रधानता देने के कारण जुगुप्सा भाव स्थायी न होकर संचारी हो गया है अस्तु देवता विषयक रतिभाव की पुष्टि ही होती है ।

३- चटकत बाँस कहूँ जरत दिखात चिता,

मज्जा में बास मिल्यो गंधवाह गहिए ।

काहूँ थल आँत-पाँत दग्ध देह की दिखात,

नील-पील ज्वाल पुंज भाँति बहु लहिए ।

केतिक कराल गीध चील माल जाल रूप,

मांसहारी जीवन जमात लखि घनिए ।

ऐसे समसान माहि शान्त हेतु शब्द यही,

राम राम सत्य है, श्री राम नाम कहिए ॥

इस छन्द के अन्तिम चरण में शान्त रस के विभावों का उल्लेख है परन्तु उसके अनुभावों और संचारियों का नहीं इसलिए इस प्रकार के वर्णनों को जुगुप्सा भाव को स्थायी करने के कारण वीभत्स रस के अन्तर्गत ही रखना चाहिए ।

भयानक रस

किसी शक्तिशाली का अपराध करने पर या भयंकर वस्तु को देखने से इस रस की निष्पत्ति होती ।

आलम्बन-व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु, सुनसान स्थल, श्मशान, वन, शत्रु, भूत, प्रेत आदि ।

उद्दीपन-असहाय होना, शत्रु या हिंसक जीव की भयानक चेष्टा, निस्तब्धता, निर्जनता आदि ।

अनुभाव—स्वेद, कंप, रोमांच, रुदन, कंठावरोध आदि ।

संचारी—जुगुप्सा, शंका, ग्लानि, आवेग, चिन्ता, मूर्च्छा, अपस्मार, त्रास, दीनता, मोह, आवेग आदि ।

स्थायीभाव—भय ।

देवता—काल

वर्ण—कृष्ण या काला ।

काल का नाम ही भय का कंपन उत्पन्न करने के लिए यथेष्ट है और काला वर्ण उस भय को और भी अधिक तीव्र करनेवाला होता है ।

भयानक रस का विकास स्थायी भाव जुगुप्सा वाले वीभत्स रस से हुआ है । जुगुप्साकारक दृश्य जहाँ एक ओर घृणा का भाव पैदा करते हैं वहाँ दूसरी ओर भय को भी जन्म देते हैं । जैसे श्मशान का दृश्य यदि घृणा का अभिव्यंजक है तो साथ ही भय का भी । यों तो घृणा के लिए कहीं भी परिस्थितियाँ और वातावरण हो सकते हैं परन्तु युद्धभूमि में तो इसके लिए अनिवार्य साधन सुलभ हो जाते हैं । युद्ध की समाप्ति पर युद्धस्थल घायलों की चीख पुकार, कौये, श्रृगाल, गिद्ध आदि द्वारा शवों को नोंच झपट कर खाना, मांस मज्जा हड्डियों आदि का बिखरना, रक्त की धारा बहना आदि दृश्य जुगुप्सा उत्पन्न करने वाले होते हैं ।

भयंकर परिस्थिति मानवों को ही नहीं इतर प्राणियों को भी त्रस्त और जड़ बना देनेवाली होती है । बिल्ली के आगे चूहे की, भेड़िये के सामने बकरी की, चीते के सामने कुत्ते की, तेंदुए के सामने बन्दर की, लोमड़ी के सामने बतख की दशाओं आदि से हम में से अधिकांश परिचित हैं । भय की स्थिति में किसी भी बड़ी हानि यहाँ तक कि प्राण गँवाने तक की विपद् रहती है इसी से उसका प्रभाव हृदय पर अधिक पड़ता है ।

भय के तीन प्रकार हैं—(१) वास्तविक—जैसे डाकू आदि के कारण, (२) कल्पित—जैसे भूत प्रेत आदि से और (३) भ्रम जनित जैसे सर्प आदि से । दण्ड, लोकापवाद और आन्दोलन भी भय उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं । क्रोध की भाँति भय भी उपयोगी और अनुपयोगी होता है । जिसमें जितना अधिक साहस और शौर्य होगा वह उतना ही निर्भय और निडर सिद्ध होगा । आजकल भयंकर अपराधों में वृद्धि का कारण ईश्वरीय और राजदंड के प्रति उपेक्षा है ।

पंडितराज जगन्नाथ ने भयानक रस का निम्न उदाहरण दिया है—

इयेनमम्बरतलादुपागतं शुष्यदाननदिलोविलोकयन् ।

कम्पमानतनुराकुलेक्षणः, स्पन्दितुं नहि शक लावकः ॥

(अर्थात्—विवश लावक ने जब गगन तल से झपटते हुए बाज को देखा तभी

उसका मुँह सूख गया, देह काँपने लगी, आँखें आकुल हो गईं, इस तरह वह हिल न सका ।)

- १- कर्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है ,
 कुरुराज चिन्ताग्रस्त मेरा जल रहा सब गात है ।
 अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिए ,
 या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिए ॥

इसमें अभिमन्यु के वध का अपराध आलम्बन है और अर्जुन की सूर्यास्त तक जयद्रथ का वध करने की प्रतिज्ञा उद्दीपन है, जयद्रथ का स्तब्ध होना, गात्र जलना आदि अनुभाव हैं तथा त्रास और मोह आदि संचारी हैं ।

एक ओर अजगरहिं लखि एक ओर मृगराय ।

विकल बटोही बीच ही पर्यो मूरछा खाय ॥

इसमें अजगर और सिंह आलम्बन हैं, उनकी भयभीत करनेवाली आकृतियाँ तथा चेष्टायें उद्दीपन हैं, पथिक की व्याकुलता और मूर्च्छा अनुभाव हैं तथा स्वेद, कम्प, रोमांच, आवेग आदि संचारी हैं ।

शृंगार रस में अन्य रसों को घटाने वाले केशव की रसिकप्रिया से 'श्रीकृष्ण को भयानक रस' का उदाहरण लीजिए—

रोष में रस के बोल विष तें सरस होत

जानें सो प्रबल पित्त दाखें जिन चाखी हैं ।

'केसोदास' दुख दीये लायक भयेऽब तुम

आज लगि जाकी जी में आँखें अभिलाषी हैं ।

सूधे ह्वैं सुधारिबैं कौं आये सिखवन मोहिं ,

सूधे हूँ मैं सूधी बातें मो सों उन भाखी हैं ।

ऐसे में हौं कैसे जाऊँ दुरि हूँ धौं देखौ जाइ ,

काम की कमान सी चढ़ाइ भौंह राखी हैं ॥

- ४- कत्ता के कसैया महावीर सिवराज तेरी ,

रुम के चकत्ता लौं हूँ संका सरसात है ।

कासमीर काबुल कलिंग कलकत्ता अरु ,

कुल करनाटक की हिम्मत हेरात है ।

विकट विराट वेग व्याकुल बलख वीर ,

बारहो बिलाइत सकल बिललात है ।

तेरी धाक धुंधरि धरा में अरु धाम धाम ,

अन्धाधुन्ध आँधी सी हमेस हहरात है ॥

यद्यपि यहाँ भय की प्रतीति होती है परन्तु वह संचारी होकर ही रह गया है क्योंकि इसमें राजा शिवाजी विषयक रति भाव की प्रधानता है ।

५- कोल कच्छ देव फंत फलत फनी के मुख ,
 धँसि गई धरा धराधर उर धरके ।
 हरके रहे न भानु भरके तुरंग कहूँ ,
 भागि चले वाहन विरंचि हरि हर के ।
 श्रंपति गगन झुकि कंपित भुवन हल ,
 कंपित दुवन गुन खंचे रघुबर के ।
 दंती दबे आसन सकाने पाक सासन ,
 न कोऊ थिर आसन सरासन के करके ॥

इसमें शंकर के पिनाक के टूटने का शब्द ही आलम्बन है; धरती का धसकना पर्वतों का काँपना आदि उद्दीपन है; इन्द्र और दिग्गजों का विचलित होना अनुभाव तथा त्रास, दैन्य, शंका आदि संचारी हैं ।

शान्त-रस

तत्त्वज्ञान अथवा संसार से वैराग्य होने पर शान्त रस की उत्पत्ति होती है । आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में आठ रसों के उपरान्त नवें शान्त रस का उल्लेख किया है और शम को उसका स्थायी भाव बताया है । किंतु कुछ विचारकों के विमर्श से शान्त रस का स्थायी भाव शम किसी के भी मन में स्थायी नहीं कर सकता, वह रस की कोटि तक नहीं पहुँचता, भाव की कोटि तक ही रह जाता है । अनुश्रुति है कि माता गांधारी ने अपने पुत्रों के शव एक के ऊपर एक रखे और फिर उन पर चढ़कर अमरुद तोड़कर खाया—यह किस प्रकार का शोक तथा किस प्रकार का निर्वेद था ?

आचार्य मम्मट ने अपने काव्य को शान्त का स्थायी भाव माना है और कहा है कि तत्त्वज्ञान में जो निर्वेद होता है वह स्थायी भाव है तथा इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति के कारण जो निर्वेद होता है वह संचारी है ।

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ का कथन है कि जिसमें न दुःख हो, न सुख हो, न कोई चिन्ता हो, न राग-द्वेष हो और न कोई इच्छा ही हो उसे शान्त रस कहते हैं—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेष रागौ न च काचिदिच्छा ।

रसः स शान्तः कथितो मुनिन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शम प्रधानः ॥

यहाँ शंका हो सकती है कि यदि शांत रस का यह स्वरूप मान लिया जाय तो शान्त रस की स्थिति मोक्ष दशा में ही हो सकेगी और उस दशा में विभावादि का ज्ञान होना असम्भव हो जायगा फिर विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के कारण शान्त रस की सिद्धि किस प्रकार मानी जा सकती है । इसका समाधान यह किया गया है कि वियुक्त और युक्तवियुक्त दशा में जो शम रहता

है वही स्थायी भाव होकर शान्त रस में परिणत हो जाता है और उस अवस्था में विभावादि का ज्ञान होना भी सम्भव है। यहाँ मोक्ष दशा या निर्विकल्प समाधि का शम अभीष्ट नहीं है। शान्त रस में जो सुख का अभाव कहा गया है वह विषयजन्य सुख का अभाव है न कि सभी प्रकार के सुखों का अभाव क्योंकि संसार में जो विषय जन्य सुख तथा स्वर्गीय महासुख हैं वे सब मिलकर भी तृष्णाक्षय (शान्ति) से उत्पन्न होने वाले सुखों के सोलहवें अंश के समान भी नहीं हो सकते—

यच्च काम सुखं लोके, यच्च दिव्य महत्सुखम् ।

तृष्णाक्षय सुखस्यैतं नहितः षोडशीं कलाम् ॥

अतएव शम अवस्था में सुख अवश्य होता है और वह अनिर्वचनीय होता है।

आचार्य भरत ने आठ रसों के देवता और वर्ण तो बताये किन्तु शान्त रस के नहीं। कविराज विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में श्री नारायण को शान्त का देवता तथा कुन्दश्वेत या चन्द्रश्वेत को उसका वर्ण बताया है—

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तम प्रकृतिमंतः ।

कुन्देन्दु सुन्दरच्छायः श्री नारायण देवतः ॥ ३-२४६

आलम्बन—संसार की असारता क्षणभंगुरता का ज्ञान अथवा ईश्वर चिन्तन आदि।

उद्दीपन—सत्संग, तीर्थाटन, पुराण, धर्मशास्त्र व दर्शन शास्त्र का अध्ययन, एकान्त वन सांसारिक झंझट, कृषियों के आश्रम आदि।

अनुभाव—रोमांच, संसार भीरुता, अध्यात्मशास्त्र का चिन्तन आदि।

संचारी—निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, उद्वेग, ग्लानि, दैन्य, असूया, जड़ता आदि।

स्थायी भाव—निर्वेद या शम।

कविराज विश्वनाथ ने शान्त रस का निम्न उदाहरण दिया है—

रथ्यान्तश्चरतस्तथा धृतजरत् कन्थालवस्याध्वगैः

सत्रासं च स कौतुकं च सदयं दृष्टस्यतैर्नागरैः ।

निर्व्याजीकृतचित्तमुधारसमुदा निद्रायमाणस्य मे

निःशंकः करटः कदा करपुटी भिक्षा विलुण्ठिष्यति ॥

(अर्थात्—मेरा कब ऐसा सौभाग्य होगा जब कि फटी-नुची गुदड़ी लपेटे, गली-गली घूमते मुझ पर नगर-निवासी लोग कभी मस्त, कभी कुतूहल भरी और कभी दयापूर्ण दृष्टि से देख पायेंगे। ओह ! वह कौन सा दिन होगा जब कि मैं पारमार्थिक आनन्द रूप अमृतपान में मग्न संसार से आखें फेर लूँगा और मेरे करपुट के भिक्षाकण निःशंक कौओं द्वारा चुन लिये जायेंगे।)

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा शान्त का उदाहरण भी दृष्टव्य है—

मलयानिल काल कूटयो-रमणीकुन्तल-भोगिभोगयोः ।

इवपचात्मभुवनिरन्तरा ममजाता परमात्मनि स्थितिः ॥

(अर्थात्—मलय पर्वत के पवन और विप में, कामिनियों के केश-कलाप और सर्प की फणि में एवम् चाण्डाल तथा ब्रह्मा में तुल्य अर्थात् भेद-भाव रहित मेरी स्थिति परमात्मा में हो गई है ।)

१- वन वितान रवि समि दिया पल भल मल्ल प्रवाह ।

अवनि सेज पंखा पवन अब न कछू परवाह ॥—पदमाकर

इसमें लौकिक मुख की क्षण भंगुरता आलम्बन है; प्राकृतिक सुखों को अनायास ही प्राप्त कर लेना उद्दीपन है, निस्पृहता और वक्ता की चिंता विहीनता अनुभाव है तथा धृति, मति औत्मुख्य और हर्ष संचारी हैं ।

२- बोले मुनि यों चिता की ओर हाथ कर

देखो सब लोग अहा क्या ही आधिपत्य है ।

त्याग दिया आप अज नंदन ने एक साथ

पुत्र हेतु प्राण सत्य कारण अपत्य है ।

पा लिया है सत्य सुन्दर सा पूर्ण लक्ष्य

इष्ट सब हमको इसी का आनुगत्य है ।

सत्य है स्वयं ही शिव राम सत्य सुन्दर हैं

सत्य काम सत्य और राम नाम सत्य हैं ॥

यहाँ दशरथ का प्राण-त्याग आलम्बन है, चिता की ओर निर्देश आदि उद्दीपन है, सबका कातर होना अनुभाव है और 'राम नाम सत्य है' के निर्णय से मति, धृति आदि संचारी हैं तथा निर्वेद स्थायी है अस्तु शान्त रस की सम्यक् अभिव्यंजना हो गई है ।

आचार्य केशवदास ने शान्त रस के स्थान पर समरस नाम देकर उसका लक्षण—'सब ते होय उदास मन, बसै एक ही ठौर' बताकर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसे भी शृंगार में घटित किया है । यथा—

३- खारिक खात न दार्योंइ दाख न माखत हूँ सहूँ मेटी इठाई ।

'कैसव' ऊख महूखहु दूखत आई हौं तो यह छाड़ि जिठाई ॥

तो रदनच्छद को रस रंजक चाखि गये करि केहूँ डिठाई ।

ता दिन ते उनि राखी उठाय समेत सुधा वसुधा की मिठाई ॥

आचार्य भिखारीदास ने शान्त रस का निम्न उदाहरण दिया है—

४- भूखे, अधाने, रिसाने, रसनि, हितु-अ-हितून सो स्वच्छ मनैं हैं ।

दूखें भूखन कंबैन काँच, ओ मृत्तिका-मौनिक एक गने हैं ॥

सूल सौ फूल, सौ माल प्रवाल सौ, 'दास' हिये सँम सुख सने हें ।
राम के नाम सों केवल काम, तेई जग जीवन-मुक्त बने हें ॥

५- या लकुटी अरु कामरिया पै जु राज तिहूँ पुर कौ तजि डारौं ।
आठहु सिद्धि नवों निधि कौ मुख नंद की धेनु चराय बिसारौं ॥
'रसखान' कबौं इन आँखिन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं ।
कोटिन हौं कलधौंते के धाम करील के कुंजन ऊपर चारौं ॥

ऐसे छन्दों में देव विषयक रति-भाव (भक्ति) ही प्रधान मानना चाहिये न कि शान्त रस ।

६- बैठि सदा सतसंगहि में विषमानि विषै-रस कीर्ति सदाहीं ।
त्यो पदमाकर झूठि जितौ जग जानि सुजानहि कौ अवगाहीं ।
नाक की नोक में दीठि दिये नित चाहै न चीज कहूँ चित चाहौं ।
संतत संत सिरमनि है धन है धन वे जन बे परवाहीं ॥

इस छन्द के प्रथम तीन चरणों में निर्वेद की व्यञ्जना चौथे चरण में सन्त जनो की महिमा का अंग बन जाती है जिसमें मुनिजन-विषयक रति-भाव की स्थापना होती है तथा निर्वेद संचारी मात्र होकर रह जाना है ।

वत्सल रस

छोटों में बड़ों की रति से वात्सल्य रस का परिपाक होता है । प्राचीन आचार्यों ने अवश्य ही इसे स्वतंत्र रूप से रस की श्रेणी में नहीं रखा है परन्तु रुद्रट (ने प्रेयस रस रूप में), भोज, हरिपाल देव और कविराज विश्वनाथ ने इस रस को पृथक् रूप से मान्यता दी है । वात्सल्य माता-पिता में तो पाया ही जाता है परन्तु माता में सर्वाधिक । माँ का वात्सल्य इतना स्थायी होता है कि वह शिशु के गर्भ में आने के साथ ही बढ़ता है । सौन्दर्य-भावना, मुकुमारता, आशा, शृंगार-भावना, आत्माभिमान आदि अनेक भाव वात्सल्य के सहायक सिद्ध होते हैं । कविराज विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में लिखा है-“भरत मुनि की मान्यता में दसवाँ रस वात्सल्य है जिसे अन्य काव्य नाट्यकोविदों ने भी माना है । इसे इसलिए रस माना गया है क्योंकि इसका चमत्कार अन्य रसों के चमत्कार से अतिरिक्त प्रकार का ही आनन्द है । इसका स्थायी भाव वात्सल्य है । स्नेह के भाजन पुत्र-पुत्री आदि इसके आलम्बन हैं । पुत्रादिकों की चेष्टायें, उनकी विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन हैं । आलिंगन, अंग स्पर्श, शिर-चुम्बन, सस्नेह अवलोकन, रोमांच, आनन्दाश्रु आदि अनुभाव हैं । अनिष्ट-शंका, हर्ष, गर्व आदि व्यभिचारी हैं । इसका वर्ण शुभ्र पीत (पद्म गर्भ) है और इसके देवता गौरी आदि षोडश मातृचक्र हैं ?”

शृंगारप्रकाशकार ने भी वात्सल्य को स्वतंत्र रस माना है। महाकवि कालिदास के रघुवंश में दिलीप के रघु-प्रेम की अभिव्यंजना वात्सल्य रस में इस प्रकार की गई है—

यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चांगुलीम् ।

अमूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥

(अर्थात्—शिशु रघु कुमार ने पिता दिलीप को प्रसन्नता से भर दिया। धाई के सिखाये माँ आदि शब्दों को बोलते-नुतलाने, धाई की उँगली पकड़कर चलते-फिरते, धाई के सिखाने पर बड़े-बूढ़ों को प्रणाम करते, सभी प्रकार की बाल-लीला से बालक ने पिता को प्रसन्न कर दिया।)

कुछ आचार्यों ने रसों की संख्या-गौरव करने में कोई प्रयोजन नहीं देखा और वात्सल्य तथा भक्ति रस को शृंगार के अन्तर्गत रखते हुए उन्हें स्वतंत्र रस की संज्ञा नहीं दी है। अन्तिम आचार्य पंडितराज जगन्नाथ ने भी इन्हें पृथक् रस नहीं मनोनीत किया है।

संस्कृत के आचार्यों द्वारा वात्सल्य को स्वतंत्र रस मानने से यह स्वतः सिद्ध है कि संस्कृत साहित्य में वात्सल्य रस सम्बन्धी पर्याप्त रचनाओं का प्रणयन हुआ था जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। विल्वमंगलाचार्य रचित सुप्रसिद्ध 'गोविन्द दामोदर' स्तोत्र में वात्सल्य देखिए—

रामानुजं वीक्षण केलि लोलं गोपी गृहीत्वा नवनीतं गोलम् ।

आवालकं बालकमाजुहाव गोविन्द दामोदर माधवेति ॥ ८

अंकाधिरूढं शिशु गोप गूढं स्तनं धयन्तं कमलैककांतम् ।

सम्बोधयामास मुदा यशोदा, गोविन्द दामोदर माधवेति ॥ १०

क्रीडन्तमन्तर्ब्रजमातमजं स्वं समं वयस्यैः पशुपालबालैः ।

प्रेम्णा यशोदा प्रजुहाव कृष्णं गोविन्द दामोदर माधवेति ॥ ११

यशोदया गाढमुलूखलेन गोकंठ पाशेन निबध्यमानः ।

रुरोद मन्वं नवनीत भोजी गोविन्द दामोदर माधवेति ॥ १२

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।

स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालंबनं मतम् ॥ २५१

उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः ।

आलिंगनांगसंस्पर्श शिरश्चुम्बनमीक्षणम् ॥ २५२

पुलकानन्दवाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।

संचारिणांऽनिष्टशंका हर्षगर्वादयो मताः ॥ २५३

पद्मगर्भच्छविर्वणो दैवतं लोकमातरः ।.....

निजांगणे कंकण केलि लोलं गोपी गृहीत्वा नवनीत गोलम् ।

आमर्दयत्पाणितलेन नेत्रे गोविन्द दामोदर माधवेति ॥ १३

जग्धोऽथ दत्तो नवनीत पिण्डो गृहे यशोदा विचिकित्सयन्ती ।

उवाच सत्यं वद हे मुरारे गोविन्द दामोदर माधवेति ॥ १७

क्वचित् प्रभाते दधिपूर्ण पात्रे निक्षिप्य मन्थं युवती मुकुन्दम् ।

आलोक्य गानं विविधं करोति गोविन्द दामोदर माधवेति ॥ १९

क्रीडापरंभोजनभेजनार्थं हितैषिणी स्त्री तनुजं यशोदा ।

आजूहवत् प्रेमपरिप्लुताक्षी गोविन्द दामोदर माधवेति ॥ २०

[अर्थात्—हाथ में माखन का गोला लेकर माता यशोदा ने आँख मिचौनी की क्रीड़ा में व्यस्त बलराम के छोटे भाई कृष्ण को बालकों के बीच से पकड़ कर पुकारा—‘अरे गोविन्द ! अरे गोविन्द ! अरे दामोदर ! अरे माधव ! अपनी गोद में बैठकर दूध पीते हुए बाल गोपाल रूपधारी भगवान लक्ष्मीकान्त को लक्ष्य करके प्रेमानन्द में मग्न हुई यशोदा मैया इस प्रकार बुलाया करती थीं—‘ऐ मेरे गोविन्द ! ऐ मेरे दामोदर ! ऐ मेरे माधव ! जरा बोलो तो सही ।’ अपने समयस्क गोप बालकों के साथ गोष्ठ में खेलते हुए अपने प्यारे पुत्र कृष्ण को यशोदा मैया ने अत्यन्त स्नेह के साथ पुकारा—‘अरे ओ गोविन्द ! ओ दामोदर ! अरे माधव । (कहाँ चला गया) ।’ अधिक चपलता के कारण यशोदा माता ने गौ बाँधने की रस्मी में खूब कसकर ओखली में उन घनश्याम को बाँध दिया, तब तो वे माखन भोगी कृष्ण धीरे-धीरे (आँख मलते हुए) सिसक-सिसक कर गोविन्द ! दामोदर ! माधव ! माधव ! कहते हुए रोने लगे । श्री नन्दनन्दन अपने ही घर के आँगन में अपने हाथ के कंकण से खेलने में लगे हुए हैं, उसी समय मैया ने धीरे से लाकर उनके दोनों कमल नयनों को अपनी हथेली से मूँद लिया तथा दूसरे हाथ में नवनीत का गोला लेकर कहने लगी—‘गोविन्द ! दामोदर ! माधव ! (लो यह मखन खालो ।’ (दधि मथ कर माता ने माखन का लोंदा रख लिया था । माखन भोगी कृष्ण की दृष्टि पड़ गई, झट उसे धीरे से उठा लाये) कुछ खाया कुछ बाँट दिया । जब ढूँढते-ढूँढते न मिला तो यशोदा माता ने आप पर मन्देह करते हुए पूछा—‘हे मुरारे ! हे गोविन्द ! हे दामोदर ! हे माधव ! ठीक ठीक बता माखन का लोंदा क्या हुआ ।’ किसी दिन प्रातःकाल ज्योंही माता यशोदा दही भरे भाँड़ में मथानी को छोड़कर उठीं त्योंही उनकी दृष्टि शैय्या पर बैठे हुए मनमोहन मुकुन्द पर पड़ी । उनको देखते ही वे प्रेम से पगली हो गई और ‘मेरा गोविन्द ! मेरा दामोदर ! मेरा माधव !’ ऐसा कहकर तरह-तरह से गाने लगीं । क्रीड़ाविहारी मुरारि बालकों के साथ खेल रहे हैं । अभी तक न स्नान किया है न भोजन ! अतः प्रेम में विह्वल हुई माता उन्हें स्नान और

भोजन के लिए पुकारने लगीं—‘अरे ओ गोविन्द ! ओ दामोदर ! अरे माधव ! (आ बेटा ! आ !) पानी ठंडा हो रहा है जल्दी से नहा ले और कुछ खाले)।]

भक्ति की इस विह्वलकारिणी तन्मयता से पूर्ण श्लोकों में वात्सल्य रस का परिपाक स्पष्ट ही देखा जा सकता है ।

आचार्यों ने वात्सल्य के तीन भेद किये हैं—

१—अपत्य स्नेह—जिसमें पशु पक्षियों के बच्चों तक से स्नेह किया जाता है ।

२—वात्सल्यभाव—जिसमें पड़ोसी के बच्चे से भी प्रेम किया जाता है ।

३—स्वसंतति प्रेम—जिसमें केवल अपनी संतान से प्रेम होता है ।

वात्सल्य में करुणा और ममता का आधिक्य होने से कई आचार्यों ने इन्हें ही उसका स्थायी भाव कह दिया है । यथा—

देखती मुझे तू हँसी मंद ,
होठों में बिजली फँसी स्पंद ।
उर में भर झूली छवि सुन्दर ,
प्रिय की अशब्द शृंगार मुखर ।
तू खुली एक उच्छ्वास संग ,
विश्वास स्तब्ध बँध अंग-अंग ।
नत नयनों से आलोक उतर ,
काँपा अधरों पर थर-थर-थर ।

—निराला (सरोज स्मृति)

वात्सल्य में कही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, कहीं करुणा की और कहीं अतृप्त आकांक्षा की तथा कही वीर रस, कही शृंगार और कही हास्य रस खिल-खिल पड़ता है । यथा—

आरसी देखि जसोमति जू सों कहै तुतरात यों बात कन्हैया ।
बंठे ते बंठे उठे ते उठे और कूदे ते कूदे चले ते चलैया ।
बोले ते बोलै हँसे ते हँसे मुख जैसे करो त्योंही आपु करैया ।
दूसरे को तो दुलारो कियो यह को है जो मोहि खिजावत मैया ॥

साहित्य में पिता की अपेक्षा मातृ-वात्सल्य की अधिक चर्चा है । अबला जीवन के करुण रूप में गुप्त जी ने वात्सल्य को ही प्राथमिकता दी है—

अबला जीवन हाथ तुम्हारी यही कहानी ।

आँचल मे है दूध और आँखों में पानी ॥

अस्तु जहाँ माता-पिता आदि का वात्सल्य परिपूर्ण स्नेह के विभावादिकों द्वारा पुत्र-पुत्री आदि के प्रति परिपक्व हो वहाँ वत्सल रस होता है ।

आलम्बन—पुत्र पुत्री आदि ।

उद्दीपन—बाल क्रीड़ायें ।

अनुभाव—आलिंगन, चुम्बन, स्मित, नेत्राकुंचन आदि ।

संचारी—वत्सलतापूर्ण स्नेह ।

१— तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरें ।

अति सुन्दर सोहत धूरि भरे, छवि भूरि अनंग की धूरि धरें ।

दमकें दैतियाँ दुति दामनि ज्यों किलकें कल बाल विनोद करें ।

अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसी मन मंदिर में बिहरें ॥

यहाँ राम और उनके भाई आलम्बन हैं, उनके धूलि-धूसरित शरीर, बाल क्रीड़ायें और छोटे-छोटे दाँत आदि उद्दीपन हैं, उनके बाल विनोद से माता-पिता का आनन्द अनुभाव है तथा हर्ष और गर्व संचारी हैं ।

२— किलकत कांह घुटुरुवन आवत ,

मनिमय कनक नंद के आंगन, मुख प्रतिविबहि धावत ।

कबहुँ निरखि हरि आप छाँह को कर सो पकरन चाहत ,

किलकि हँसत राजत द्वै दतियाँ, पुनि पुनि तिहि अवगाहत ।

कनक भूमि पर कर पग छाया यह उपमा इक राजति ,

करि करि प्रति पद प्रतिमनि बसुधा कमल बँठकी साजति ।

बाल दसा सुख निरखि यशोदा पुनि पुनि नंद बुलावति ।

अँचैरा तर लै ढाँकि सूर प्रभु जननी दूध पियावत ॥

यहाँ बाल कृष्ण आलम्बन हैं; उनकी बाल-क्रीड़ा उद्दीपन है; उस दृश्य को दिखाने के लिए यशोदा का नन्द को बुलाना और आँचल के नीचे ढाँक कर दूध पिलाने लगना अनुभाव है तथा गर्व, हर्ष, आवेग और चिन्ता संचारी हैं ।

३—

—बालिका ही थी वह भी ,

सरलपन ही था उसका मन ।

निरालाप था आभूषण ,

कान से मिले अजान नयन ।

सहज था सजा सजीला तन ,

सुरीले ढीले अधरों बीच ।

अधूरा उसका लचका गान ,

विकच बचपन को मन को खींच ।

उचित बन जाता था उपमान ॥.....

—पन्त (उच्छ्वास की बालिका)

हिन्दी के आधुनिक काव्य की विशेषकर उन रचनाओं में जहाँ कल्पनाओं का असीम जाल फैला हुआ है किसी रस का परिपाक आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारियों के सहारे कर सकना किंचित कठिन कार्य ही है फिर भी पन्त की उपर्युक्त पंक्तियों में वात्सल्य रस की ध्वनि है ।

भक्ति-रस

जहाँ विभावादिकों से परमात्मा विषयक प्रेम का परिपोष होता है वहाँ भक्ति रस जानना चाहिए ।

आलम्बन—परमात्मा, राम, कृष्ण, अवतार आदि ।

उद्दीपन—परमात्मा के अद्भुत कार्यकलाप, उत्तम गुणानुवाद, सत्संग आदि ।

अनुभाव—नेत्रों का विकास, पुलकावली, गद्गद्वचन आदि ।

संचारी—निर्वेद, मति, हर्ष, गर्व, औत्सुक्य आदि ।

स्थायी भाव—ईश्वरानुराग ।

प्राचीन आचार्यों ने भक्ति को भाव संज्ञा देकर शृंगार रस के अन्तर्गत स्थान दिया है । परन्तु भक्ति एक प्रबल भावना है जिसकी आम्वादनीयता और उत्कटता किसी भी प्रधान रस में घट कर नहीं है । आस्तिकों के अवतारों ने अपने अलौकिक कार्यों और दीन दुखियों के त्राण के द्वारा माधु-सन्नों की वाणिषों से वह मंदाकिनी प्रवाहित कर दी जिसमें अवगाहन करनेवाले भक्ति रस में निमग्न हो जाते हैं । रामायण, भागवत और विविध पुराणों की कथाओं ने भारत के जन-जन के हृदय में भक्ति के लिए एक विशेष स्थान बना दिया । मधुसूदन सरस्वती और रूप गोस्वामी को यह श्रेय है कि उन्होंने भक्ति को साहित्य में शास्त्रीय रूप प्रदान किया । वैष्णव भक्तों ने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भावों को प्रधान तथा अन्य को गौण माना और इतना ही नहीं वरन् इन सभी को वैष्णव भक्ति के अनुरूप ढाल दिया । भक्ति और शान्त रस स्वतः पूर्ण और स्वतंत्र रस हैं । शान्त रस में एक प्रकार से मोक्ष की अभिलाषा और आकांक्षा है परन्तु भक्त भगवान के सान्निध्य मात्र का भूखा होता है । तुलसीदास कहते हैं—

अस विचारि हरि भगति सयाने । मुक्ति निरादरि भगति लुभाने ।

शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परिपूर्ण भक्ति का सांगोपांग रूप भारत के भक्तों ने खड़ा किया है और अपनी जीवनचर्या के उत्कट उदाहरणों द्वारा उसके नौ प्रकारों की स्थापना कर दी है ।

१— राम नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार ।

तुलसी भीतर बाहिरो जौ चाहसि उजियार ॥

इसमें राम का नाम आलम्बन है; 'उजियारे' की चाह उद्दीपन है, राम-नाम का स्मरण अनुभाव है और मति, धृति तथा उत्कंठा आदि संचारी हैं ।

२— अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल,

काम क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल ।

महा मोह के तूपुर बाजत, निन्दा सब रसाल,
 भरम भरयो मन भयो पखावज चलत असंगत चाल ।
 तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दें ताल,
 माया को कटि फेंटा बाँधयो लोभ तिलक दियो भाल ।
 कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहि काल,
 सूरदास की सबें अबिद्या दूरि करौ नैदलाल ॥

यहाँ गोपाल आलम्बन है; अबिद्या का दूर किया जाना उद्दीपन है; माया के पाश में पड़कर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण के क्लेश के कारण गोपाल को संबोधन अनुभाव है तथा मति, धृति, स्मृति आदि संचारी हैं ।

३- करम गत टारां णा री टारां ।

सतवादी हरचंदा राजां डोम घर णीरां भरां ।
 पांच पांडु री राणी द्रपता हाड हिमाणां गरां ।
 जग किया बड़ डेण इंद्राशण जोयां पताड़ परां ।
 मीरां रे प्रभु गिरधर नागर विखहँ अमरित करां ॥

इसमें प्रभु गिरधर नागर आलम्बन है; 'विख हँ अमरित करां' ही उद्दीपन है; कर्म की गति अटल है तथा उसने बड़ों-बड़ों को परास्त कर दिया है इसीसे गिरधर की प्रार्थना अनुभाव है तथा मति, स्मृति, धृति और दैन्य संचारी हैं ।

४- क्या पूजा क्या अर्चन रे ।

उस असीम का सुन्दर मंदिर मेरा लघुतम जीवन रे ।
 मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनंदन रे ।
 पद रज को धोने उमड़े आते लोचन में जल कण रे ।
 अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पोड़ा का चंदन रे ।
 स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे ।
 मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे ।
 धूप बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे ।
 प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे ।

यहाँ प्रिय आराध्य (परमात्मा) आलम्बन है; प्रिय की अनुपमता, अव्यक्तता आदि गुण उद्दीपन हैं; उस प्रिय का स्वागत-अभिनन्दन करना अनुभाव है तथा औत्सुक्य, हर्ष, उत्साह, गर्व, मति आदि संचारी हैं ।

रसाभास

जब रस अनौचित्य रूप में व्यंजित होता है तब वह रसाभास कहलाता है अथवा रस की अनुचित प्रवृत्ति से अपूर्ण परिपाक होना रसाभास है । सहृदय

जनों को अनुचित प्रतीत होना ही अनौचित्य है। यद्यपि रस का अनुचित रूप में प्रकटीकरण दोष है तथापि यह रसाभास भी क्षण भर के लिए रस के स्वाद का आभास दे जाता है। जैसे सीप में चाँदी की झलक रहती है वैसे ही रसाभास में रस की झलक पाई जाती है इसीसे रसाभास को ध्वनि का एक भेद कहते हैं।

शृंगार रसाभास—(१) परस्त्रीगत प्रेम, (२) स्त्री का पर पुरुष से प्रेम, (३) स्त्री का बहुपतिविषयक प्रेम, (४) नदी, नाले, लता, वृक्ष आदि निरिन्द्रियों में दाम्पत्य विषयक सम्भोग प्रेम का आरोप, (५) पशु-पक्षियों आदि की रति-वर्णन, (७) नीच कुल के पात्र में किसी उच्च कुल वाले की प्रीति-वर्णन, (८) गुरु-पत्नी आदि में अनुराग-वर्णन। आधुनिक हिन्दी के कवियों ने रसाभास करने में पर्याप्त रस लिया है।

मतिराम विरचित नायिका की अनेक पुरुषों में रति व्यक्त होने से शृंगार रसाभास का चित्रण देखिये—

अंजन दें निकसै नित नैननि मंजन कै अति अंग सँवारै ।
रूप गुमान भरी मग में पगही के अँगूठा अनोट सुधारै ।
जीवन के मद सो 'मतिराम' भई मतवारिनि लोग निहारै ॥
जाति चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकै अँचरा न सँहारै ॥

हास्य रसाभास—गुरु, माता-पिता आदि पूज्यनीय व्यक्तियों को हास्य का आलम्बन बनाना।

वीररसाभास—नीच व्यक्ति में उत्साह होना।

अद्भुत रसाभास—ऐन्द्रजालिक कार्यों में विस्मय होना।

रौद्र रसाभास—पूज्यनीय व्यक्तियों पर क्रोध होना।

करुण रसाभास—विरक्त में शोक प्रदर्शन करना।

वीभत्स रसाभास—यज्ञ में बलि किये जानेवाले पशु में जुगुप्सा होना आदि।

भयानक रसाभास—श्रेष्ठ व्यक्ति को भयभीत दिखाना आदि।

शान्त रसाभास—नीच व्यक्ति में शम की स्थिति दिखाना आदि।

वात्सल्य रसाभास—वात्सल्य के पात्र में रति प्रदर्शन आदि।

भक्ति रसाभास—ईश्वर विषयक प्रेम किसी लौकिक व्यक्ति में निष्ठ होना आदि।

भावाभास

भाव का जब अनुचित रूप से वर्णन किया जाता है या जो भाव रसाभास का अंग हो जाता है, उसे भावाभास के नाम से पुकारते हैं।

संचारी भाव जब तक किसी रस के पोषण में सहकारी कारण होते हैं तब

तक वे संचारी भाव रहते हैं परन्तु जब वे अपनी प्रधानता अभिव्यक्त करते हुए भावावस्था को प्राप्त कर दूसरे किसी रसाभास के अंग हो जाते हैं तब उन्हें भावाभास कहा जाता है। यथा—

१— दरपन में निज छाँह सँग लखि प्रीतम की छाँह ।

खरी ललाई रोस की, ल्याई अँखियन माँह ॥

यहाँ क्रोध का भाव वर्णित है परन्तु उसका कारण अति साधारण होने के कारण भावाभास है।

२— विरमृति-पथ में विषय सब रह्यो न शास्त्र-विवेक ।

केवल वह मृग लोचिनी टरत न हिय छिन एक ॥

यहाँ अन्य नायिका का स्मरण करते हुए किसी प्रवासी की यह उक्ति है। यहाँ स्मृति भाव की प्रधानता है और वह अन्य नायिका में निष्ठ होने के कारण शृंगार रसाभास का अंग होने से भावाभास है।

भावशान्ति

एक भाव की व्यंजना के मध्य में किसी विरोधी भाव की व्यंजना हो जाने पर पहला भाव समाप्त होने का जो चमत्कार होता है वह भाव शान्ति कहलाता है। यथा—

कितौ मनावत पीय तउ मानत नाहि रिसात ।

अरुन चूड़ धुनि सुनत ही तिय पिय हिय लखात ॥

इसमें नायिका का मान स्पष्ट है जो मुर्गे की बोली सुनकर अर्थात् प्रातः-काल जानकर शान्त हो गया है।

भावोदय

किसी भाव की शान्ति के उपरान्त किसी कारणवश यदि दूसरे भाव का उदय हो जाय जिसमें चमत्कार हो तो वह भावोदय कहलाता है। यथा—

में हौं हठी तुम हो कपटी अस की उछटी बतियाँ जब प्यारी ।

पायँ परे की न मान कियो अपमान निरास भए गिरधारी ।

रूठि चले पिय कौ लखि कै छतियाँ धरि हाथ उसास निकारी ।

त्योँ अँसुवान भरी अँखियान ते दोठ प्रिया सखियान पै डारी ।

यहाँ कलहांतरिता नायिका में संचारी भाव 'विषाद' के उद्रेक से भावोदय है क्योंकि इसमें चमत्कार है।

भाव-संधि

समान रूप से चमत्कारी दो भावों की उपस्थिति जहाँ एक साथ देखी जाती है उसे भावसंधि कहते हैं। यथा—

प्रभुहि बितइ पुनि चितइ महि राजत लोचन लोल ।

खेलत मनसिज मीन जुग जनु विधुमंडल डोल ॥

इसमें उत्सुकता और ब्रीड़ा भावों की संधि है ।

भाव शबलता

जहाँ एक के पीछे दूसरा और दूसरे के पीछे तीसरा तथा तीसरे के पीछे चौथा, इस प्रकार बहुत से चमत्कारिक भावों का एक ही स्थान पर सम्मेलन हो उसे भाव शबलता कहते हैं । यथा—

या विधि की विपरीत कथा हा ! विदेह सुता कित है अरु में कित ।

ता मृग नंनो बिना बन में अब होइ सो प्रान अधारहु को इत ।

मोहि कहेंगे कहा सब लोग ? रु कंसे लखोंगो उखें समुहे चित ।

राज रसातल जाहु अब है धरातल जीवन हू में कहा हित ॥

इसमें अमूया, विपाद, स्मृति, वितर्क, शंका, ब्रीड़ा और निर्वेद भावों का सम्मेलन है ।

अनेक रसों की स्फुरणा

एक दृश्य-वर्णन में विविध रसों की अवतारणा (उल्लेख अलंकार की सहायता से) कविजन करते आये हैं परन्तु यह एक अद्भुत कवि कर्म है । देखिये—
कृष्ण को अपने भाई समेत कंस के रंगमंच पर देखकर—

मल्लानामशनिनृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,

गोपानां स्वजनो सतांक्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोःशिशुः ।

मृत्युर्भोजपते विराडऽविदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्

वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः ॥

[अर्थात्—मल्लों के हृदय में रौद्र, नरों में अद्भुत, स्त्रियों में शृंगार, गोपों में हास, राजाओं में वीर, कृष्ण के माता-पिता में करुण और वात्सल्य, भोजपति (कंस) में भयानक, अज्ञानियों में वीभत्स, योगियों में शान्त और वृष्णियों में भक्ति की उद्भावना हुई ।]

संस्कृत के भट्टिट काव्य में इस प्रकार का चमत्कार सम्यक् रूप से देखा जा सकता है ।

पृथ्वीराज रासो में रति-समागम के अन्तर्गत नव रसों की सिद्धि देखने को मिलती है । देखिये—

रस विलास उप्पज्यौ, सषी रस हार सुरत्तिय ।

ठांम ठांम चढ़ि हरम, सद् कह कह तह मत्तिय ।

सुरत प्रथम संभोग, हंहं हं हं मुष रट्टिय ।

ना ना परि नबल, प्रीति संपति रति थट्टिय ।

शृंगार हास करुना सु रुद्र, वीर भयान विभाछ रस ।

अद्भूत सन्त उपज्यौ सहज, सेज रमत दंपति सरिस ॥

तुलसी ने इस प्रकार की भाव स्फुरणा विषयक ज्ञान की अपनी अभिज्ञता तथा उसके प्रदर्शन की अपनी समर्थता का कुशल संकेत निम्न चौपाई में कर दिया है—

जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥

केशव ने भी कृष्ण का रूप-चित्र इसी प्रणाली के अनुसरण पर किया है ।

श्री वृषभानु-कुमारि हेतु शृंगार रूप मय ।

वास हास रस हरे, मात बंधन करुणामय ।

केसी प्रति अति रौद्र वीर मारो वत्सासुर ।

भय दावानल पान कियौ बीभत्स बकी उर ।

अति अद्भूत वंचि विरंचि मति सांत संततै सोच चित ।

कहि केसव सेवहु रसिक जन नव रस में ब्रजराज नित ॥

(यद्यपि आगे उन्हें अपनी प्रतिज्ञा विस्मृत हो गई और वे रति भाव के अन्तर्गत ही अन्य रसों के समावेश के चमत्कार निरूपण में लग गये ।)

हिन्दी साहित्य में विविध रस

शृंगार

हिन्दी साहित्य के वीरगाथा-काल अथवा चारण-काल में युद्धों का घटाटोप है परन्तु उन युद्धों की पृष्ठभूमि में वास्तविक अथवा पुरातन कथा-सूत्र रूप में नियोजित नारी ही है। वीर युग का मूल स्वर यदि युद्ध है तो उसको प्रेरित करने वाली आद्याशक्ति रमणी ही है। अनेक कारणों में से यह भी एक है जिसने उस युग के वीरों में अमित शौर्य के दर्शन कराये हैं।

पुरुष वर्ग आदि काल से ही नारि वर्ग की ओर स्वभावतः आकर्षित होता आया है क्योंकि एक कविसमय में वर्णन है कि प्रियंगु उनके छूने से फूलता है, बकुल उनके मुख से दिये हुये मद्य के छींटों से, अशोक उनके पैर के आघात से, तिलक उनके ताकने से, कुरवक उनके आलिंगन से, मंदार उनके मधुर वचनों से, चम्पक उनकी कोमल हँसी से, आम उनके मुख की वायु से, नमेरु उनके गीत से और कर्णिकार उनके नाचने से—

स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियंगुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात् ।

पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौ वीक्षणाजिह्वनाभ्याम् ।

मन्दारो नर्मवाक्पटुमधुहसनाचम्पको वक्तृवातात् ।

चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति हि पुरोरुनर्तनात् कर्णिकारः ॥

और जब जड़ वृक्षों की यह स्थिति है तो पुरुष यदि उसके अवलोकन, स्पर्श आदि से हतचेतन होकर उसके इंगित पर नर्तन करने लगे तब इसमें कौन सा आश्चर्य है।

विरागी संत कबीर भले ही उपदेश दे गये हों कि—

नारी की झाड़ू परे अन्धा होत भुजंग ।

कबिरा तिन की कौन गति नित नारी के संग ॥

परन्तु इस चेतावनी को किसने सुना । प्रायः सभी ने आसक्ति के इस परम पाश में जकड़े जाने में ही अपने को धन्य माना और अपना भाग्य सराहा ।

पृथ्वीराजरासो में युग के शौर्य-पराक्रम के प्रतीक महाराज पृथ्वीराज चौहान तृतीय और उनके अमित शौर्य-गुणों एवं रूप पर रीझकर आत्मसमर्पण करने वाली क्षत्राणी राजकुमारियों के संयोग सम्बन्धी अनूठे चित्र कवि चंद ने खीचे हैं । एक दृष्टव्य है—

लाज गढढ लोपंत । बहिय रद सन ढक रज्जं ॥

अधर मधुर दंपतिय । लूटि अब ईव परज्जं ॥

अरस प्ररस भर अंक । षत परजंक षटविकय ॥

भूषन टूटि कवच्च । रहे अध बीच लटविकय ॥

नीसान थान नूपुर बजिय । हाक हास करषत चिहुर ॥

रतिबाह समर सुनि इच्छिनय । कीर कहत बत्तिय गहर ॥

छं० १४१ स० ६२

[अर्थात्—लज्जा निम्न स्थानों में जाकर छिप गई, दम्पति अधरों की माधुरी का पान करने लगे, पर्यंक रूपी क्षेत्र में वे आलिंगन पाश में बंध गए, आभूषण रूपी कवच भग्न होकर आधे बीच में लटक गये, नगाड़ों के स्थान पर नूपुर बज रहे हैं तथा उनका हास्य ही ललकार है । धृष्ट शुक दूत ने कहा कि हे इच्छिनी, यही रतिबाह (कामदेव) का समर है ।]

भारत पराधीन हो गया । मुस्लिम शासक विशेषकर उत्तर भारत के अधिकारी हुए परन्तु शृंगार में कोई अंतर विशेष न आया । तिरहुत के विद्या-पति ने राधा-माधव की रतिक्रीड़ा के मिस राजा शिवसिंह और उनकी रानी लखिमा देवी को केलि प्रेरणा देने में कुछ उठा न रखा । काम का एक उद्दाम चित्र देखिए—

निबि बंधन हरि किए कर दूर ।

एहो पर तोहर मनोरथ पूर ॥ २

हेरने कओन सुख न बुझ विचारि ।

बड़ तुहु ढीठ बुझल बनमारि ॥ ४

हमर सपथ जौ हेरत मुरारि ।

लहु लहु तव हम पारब गारि ॥ ६

बिहर से रहसि हेरने कौन काम ।

से नहि सहजहि हमर परान ॥ ८

कहाँ नाँह सुनिए एहन परकार ।

करए विलास दीप लए जार ॥ १०

परिजन सुनि सुनि तेजब निसास ।

लहु लहु रमह सखीजन पास ॥ १२

[हे हरि, तुमने नीबी (धोती की वह गाँठ जिसे स्त्रियाँ नाभि के नीचे या बगल में इजारबन्द से या यों ही बाँधती हैं) का बंधन खोल दिया, इससे भी तुम्हारा मनोरथ नहीं पूरा हुआ । मेरी समझ में और विचार में नहीं आता कि देखने से तुम्हें कौन सा मुख मिलता है । हे बनमाजी, तुम बड़े ढीठ समझ पड़ते हो । हे मुरारी, तुम्हें मेरी शपथ है जो तुम देखो । भला देखने से क्या प्रयोजन । हमारे प्राण यह नहीं सह पायेंगे । यह प्रकार कहीं नहीं सुना गया कि दीपक जलाकर विलास करे । क्रीड़ाकाल के मेरे निःश्वास परिजन सुन लेंगे । धीरे-धीरे संभोग करो सखियाँ समीप हैं ।]

लोक-रीति-रिवाजों का भरपूर ज्ञान रखने वाले और मैथिली की गेय प्रणाली में सम्पन्न विद्यापति यदि परकीया की क्रिया-प्रतिक्रियाओं की कुशल अभिव्यक्ति कर सकते हैं तो स्वकीया की मनोदशाओं से भी वे अभिज्ञ हैं । देखिए, सम्भोग शृंगार के अन्तर्गत शनैः शनैः लजाती और भयभीत नवागता बधू को किस प्रकार शयनागार की ओर ले चलते हैं—

सुंदरि चललिहु पहुघर ना ।

जाइतिहु लागि परम डर ना ।

चहुँ दिसि सखि सब कर धर ना ॥

भक्तिकाल में मुख्य स्वर तो भक्ति का है परन्तु शृंगार कहीं तो कबीर आदि निर्गुण संतों में राम की अलौकिक बहुरिया के रूप में विस्तृत हुआ है, कहीं ज्ञायसी आदि सूफी फकीरों की वाणी में अन्योक्तियों के रूप में अपनी सांगोपांग विविधता लेकर आया है, कहीं सूर जैसे अन्यतम कृष्णोपासकों की वाणी में राधा प्रभृति गोपियों की कृष्ण के प्रति संवेदनाओं को स्वसंवेद्य बना कर मर्यादा की परिधियाँ तोड़ता हुआ रंग विरंगे रूप में प्रस्फुटित हुआ है और हास्य भाव से राम के विख्यात आराधक तुलसी के स्वरो में कहीं मर्यादा की रक्षा के परकोटे उठाता निनादित हुआ है ।

प्रेम के कठिन पथ पर चलने का उद्बोधन करते हुए कबीर खड़े और रपटीले मार्ग की चर्चा करते हैं तथा अपना सिर काटकर और उस पर पैर रखकर आगे बढ़ने का आह्वान करते हैं—

सीस उतारं भुइँ धरं तापर राखे पावँ ।

दास कबीरा यों कहै ऐसा होउ तो आउ ॥

इस प्रकार अलौकिक क्षेत्र में प्रेम की निष्ठा का प्रतिपादन करते हुए लौकिक प्रेम के लिये भी एक आदर्श मार्ग का संकेत कर जाते हैं ।

सूफी जायसी रानी नागमती और राजा रत्नसेन के मिस विरह विदग्ध विधुर वियुक्त आत्मा की विह्वलता का ही आध्यात्मिक चित्र खींचते हैं जब वे कहते हैं—

नहिं पावस ओहि देवरा नहिं हेवंत वसंत ।

नः कोकिल न पपीहरा जेहि सुनि आवहि कंत ॥

सच ही नागमती का बिमूरना आत्मा और परमात्मा की दुनियाँ में अलौकिक विप्रलम्भ का जीवंत उदाहरण है । परमात्मा रूपी प्रियतम आत्मा रूपी प्रियतमा को किस प्रकार प्राप्त हो सफ़ता है क्योंकि उसके निराले देश में प्रिय की स्मृति दिलाने वाली वर्षा हेमंत और बसंत ऋतुओं भी नहीं होती तथा कोकिल की कूक और पपीहरे की पी भी उसे याद दिलाने के लिये नहीं सुनाई पड़ती । तब उस आत्मा रूपी प्रियतमा को ही उस अव्यक्त प्रियतम से मिलन हेतु सयत्न सचेष्ट होना होगा तथा सूफी दर्शन के अनुसार न जाने कितनी दुर्लभ घाटियाँ लांघनी होंगी, कितने अथाह सागर पार करने होंगे तथा न जाने कितने हिंसक जंतुओं के बीच से निकलना होगा । और फिर जब उस साजन ने बुलाया है तब उसकी आज्ञा कैसे मिटाई जा सकती है, तन, मन और यौवन का शृङ्गार करके उस पर भेंट चढ़ानी है—

साजन लेइ पठावा आयसु जाइ न भेटि ।

तन मन जोबन साजि कै देइ चली लेइ भेटि ॥

पदमिनि गवन हंस गै दूरी । कुंजर, लाज, मेल, सिर धूरी ॥

विप्रलम्भ-वर्णन में तो जायसी कुशल ही हैं परन्तु संभोग में भी किसी से घटकर नहीं और ठीक ही है संयोग का वांछित रस पाने का वही अधिकारी है जिसने वियोग की तड़प समझी हो । पदमावती की रति का वर्णन करके जायसी ने शेष की सूचना देकर सारा संयोग प्रस्फुटित कर दिया—

सब निसि सेज मिला ससि सूरु । हार चीर वलया भए चूरु ॥

सो धनि पान चून भइ चोली । रंग रंगीलि निरंग भई भोली ॥

जिसका पर्यवसान वही अध्यात्म है—

कौन सो दिन जब पिउ मिलै यह मन राता जासु ।

दह दुख देखै मोर सब, हौं दुख देखौं तासु ॥

जिनके प्रियतम घर पर हैं उन्हें गौरव है और गर्व है परन्तु जिनके प्रिय परदेश में हैं उन्हें सारा सुख भूल गया है—

जिन घर कंता ते सुखी तिन गारौ औ गर्व ।

कंत पियारा बाहिरें तिन सुख भूला सर्व ॥

अपने हृदय का मंथन करने वाली प्रेम की पीर जायसी ने शब्दों द्वारा साकार की और वह सदा-सदा मर्मस्पर्शिनी रहेगी।

सूर के संयोग से वियोग शृङ्गार कहीं अधिक मार्मिक है। चाहे लौकिक क्षेत्र हो या अलौकिक विप्रलम्भ की दशायें दिखाने में ही भावुक हृदय कवियों की पंठ का पता लगता है। ज्ञानी उद्धव को प्रेम का उपालम्भ देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, तुमने बड़ा ही अच्छा किया जो यहाँ पधारे, विधाता रूपी कुम्हार ने जिन घड़ों को कच्चा तैयार किया था उनको तुमने आकर पका दिया। इन घड़ों पर श्याम ने अपनी लीला और विनोद के सुन्दर-सुन्दर चित्र बना दिये थे। कृष्ण ने अवधि रूपी छाजन छा दिया था इससे आँसुओं की धारा से वे गलने नहीं पाये। तुमने ब्रज को कुम्हार का आवा बनाया, योगाभ्यास के उपदेश का ईंधन रखा तथा एकाग्रचित्तता की आग सुलगा दी, दुःख की उच्छ्वास रूपी वायु से विरह वेदना और बढ़ गई, कृष्ण-दर्शन की आशा ने हमारे जलते हुए मन रूपी घड़ों को उलट फेर दिया, जिससे वे एक ही ओर झुलसने से बच गये। प्रेमजल से सम्पूर्ण इन घटों को किसी ने छूकर अपवित्र नहीं किया है।

ऊधौ भली करी अब आये।

विधि कुलाल कीन्हें काँचे घट ते तुम आनि पकाए।

रंग दियौ हो कान्हू साँवरे अंग अंग चित्र बनाये।

गरन न पाए नैन नीर तें अवधि अटा जो छाए।

ब्रज करि अवाँ जोग करि ईंधन सुरति आगि सुलगाये।

सोक उसाँस विरह परजारनि दरसन आस फिराए।

भरे सँपूरन कलस प्रेमजल छुअन न काहू पाए।

राज काज ते गए सूर प्रभु नन्द नैदन कर लाए ॥

प्यारे कान्हा की विरहिणी गोपियाँ वृन्दावन में विरह-ज्वाला में जल रही हैं। उनके संदेशों के डर से पथिकों ने उधर के मार्ग का आवागमन छोड़ दिया है तथा कोकिल और पपीहे वन में बसने नहीं पाते तथा कागों ने बलि का अन्न खाना छोड़ दिया है—

पिक चातक बन बसन न पावहिं वायस बलिहिं न खात।

सूर श्याम संदेशन के डर पथिक न वहि मग जात ॥

विप्रलम्भ संदेशे भेजने वाले इस मार्मिक प्रसंग में वक्रोक्ति सिद्ध घनानन्द और भी अधिक चमत्कार ले आये जब उन्होंने गोपियों से कहलाया कि ये वियोग के दिन किस प्रकार पूरे किये जावेंगे अब तो संदेशों का मार्ग भी थक कर चूर हो गया है—

भरियँ केहि भाँति कहा करिये, अब गल संदेशन की हूथकी ॥

फारसी की ऊहात्मक शैली से भावाक्रांत उर्दू शायरी में संयोग के लिए मनोभावों का अभिव्यक्तीकरण अनूठी वक्रोक्तियों के माध्यम से हुआ है। यथा—

उनकी नजरों से निकलकर तीर ने दी यह सदा ।

अब तो मैं हर दिल में रख लेने के काबिल हो गया ॥

हम तो रख लेते हैं दिल में आपके तीरो तुफंग ।

आपको रखना हमारा दिल भी मुश्किल हो गया ॥

फारसी शायरी मांसाहारियों के बीच में पली थी और उन्हीं के साथ भारत में आई थी । लड़ाकू और खून करने में प्रसिद्ध तुर्क उनका माशूक था । इसी से उर्दू शायरी में शृङ्गार के अन्तर्गत तीर, तलवार और बछ्छे चलने की चर्चा हुई और इतना ही नहीं—

‘लखते जिगर को खाते हैं औ खूने जिगर को पीते हैं ।’

सदृश उद्गार प्रगट हुए । यह फारसी-प्रभाव जायसी प्रभृति सूफी कवियों में बखूबी देखा जा सकता है जब वे शृङ्गार में वीभत्स का समन्वय करते हुए लिख बैठते हैं—

मकु पिउ दिस्टि समानेउ सालू । हुलसी पीठि कड़ावों फालू ॥

कुच तूबी अब पीठि गड़ोवों । गहै जो हूकि गाढ़रस धोवों ॥

—पदमावत

और आधुनिक छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद भी लगभग ऐसी ही शैली में लिख जाते हैं ।

छिल छिल कर छाले फोड़े,

मल मल कर मृदुल चरण से ।

घुल घुल कर बह रह जाते,

आँसू करुणा के कण से ॥

डिगल के सुप्रसिद्ध कवि पृथ्वीराज राठौर की ‘वेलि’ में कृष्ण के स्वप्नागार की ओर जाने वाली, सारी सखियों द्वारा अत्यन्त प्रशंसित, पग-पग पर रुक रहती गजगामिनी रमणी रुक्मिणी लज्जा रूपी लोह शृंखलाओं से जकड़ी हुई गजराज सदृश लाई गई—

ऊभी सहु सखिये प्रसंसिता अति ,

पग पग रुकि रहती रमणि ।

लाज लोह लंगरे लगाये ,

गै जिम आणि गै गमणि ॥

संभोगकालीन संयोग में सुरतांत दशा की सूचना कवि ने बड़ी युक्ति से अभिव्यंजित की है । महारानी रुक्मिणी और कृष्ण के प्रथम रति-क्रीड़ा के

उपरान्त (जिसे किसी देवता और ऋषि ने भी नहीं देखा) दशा का वर्णन करते हुए कवि का कथन है—“पति द्वारा पवन डुलाने की प्रार्थना करती हुई, रति के अन्त में वहाँ शय्या पर पड़ी हुई रुक्मिणी की कैसी शोभा है मानो क्रीड़ा करते हुए गजेन्द्र द्वारा (तोड़कर) म्लान दशा को प्राप्त कमलिनी सरोवर में पड़ी हो। रुक्मिणी के ललाट पर प्रस्वेद के कणों में कुंकुम का बिंदु सुशोभित है (मानो) कामदेव रूपी कारीगर ने सुवर्ण में हीरे जड़कर बीच में माणिक्य मिला दिया हो”—

पति पवननि प्रारथित त्री तत्र निपतति सुरति अन्त केहवी सिरौ ।

गजेन्द्र क्रीड़तां सु व्याकुल गति नीरासयँ परि कमलिनी ॥

कोधै मधि माणिक हीरा कुंदण मिलिया कारीगर मयण ।

स्यामा तणै लिलाटि सोहिया कुंकुम बिंदु प्रसेद कण ॥

और जिसके प्रियतम का प्रवास शाप, भय अथवा कार्य के कारण नहीं वरन् जो युगों पूर्व धरती का धरातल धर्मराज के अनुशासन के वशीभूत होकर छोड़ गया था और जिसका अपने पूर्व रूप में आ सकना असम्भव था ऐसे उस भूतकालीन प्रवासी को बादलों के घिरने, मयूरों के बोलने और कुमुदिनी के विकसित होने पर दुःख द्वन्द्वों से अधीर चेतन विरहिणी मीरा ने अपने पास आने के लिए बड़ी व्यग्रता से पुकारा था—

म्हारो ओड़गियाँ घर आज्यो जी ।

तण री ताप मिट्याँ सुख पाइयाँ हिड़मिड़ मंगड़ गाज्यो जी ।

घण री धुण सुण मोर मगण भयाँ म्हारे आंगण आज्यो री ।

चंदा देख कमोदण फूडां हरख भयाँ म्हारे छाज्यो जी ॥

विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत तुलसी ने अपने मानस में विरही राम के सन्देश में जितना जो कुछ दो चौपाइयों में नूतनता से कह डाला उसकी पुष्टि परम्पराश्रित फीके वियोग वर्णनों द्वारा करते हुए भक्त कवि की गरिमामयी प्रतिभा ने उसे पर्याप्त रूप से चमत्कृत करके दिखा दिया। राम कहते हैं कि हे सीते, तुम्हारे प्रति मेरे प्रेम का तत्व यही है कि तुम जानती हो कि मेरा मन केवल एक है और वह सदा समीप रहता है, इतने से ही मेरी प्रीति का रस समझ लो—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एक मन मोरा ॥

सो मन रहत सदा तुव पाहीं । जानु प्रीति रस एतनेह माहीं ॥

मर्यादा के उपासक तुलसी ने मानस में संयोग-चित्रण की आवश्यकता ही नहीं समझी। सीता, मांडवी, उमिला और श्रुतिकीर्ति विवाहित होकर अयोध्या आई और रात्रि में सासुयें उन्हें लेकर सो गईं मानो सर्पों ने अपने सिर की मणियों को हृदय में छिपा लिया हो—

सुन्दर बधुन्ह सामु लै सोई । फनिकन्ह जनु सिर मनि उर गोई ॥

इसके उपरान्त भक्त कवि ने इन नवागता वधुओं की अपने प्रियतमों से समागम की सम्भावना भी सम्भवतः कभी नहीं समझी । यदि इस क्षणिक वियोग घटित करने के उपरान्त कहीं संयोग दिखाया जा सकता जैसा कि पृथ्वीराज राठौर ने अपनी 'वेलि' में दिखाया है तो संयोग के प्रति आकर्षण की अभिवृद्धिहेतु यह योजना सर्वथा वांछनीय होती परन्तु तुलसी ने तो संयोग व्यापार पर गहरा पर्दा डाल देना ही श्रेयस्कर समझा । इस विश्लेषण के साथ यहाँ इतना जोड़ देना और समीचीन होगा कि राम के विरह सन्देश में—

कहेउ राम वियोग तव सीता । मो कहूँ सकल भए विपरीता ॥

नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू । काल निसा सम निसि ससि भानू ।

कुबलय विपिन कुंत बन सरिसा । वारिद तपत तेल जनु वरिसा ॥

जे हित रहे करत तेइ पीरा । उरग स्वास सम त्रिविधि समीरा ॥

कहेहू ते कछु दुख घटि होई । काहि कहौं यह जान न कोई ॥

[अर्थात्—हनुमान जी बोले कि राम ने कहा है कि हे सीते, तुम्हारे वियोग में मेरे लिए सभी पदार्थ प्रतिकूल हो गये हैं, वृक्षों के नये-नये पत्ते अग्नि के समान, रात्रि कालरात्रि के समान, चन्द्रमा सूर्य के समान और कमल के वन भालों के समान हो गए हैं; मेघ मानो खीलता हुआ तेल बरसाते हैं । जो हित करने वाले थे वे ही अब पीड़ा देने लगे हैं, तथा शीतल मंद, सुगन्धित वायु सर्प की श्वास के समान विपैली और गरम हो गई है ।]

उन्होंने विरह पक्ष के उद्घाटन के साथ ही संयोग की गहराई की सूचना भी अनायास ही कुशलतापूर्वक निर्देशित कर दी है ।

रीतिकालीन कवियों ने शृंगार की जो अबोध और प्रखर धारा बहाई उसमें रुढ़िवादिता के कारण वह नवीनता और स्फूर्ति नहीं है जो अन्यथा होती । रीति युग भारत की मुस्लिमों द्वारा परतंत्रता, शासकों के विलास तथा उन्हीं के अन्धानुकरण पर पराधीन हिंदू शासकों के अस्वस्थ विलास का युग है । मुस्लिम और हिंदू दरबारों में रहने वाले हिन्दी कवि अपने आश्रयदाताओं की रुचियों के अनुकूल शृंगारिक रचनायें करके उन्हें कामुकता की ओर प्रेरित करते तथा फलस्वरूप उनसे पुरस्कृत होते रहे । इस युग में व्यक्ति को कवियों की पंक्ति में बैठने के लिए रीति ग्रंथ अर्थात् नायिका भेद, अलंकार और छंद सम्बन्धी ग्रंथ प्रणीत करने पड़ते थे जिसका परिणाम एक ओर जहाँ यह हुआ कि इन ग्रंथों का एक विशाल अंबार लग गया वहाँ दूसरी ओर पिष्टपेषण के कारण मौलिकता के दर्शन यदाकदा होने की स्थिति पैदा हुई । इसमें कोई संदेह नहीं कि उस शृंगारी काल में भूषण जैसे उद्भट कवि ने शृंगार रस के स्थान पर वीर रस को अपने काव्य का आश्रय बनाया परन्तु शृंगारिक छंद

लिखने से वे भी अपने को विरत न रख सके तथा रीति-परम्परा का पालन उन्होंने अपने 'शिवराज भूषण' ग्रन्थ को अलंकरण पद्धति में ढाल कर किया। रीति प्रथा की परम्परा के कारण अथवा स्वतः लग गये अनुशासन के फल-स्वरूप कितने ही श्रेष्ठ कवियों का जीवन प्रायः रीति-ग्रन्थों का प्रणयन करने में ही व्यतीत हो गया और बहुधा पुनरावृत्तियों के कारण रचनायें नीरस भी हो गई तथा अनेक मुकवि अधिक श्रेष्ठ रचनायें न कर सके। परन्तु इतनी सब आलोचनाओं के बावजूद भी हम इस युग की अन्यतम शृंगारिक रचनाओं में कवियों की विलक्षण प्रतिभायें, अनूठी सूझें और स्थितियों की गहराई के अनुसार मार्मिक विवेचन तथा तथ्यात्मक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पाते हैं। नायिकाओं के सूक्ष्म वर्गीकरण के आधार पर शृंगारिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को प्रकट करने की प्रवृत्ति उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में ही परिलक्षित होने लगी थी और काव्य में नारी को परिमार्जित किन्तु कृत्रिम ढंग से व्यवस्थित करने की यह मनोवृत्ति रीति युगीन कवियों को पैतृक धरोहर के रूप में प्राप्त हुई थी। इस विवेचन में हम रीति युक्त एवं रीति मुक्त दोनों प्रकार के कवियों की कृतियों पर विचार करेंगे।

क्लिष्ट काव्य के सुप्रसिद्ध स्रष्टा आचार्य केशव की रसिकप्रिया में रस की धारा उमड़ रही है। उनकी प्रच्छन्न अभिसंधिता में विप्रलम्भ शृंगार का अनुताप लीजिये—

पाँइ परै हू तैं प्रीतम त्यों, कहि केशव क्यों हूँ न मैं दृग दीनी ।
तेरी सखी शिख सीखी न एक हू, रोष ही की शिख सीख जु लीनी ।
चंदन चंद समीर सरोज, जरै दुख देह भई सुख हीनी ।
मैं उलटी जु करी, विधि मोकहुँ न्या नहीं उलटी विधि कीनी ॥

तुलसी के बाद काव्य जगत में सर्वाधिक लोकप्रिय, सकल शरीर वेधने वाले बिहारी के नावक के तीर रूपी दोहों में गागर में सागर भरा है। दोहा जैसे छोटे छंद में उन्होंने जितना अधिक कह डाला वह उनकी प्रतिभा का परिचायक है। वे पुरानी बातों को खराद कर और उस पर पालिश कर नवीन साज-सज्जा से सँवार कर प्रस्तुत करने वालों में अग्रणी हैं। शृंगार की बारीकियों को उनकी भाँति प्रकट करने वाले बिरले ही निकलेंगे—

नासा मोरि नचाइ दृग, करी कका की सौह ।

काँटे सो कसकै हियै, गड़ी कटीली भौह ॥

स्निग्ध प्रीति की जीवंत मूर्तियों के सृजन में मतिराम ने हेला और विव्वोक के मादक भावों से अधिक प्रयोजन नहीं रखा है। भाषा पर अबाध अधिकार रखने वाले कवि की अनुरागवती गृहवधू की मार्मिक और वास्तविक मूर्ति के दर्शन कीजिये—

१. केलि कै राति अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई ।
प्यास लगी कोउ पानी दै जाइयो, भीतर बँठि कै बात सुनाई ।
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरें मतिराम बुलाई ।
कान्ह के बोल पं कान न दोहैं सुगेह की देहरि पं धरि आई ॥
२. गौने के छोस छ सातक बीते न, चौकि कहा अबहीं चलि आई ।
लालन बाल के ता छिन में, मतिराम परी मुख में पियराई ।
तू न वधू को पठाइ अरी यह, देखि दुहन की प्रीति सुहाई ।
रोये से लोचन मोये से रोचन, सोये न सोचन राति बिताई ॥

आचार्य और कवि देव पांडित्य, कवित्व शक्ति और मौलिकता में अनुपम हैं यद्यपि मतिराम की भाँति इनकी भाषा में सहज स्वाभाविक प्रवाह नहीं है परन्तु अर्थ की गंभीरता और सरस वाक्य विन्यास में वे अत्यंत ही कुशल हैं । उम नायिका के प्रेमाधिक्य का वर्णन करते हुए जो एक ही दृष्टिपान से नायक पर रीझकर अपनी मुधबुध खो बैठी, कवि का कहना है—

१. धार में धाय धँसी निरधार हूँ, जाय फँसी उकसों न उधेरी ।
री ! अगराय गिरीं गहरीं, गहि फेरे फिरीं न, घिरीं नहि घेरी ।
देव कछू अपनो बस ना, रस लालच लाल चितं भई चेरी ।
वेगि ही बूड़ि गई पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भई मेरी ॥
२. औचक ही चितई भरि लोचन वा रस के बस हूँ चुकी चेरियं ।
मोहक मोहू पं हौं नहीं सूझत बूझत स्थाम घने तम घेरियं ।
आनंद के मन के नद में मनु बूड़ि गयो हृद में नहि हेरियं ।
कै उलटो सब लोक लगै किधौं देव करी उलटी मति मेरियं ॥

कवि दूलह की एक खडिता नायिका अवलोकनीय है—

उरज उरज धँसे, बसे उर आड़े लसे,
बिन गुन माल गरे धरे छवि छाए हौ ।
नैन कवि दूलह हँ राते तुतराते बँन,
देखे सुने मुख के समूह सरसाए हौ ।
जावक सों लाल भाल पलकन पीक लोकी,
प्यारे व्रजचंद सुचि सूरज सुहाए हौ ।
होत अरुनोद यहि कोद मति बसी आजु,
कौन घरबसी घरबसी कर आए हौ ॥

मनोभावों की गहराई और सूक्ष्मता के अपूर्व चित्रकार घनानंद विरह की विदग्धता के निरूपण में अप्रतिम हैं । कृष्ण के वियोग में फाग ने व्रजबालाओं की दुर्दशा कर रखी है—

रंग लियो अबलानि के अंग तैं च्वाय कियो चित चैन को चोवा ।
और सब मुख सौंधे सकेलि मचाय दियो घन आनन्द ढोवा ।
प्राप्त अबीरहि फँट भरें अति छाव्यो फिरें मति की गति खोवा ।
स्याम सुजान बिना सजनी ! ब्रज यों बिरहा भयो फाग विगोवा ॥

सहृदय समाज द्वारा समादृत, विस्तृत लोक ज्ञान रखने वाले, सूक्ति योजना में बिहारी के समकक्ष और अनुभाव, हाव तथा अंगज अलंकारों की उत्तम अन्विति बिठाने वाले पदमाकर के कतिपय छंद दृष्टव्य होंगे ।

१. फागु की भीर, अभीरन में गहि गोविंद लै गई भीतर गोरी ।
भाई करी मन की पदमाकर, ऊपर नाई अबीर की शोरी ।
छोनि पितम्मर कम्मर तें सुविदा बई मीड़ि कपोलन रोरी ।
नैन नचाय कही मुसकाय, लला फिरि आइयो खेलन होरी ॥
२. ऐसी न देखी सुनी सजनी घनी बाढ़त जात वियोग की बाधा ।
त्यों पदमाकर मोहन को तब तें कल है न कहूँ पल आधा ।
लाल गुलाल घलाघल में दूग ठोकर दै गई रूप अगाधा ।
कै गई कै गई चेटक सी मन लै गई लै गई लै गई राधा ॥

३. आरस सों आरत सम्हारत न सोस पट ,
गजब गुजारत गरीबनि की धार पर ।
कहे पदमाकर सुरा सों सरसार तैसे ,
विथुरि विराजें हार हीरन के हार पर ।
छाजत छबीले छिति छहर छरा के छोरे ,
भोर उठि आई केलि मंदिर के द्वार पर ।
एक पग भीतर और एक देहरी पै धरै ,
एक कर कंज एक कर है किवार पर ॥

भाषा और भाव की मधुरता में पदमाकर के समक्ष तथा सरसता में मतिराम की रचनाओं तक कभी-कभी पहुँचने वाली अद्भुत मिठास से भरी हुई बेनी प्रवीन की रचना से खंडिता नायिका लीजिये—

- १— भोर ही न्यौति गई ती तुम्हैं वह गोकुल गाँव की ग्वालनि गोरी ।
आधिक राति लौं बेनी प्रवीन कहा ढिग राखि करी बरजोरी ।
आवैं हँसी मोहि देखत लालन, भाल मैं दीन्हों महावर घोरी ।
एते बड़े ब्रज मंडल में न मिली कहूँ माँगेह रंचक रोरी ॥
- २— काल्हि की गूथी बबा की सौं में गज मोतिन की पहिरी अति आला ।
आई कहाँ ते यहाँ पुखराज की संग आई जमुना तट वाला ।
न्हात उतारी हौं बेनी प्रवीन, हँसे सुनि नैनन नैन रसाला ।
जानति ना अंग की बदली, सबसों बदली बदली कहें माला ॥

भारत की पराधीनता में शासकों के हाथ बदले । मुसलमानों के बाद अंग्रेजों ने इस देश पर अधिकार जमाया ।

रीति युग के पश्चात् जब क्रमशः नवीन भाषा और शैली का वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होने लगा तथा नवीन ढंग की या वास्तविक राष्ट्रीयता को जन्म मिला, उस समय विचित्र प्रकार की अंतर्दृष्टि तथा सहज बोध वाले साहित्यिक नेता भारतेंदु हिंदी जगत में अवतरित हुए । उनकी प्रेरणा से हिंदी में सर्वतोमुखी उन्नति दिखाई पड़ने लगी । भारतेंदु की सहज उदारता, स्वाभाविक आनंदप्रद रूप और प्राकृतिक सरलता ने हिंदी को दैदीप्यमान कर दिया तथा इस सुधी को घेर कर सौरमंडल बना । भारतेंदु ने प्रेम के उभय पक्षों पर बड़ी गहराई और तन्मयता से लिखा है । देखिये, कृष्ण ने ऐसी दावाग्नि सुलगा दी कि राधा की अविरल अश्रुधारा भी उसे नहीं बुझा पाती—

बाढ़पौ करे दिन ही छिन ही छिन कोटि उपाय करौ न बुझाई ।

दाहृत लाज समाज सुखै गुरु की भय नौंद सबै सँग लाई ।

छीजत देह के साथ में प्रानहू हा हरिचंद करौं का उपाई ।

क्योंहू बुझे नहिँ आँसू के नीरन लालन कैसी दवारि लगाई ।

भारतेन्दु के उपरांत कर्मठ और योग्य आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का अविर्भाव हुआ जिनकी महती सेवा और उद्योग से हिंदी साहित्य के इस युग को द्विवेदी युग के नाम से अभिहित किया गया । द्विवेदी जी ने रीतियुगीन शृंगारी चित्रण की तीखी आलोचना की और साहित्य में परंपराओं से जकड़ी नारी के पाश काट कर उसे एक गौरवपूर्ण पद प्रदान किया तथा अपने पटु शिष्य मैथिलीशरण गुप्त को इस नवीन आदर्श की स्थापना के लिये प्रेरित किया । इस नई चेतना द्वारा प्रतिष्ठित हो शृंगार ने स्वस्थता की करवट ली जिसके परिणामस्वरूप साहित्य में पुरातन आदर्शमयी नारियाँ अपने तेजोमय चरित्र, साहस और दृढ़ता लेकर सामने आईं । राष्ट्रीय कवि गुप्त जी ने उपेक्षिता उर्मिला को सामने किया तथा यशोधरा के मिस नारी का उत्कर्ष पूर्ण चरित्र प्रस्तुत किया । नारी, नर के समक्ष उसकी प्रेरणा शक्ति और सर्वस्व बन कर अवतरित हुई—

१—एक नहीं दो दो मात्रायें नर से भारी नारी ।

२—नर नारी सुख दुख के संगी ।

३—पति से भी गति विशेष रखती है जाया ।

४—भद्रे नर भाग्य यही पूछो स्वयं शिव से ।

शक्ति के बिना वे शव मात्र रह जावेंगे ॥

आदर्श को नई चेतना देते हुए भी गुप्त जी ने मिलन और वियोग के भव्य और मार्मिक चित्र खींचे हैं । चौदह वर्ष की अवधि बिता कर लक्ष्मण

अयोध्या लौट रहे हैं। उर्मिला ने अपने यौवन के श्रेष्ठ चरण पति के वियोग में बिता दिये तभी वह सखी द्वारा शृंगार करने की प्रेरणा पाने पर स्वाभाविक ही कह उठती है—

पर यौवन उन्माद कहाँ से लाऊँगी मैं ।

वह खोया धन आज कहाँ सखि पाऊँगी मैं ॥

तथा

खोई अपनी हाय ! कहाँ वह खिल खिल खेला ।

प्रिय, जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती बेला ॥ —साकेत

और यशोधरा भी इस परिस्थिति की ओर मंकेत कर देती है—

रोते प्राण उन्हें पायेंगे,

पर क्या गाते गाते ।

गुप्त जी इसी कुशलता से संयोग-चित्रण की क्षमता भी रखते हैं। देखिये चित्रकूट में लक्ष्मण और उर्मिला मिलन—

मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी ।

मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजो भय भारी ॥

गुप्त जी की विरहिणी यशोधरा ने हृदय के करुणतम भावों को मनोरम उद्गारों के रूप में निसृत होने पर उन्हें गान माना है। “उसकी हृदय रूपी वीणा से करुण गीत निकल रहे हैं। उसकी वेदना ही मीड़ की मसक है और उसकी हूक ही गमक है। वह चातक के आहुत किये हुए हृदय की पुकार है तथा मर्म पर प्रहार करने वाली कोयल की करुण कूक है और संबोधन करने वाले सारे राग मूर्च्छित पड़े हैं” —

रुदन का हँसना ही तो गान-

गा गा कर रोती है मेरी, हृत्तंत्री की तान ।

मीड़ मसक है कसक हमारी, और गमक है हूक ;

चातक की हुत हृदय हूति जो सो कोइल की कूक ।

राग हैं सब मूर्च्छित आह्वान ।

रुदन का हँसना ही तो गान ।

प्रकृति-सौंदर्य के उद्घाटक सुमित्रानंदन पंत ने प्रथम कवि को वियोगी बना कर गान को उसकी आँखों से निष्पन्न बताया तथा काव्य को अश्रु रूप में चुपचाप उमड़कर उसकी आँखों से प्रवाहित होने वाला कहा—

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान ।

उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान ॥

Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts.

अब देखिये, अपनी प्रेयसि द्वारा अपने प्रति प्रेम की स्वीकृति का प्रभावोत्पादक चित्रण—“चन्द्र की ज्योत्स्ना में, अधकार के गह्वर में, वायु के सन-सन स्वर में, जल की लहर में, सरल पुष्प की मुस्कान में और लता के अधरोपर उस समय मुझे उत्सुकता के विचरण का आभास मिला—लगा, मारा वातावरण कुछ अनुकूल कहने के लिए व्यग्र हो रहा था। उस मुहूर्त मेरी मृगनयनी प्रेयसि ने अपनी पतके पृथ्वी से वक्ष देश होते हुए ऊपर क्या उठाई कि उनके साथ मेरी व्याकुलता भी बढ़ती गई परन्तु उसने एक पल भ्रम के लिए मेरी दीप सी दृष्टि को अपनी प्रीति भरी श्यामल दृष्टि में स्निग्ध कर दिया”—

इंदु की छवि में तिमिर के गभ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की वीच में,
एक उत्सुकता विचरती थी, सरल
सुमन की स्मिति में लता के अधर में।
निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप सी।

दार्शनिक छायावादी पं० सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’ ने धरती और आकाश सभी की बान लिखी परन्तु धरती की बहुत ही सशक्त और प्रभावशाली लिखी। उनकी ‘जूही की कली’ शीर्षक निम्न कविता किस रमिक को रतिभाव से आग्लावित न कर देगी—

सोती थी

जाने कहो कैसे प्रिय आगमन वह ?

नायक ने चूमे कपोल

डोल उठी बल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल।

इस पर भी जागी नहीं,

चूक क्षमा मांगी नहीं,

निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूंदे रही—

किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये कौन कहे ?

निर्वय उस नायक ने

निपट निठुराई की

कि झोंकों की झड़ियों से

सुंदर सुकुमार देह सारी झझकोर डाली,

ममल दिये गोरे कपोल गोल,

चोंक पड़ी युवती,

चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास
नम्रमुखी हँसी, खिली
खेल रंग प्यारे संग ।

महादेवी वर्मा अपने प्रियतम की प्रतीक्षा में पाती हैं—“कल की अमफल प्रतीक्षा सा ही आज का दिन भी व्यतीत हो गया और विरह के साथ मिलन की भावना भी एकीभूत हो गई परन्तु मेरी स्मृति निराश पुजारिन सदृश राह में आँखें बिछाये रहती है । मेरी रंग विरंगी भावनायें ही सायंकालीन आकाश पर आच्छादित हो जाती हैं । प्रस्वेद से सिक्त मेरा रोमांच ही अंधकार को तारागणों रूपी दीपावली से ज्योतित कर रहा है । वंदिनी होकर भी मैं अखिल बंधनों की स्वामिनी हूँ क्योंकि ये बंधन और विवशता मुझे प्रिय हैं । हे सखि, विरह की विक्षुब्ध करने वाली घड़ियाँ कुमुमाकर की रजनी सी मधुर और आकर्षक हो गई हैं ”—

सजनि अंतर्हित हुआ है आज में धुंधला विफल कल;
हो गया है मिलन एकाकार मेरे विरह में मिल;
राह मेरी देखती
स्मृति अब निराश पुजारिनी सी !
फँलते हैं सांध्य नभ में भाव ही मेरे रँगिले;
तिमिर की दीपावली है रोम मेरे पुलक गीले;
वन्दिनी बन कर हुई
मैं बन्धनों की स्वामिनी सी !

महादेवी की असीम वेदना उनकी रचनाओं की पंक्तियों में साकार होकर मुखरित हुई है—

मैं नीर भरी दुख की बदली ।
इस नभ का कोई भी कोना, अपना न हुआ न कभी होना;
परिचय इतना इतिहास यही, उमड़ी कल की मिट आज चली ।

प्रेम और सौंदर्य के अप्रतिम गायक जयशंकर प्रसाद ने प्रेमपथ का चित्र खींचते हुए लिखा है—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना ।
किंतु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं ।
अथवा उस आनंद भूमि में जिसकी सीमा कहीं नहीं ।

प्रेमी के हृदय में वेदना का हाहाकार गरज रहा है और वह कह पड़ता है—

धीरे से वह उठता पुकार, मुझको न मिला रे कभी प्यार ।

तथा अपनी विजडित व्याकुलता में उसके स्वर निनादित होते हैं—

अरे कहीं देखा है तुमने मुझे प्यार करने वाले को ।

मेरी आँखों में आकर फिर आँसू बन ढरने वाले को ।

परन्तु हृदय की प्रतिध्वनि उसे रहस्य बताती है कि प्यार तो खोजने से प्राप्त होता है और प्रिय के देने पर ही मिलता है—

पागल रे मिलता है वह कब ।

उसको तो देते ही हैं सब ॥

और वह स्वभावतः ही प्रार्थना और निवेदन के स्वर में पुकारने लगता है—

मेरी आँखों की पुतली में

तू बन कर प्राण समा जा रे ।

प्रसाद के काव्य का मूल स्वर करुण विप्रलंभ है । कवि की आप बीती होने से वह और भी मर्मस्पर्शी है—

विष प्याली जो पी ली थी

वह मदिरा बनी नयन में

सौंदर्य छलक प्याले का

अब प्रेम बना जीवन में ।

और प्रिय के रूप-दर्शन की यह विषभरी प्याली उसे आजीवन दुःख से विदग्ध करती रही क्योंकि रूप दर्शन मात्र तक संयोग सीमित न रहा वरन् वह तो आगे बढ़कर—

परिरंभ कुंभ की मदिरा

निश्वास मलय के झोंके;

मुख चंद्र चाँदनी जल से

में उठता था मुख धोके ।

यहाँ तक जा पहुँचा इसी से तो वियोग के क्षण प्रेमी की वेदना की सीमा को निम्न भावभूमि तक पहुँचा सके—

मादकता से आये तुम

संज्ञा से चले गये थे

हम व्याकुल पड़े बिलखते

थे, उतरे हुए नशे से ।

स्वतन्त्रता की लहर ने पाश्चात्य प्रभावों को दृढतर करके प्रगतिवादियों और प्रयोगवादियों को भी अधिक स्वच्छन्द बनाया । प्रेम के क्षेत्र में छाया-वादियों की रही सही झिझक प्रयोगवादियों की प्रेमानुभूतियों की अभिव्यक्ति में दूर हो गई । भारतभूषण अग्रवाल 'मागर की सीप' नामक अपने काव्य-संकलन में लिखते हैं—

सो रही है रात गुम सुम
जागते हैं प्राण मेरे ।
हैं बहुत खामोश मौसम
दे रहे पहरा सितारे ।
ढल रही बेहोश शबनम,
उम्र की आवाज सुनकर
जग उठे अरमान मेरे ।
सो रही है रात गुमसुम
जागते हैं प्राण मेरे ।
आज तक गाया तुम्हें है
गीत ने भी प्रीत ने भी
पर नहीं पाया तुम्हें है
अब किसे पूजूं बताओ
हैं नहीं भगवान मेरे ।

सो रही है रात गुम सुम
जागते हैं प्राण मेरे ।

यदि प्रिय मिलने की प्रतिज्ञा करे और आश्वासन दे दे तो प्रेमी की कुमारी प्रीति सौ-सौ जन्मों तक उसकी प्रतीक्षा करेगी, युग-युग का असीम अवकाश क्षणवत् व्यतीत हो जावेगा । यह सब वियोग के उद्गार प्रिय की प्राप्ति हेतु ही हैं परन्तु भारतभूषण इससे आगे भी उस प्रतीक्षा में आकृति की चर्चा करते हैं । देखिये—

सौ सौ जनम प्रतीक्षा कर लूँ
प्रिय, मिलने का वचन भरो तो ।
लट बिखराये जोग रमाये
प्रीत कुँआरी तुम्हें बुलाये !
वैरिन पीड़ा मेरे मन में
बिना धुँएँ का हवन कराये
सूरज को अधरों पर धर लूँ
काजल कर आँजूँ अँधियारी ।
युग युग के पल छिन गिन-गिन कर
बाट निहालूँ प्राण तुम्हारी ।
साँसों की जंजीरें तोड़ूँ
तुम प्राणों की अगन हरो तो ।

सौ सौ जनम प्रतीक्षा कर लूँ

प्रिय मिलने का वचन भरो तो ।

—सागर के सीप

इसी संग्रह की एक अन्य रचना में वियुक्त प्रेमी ने अपने निर्मम प्रिय को बड़े ही मार्मिक और उपालम्भ के स्वरों में पुकारा है । अपनी हर साँस में रमे हुए को प्रेमी का प्रत्येक आँसू, प्रत्येक वेदना की टीस एवं प्रत्येक व्यथा का घाव प्रिय को पुकारता रहा परन्तु वह नहीं आया—

हम आज भी तुम्हारे तुम आज भी पराये ,
 सौ बार आँख रोई सौ बार याद आये ।
 इतना ही याद है अब वह प्यार का जमाना ,
 कुछ आँख छलछलाई कुछ ओठ मुसकुराये ।
 हर बार सोचता हूँ इस बार देख लूँगा ,
 पर खो गई नजर ही जब भी पलक उठाये ।
 तुम इस तरह रमे हो हर साँस में हमारी ,
 छिपते नहीं छिपाए , दिखते नहीं दिखाये ।
 बदनाम कर दिया है ऐसा गुनाह क्या था ,
 ले नाम सा तुम्हारा भर नोंद मुसकुराये ।
 इस दर्द की कसम है तब तक न साँस लूँगा ,
 पत्थर नयन तुम्हारे जब तक न छलछलायें ।
 हर घाव ने बुलाया हर अश्रु ने बुलाया ,
 हर दर्द ने बुलाया बेदर्द तुम न आये ।
 हम सा न दूसरा है इतने बड़े जहाँ में ,
 जब प्यार ने बुलाया मंदिर से भाग आये ॥

प्रेमी की एक ही रागिनी है और उसको जगाने की यदि किसी में सामर्थ्य है, तो प्रिय में—

एक मुझमें रागिनी है,
 जो कि तुमसे जागनी है ॥

दीपक की ज्योति मंद हो चली, सबेरा हो गया और प्रिय न आया
 भारतभूषण 'ओ अप्रस्तुत मन' में लिखते हैं—

काँपता है हिया
 लौ भी झुक चली
 अब जिन्दगी का दिया बुझना चाहता है ,
 ओट आंचल की इसे क्या तुम न बोगी ?

पर,
 सबेरा हो गया है
 नव उषा का हास पथ को धो गया है
 कर रहा दिनकर किरण की भेंट चरणों में
 स्वप्न का लोगी सहारा किसलिए इन क्षणों में ?
 कब तलक यह व्यर्थ की आराधना होगी ।
 कह रहा है सूर्य कानों में प्रभाती कूक दो !
 कह रहा है दीप प्राणों में अँधेरा फूँक दो ।

—(व्यर्थ की आराधना)

इन कवियों में संयोग के बाद ही वियोग की पीड़ा दिखाई पड़ती है । वियोग की अनुभूतियों से संयोग प्रत्यक्ष झँकता है और प्रेयसि प्रायः परकीया है । बालकृष्णराव के काव्य-संग्रह 'रात बीती' से 'मुग्धा का स्वप्न भंग' शीर्षक रचना की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

एक ही थी राह आने की यहाँ तक
 और उस पर मैं सबेरे से तुम्हारी
 शाम तक करती रही अपलक प्रतीक्षा,
 पर न आये तुम न पाई एक आहट ।
 सूर्य के ही साथ आशा क्षीण होने,
 साथ छाया के लगी थी श्रान्ति बढ़ने,
 फूल माला में पड़े मुरझा रहे थे;
 वायु भी लेने लगी थी साँस ठंडी ।

अपनी मधुर कोमल भावनायें थोड़े आवरण से प्रस्तुत करने वाले नागार्जुन अपने 'सतरंगे पंखों वाली' नामक संग्रह में—

‘कर गई चाक
 तिमिर का सीना
 जोत की फाँक
 यह तुम थी’

का रहस्य उद्घाटित करते हुए, 'चातकी' की व्यथा के मिस कुछ और भी बता जाते हैं । अमित आशा और विश्वास लिए, वेदनाओं के विशाल इतिहास को हृदय पर लादे, काली घन-घटा पावस के सौन्दर्य जिसे न सुहाये, सातों सागर खारे लगे, उमड़ती नदियाँ फीकी लगीं और मानसरोवर में भी मन न रमा—उसका प्यारा प्राणाधार जब मिला तभी उसे विश्रान्ति मिली और प्रिय से संवेदना की चार बूँदें ही पर्याप्त हुई—

प्रतीक्षा थी, आस थी, विश्वास था
 और, प्रियतम ! जले हिय पर लदा
 वेदनाओं का विकट इतिहास था
 कण्ठगत थे प्राण तेरे ध्यान में
 निठुर जग तो ले रहा था रस यहाँ
 'पी कहाँ' की मर्मवेधक तान में ।
 सुहाई न मुझको काली घन घटा
 सुहाई न मुझको पावस की छटा
 जलधि सातों ही मुझे खारे लगे
 लगीं फीकी उमड़ती नदियाँ सभी
 चित्त पर मेरे न चढ़ पाया कभी ।
 वह सरोवर भी धवल कैलास का
 टुकड़ियों में बँटे औ बिखरे हुए
 धन्य ! स्वाती के जलइ तुम धन्य हो
 त्रिकल थी चिर प्यास से यह चातकी
 आग ! तुम अब कभी किस बात की
 किया दर्शन नयन शीतल हो गए
 उपालम्भक भाव थे सब खो गए
 आ गई है जान में अब जान रे
 (चार बूंदें ही मुझे पर्याप्त थीं ।)

और धर्मवीर भारती ने अपनी 'कनुप्रिया' में जन्मान्तरों की अनन्त पग-
 डण्डी पर खड़े होकर राधा को कृष्ण की प्रतीक्षा करते दिखाया है जिससे कि
 इस बार इतिहास बनाते समय वे अकेले ही न रह जावें, उनके साथ राधा को
 भी स्थान मिले । बड़ा ही गहरा और मार्मिक उपालम्भ भारती ने राधा से
 दिनाया है । परकीया राधा का नाम लोक में कृष्ण के साथ जादू की तरह
 सिर पर चढ़कर बोला परन्तु कृष्ण के इतिहास में वे अनुपस्थित हैं । कवि ने
 इस उपेक्षा को मुखरित कर दिया है—

क्या तुमने उस बेला मुझे बुलाया था कनु !

लो मैं सब छोड़ छाड़ कर आ गई ।

इसीलिए तब

मैं तुममें बूंद की तरह विलीन नहीं हुई थी,

इसीलिए मैंने अस्वीकार कर दिया था

तुम्हारे गोलोक का कालावधिहीन रास,

क्योंकि मुझे फिर आना था ।

मैं आ गई हूँ प्रिय
मेरी बेणी में अग्नि पुष्प गूँथने वाली
तुम्हारी अँगुलियाँ
अब इतिहास में अर्थ क्यों नहीं गूँथती ?
तुमने मुझे पुकारा था न ।
मैं पगडंडी के कठिन मोड़ पर
तुम्हारी प्रतीक्षा में
अडिग खड़ी हूँ कनु मेरे ।

कावि ने राधा की पुरातन प्रीति तो साकार कर ही दी, उसकी कान्हू के लिए अडिग प्रतीक्षा जीवन के कठिन मोड़ पर बताकर उसके प्रेम की दृढ़ता, धैर्य और साहस को मूर्तिमान कर दिया ।

न जाने कितनी राधा भाव वाली प्रेयसियाँ अपने प्रियतमों की अवहेलना के कष्टस्वरूप जीवन के संघर्षमय कठिन मोड़ों पर आज भी कर प्रतीक्षा रही हैं ।

‘नील कुसुम’ शीर्षक अपने संग्रह में रामधारी सिंह ‘दिनकर’ लिखते हैं—

नहा कर सात रंगों में
कहीं से वेदना आई ;
उदासी या किसी गम की
उषा के लोक में छाई ।
कसकती वेदना ऐसे कि
जैसे प्राण हिलते हों ;
किरण सी फूटनी मानों ;
तिमिर में फूल खिलते हों ।
अँधेरी रात में ज्यों बज
रही हो ज्योति की सरगम ।
ढलकते गीत में मोती
चमकती आँख में शबनम ।

—(गायक)

हरिवंशराय ‘बच्चन’ ने लौकिक-अलौकिक सभी का सम्मिश्रण करते हुए ‘मिलन यामिनी’ में लिखा—

खींचतीं तुम कौन ऐसे बन्धनों से
जो कि रुक सकत। नहीं मैं ।

और अपनी ‘प्रणय पत्रिका’ में वियोग को उच्छ्वसित कर दिया है—

मेरी तो हर साँस मुखर है
प्रिय तेरे सब मौन सँदेसे ।

किसी आधुनिक कवि ने जब आत्ममंथन करके गान किया—‘उसकी परिभाषा ही मेरे जीवन का इतिहास बन गई’ और कामना की—‘तृप्तियाँ चाहे मिटें पर चाह रह जाये’ तथा आशा लगाई—‘जीवन का विश्वास मौत से मर न सकेगा’ तो उमे राग और विराग के बीच समन्वय का उपदेश मिला। और कोई प्रयोगवादी (जगदीश गुप्त) काम का स्पष्ट कुत्सित रूप खींचता हुआ लिख ही बैठा तो उमने भ्रम्यंतर से स्वस्थ दैवी प्रेम की कदरना नहीं की—

जयति काम

सृष्टि के विधायक, नायक, रतिपति,

गलिन मुग्ध पलित देह

श्वान सदृश शुनि के पीछे धावित,

कुण्ठित अवचेतन उपचेतन के

गहरे नील जल में

तैर रहीं सतरंगी वासना मछलियाँ जिसका केतन

गुह्य द्वार अंगों के उत्पीड़न,

फिर भी ज्ञापित अनंग !

चढ़ी हुई चंचरीक प्रत्यंचा वाला धनु-कुसुम तान ।

करते आखेट मधु ऋतु में पंचवाण !

अश्वों सी सबल चपल इन्द्रियाँ

खींचनीं तुम्हारा रथ !

ओ मनोज ! ओ मन्मथ !

सुकृत पुरुष, विकृति धाम,

जयति काम !

अमित रूप अमित नाम ।

इस युग के सिया राम

क्षुधा काम ।

—(शब्ददंश)

दूसरे प्रयोगवादी कवि (कुंवर नारायण) ने ‘स्खलित सृष्टियाँ’ शीर्षक के अन्तर्गत लिखा—

ओ प्रिय शशि मुख

उर्वशी, हेलेन, दमयंती, सीता, नूरजहां.....

यह चाह करोड़ों मिटे बार

दृग चुनी जा चुकी :

बासी दुनियाँ

काफी सस्ती

हर बार नई
होकर बिकती :

—चक्रव्यूह

तथा 'तुम नहीं' शीर्षक कविता में अपनी भग्न आशा से भी साक्षात् करा दिया—

यह जो एक स्पष्ट सौंदर्य
सहसा मेरी प्यासी आँखों में छलक आया,
ओठों से दूर,
संभव है रेत के किरी वीरान प्याले में
झूमती हुई मरोचिका हो,

तुम नहीं :

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने 'अहं से मेरे बड़ी हो तुम' में बड़े ही ढंग से अपने प्रिय को या यों कहिए नारी को गौरव प्रदान किया है—

अहं से मेरे बड़ी हो तुम !

क्योंकि मेरी शक्तियों की—

हर पराजय जीत की

अंतिम कड़ी हो तुम ।

जहाँ रुक कर .

फिर नयी में टेक गड़ता हूँ,

भूमि पंरों के तले मेरे न हो फिर भी

हर नये संघर्ष के विष शृंग चढ़ता हूँ,

क्योंकि अंतर में अतल गहरे

आस्था के टूटते असहाय रथ के चक्र थामे

नित खड़ी हो तुम ।

हिंदी साहित्य के इस संक्षिप्त परन्तु व्यापक सिंहावलोकन से स्पष्ट है कि युग बदले, भाषा बदली, छंद बदले, आदर्श बदले तथा कसौटियाँ बदलीं; गुलामी आई गुलामी गई परन्तु स्त्री और पुरुष के बीच अविकल-अविराम रूप से वर्तमान रहने वाले परस्पर आकर्षण के शाश्वत स्वच्छंद प्रेम के बंधन न बदले ।

इसमें कोई संदेह नहीं कि विरागियों ने अपनी शक्ति निष्फल होते देखकर नारी और काम पर नाना प्रकार के विद्रूप रचे तथा युग-युग में नारी को छलना बताकर उसकी भर्त्सना की गई परन्तु इस सबसे नारी, उसके सौन्दर्य और उसकी आकर्षक शक्ति की निर्बलता सिद्ध न होकर उसकी सबलता का उद्घोष ही हुआ । दुनियाँ गवाह है और विश्व-साहित्य की लिखित साक्षी है कि मानव मन प्रेमानुभूतियों एवं उनके मधुर सिंचन में ही पलता आया है और

आगे भी पलता रहेगा क्योंकि यही उसका संबल है तथा यही उसकी प्रेरणा है। भाव हो, स्नेह हो या रति हो प्रेम के विविध रूप और विविध नाम ही मानव के चेतन-अचेतन मन पर एक द्युत अटल अधिकार किये हुए उसे परिचालित करते रहते हैं।

स्त्री और पुरुष के परस्पर प्रेम और विश्वास ने जगत् में जो अलौकिक कार्य कर दिखाये हैं तथा गरिमामयी और महिमामयी नारी ने पुरुष को जिस आलोक पथ की ओर प्रेरित किया है तथा बढ़ावा देकर साहस फूका है वह शतशः अभिनंदनीय और अभिवादनीय है।

हास्य रस

हिन्दी साहित्य का युगारम्भ वैसे ९-१०वीं शताब्दी से ही हो गया था परन्तु एक विशिष्ट धारा और प्रशस्त प्रभावोत्पादक रूप में वह १२वीं शताब्दी से ही माना जाता है। यह १२वीं शती का वह युग था जब भारत ने अपनी स्वाधीनता खोकर पराधीनता की तौक गले में डाली थी। सन् ११९१-९२ ई० में तराई के युद्ध में दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट महाराज पृथ्वीराज चौहान तृतीय की पराजय हुई और आगामी दस वर्ष के अंदर ही लगभग सारे उत्तर भारत पर आक्रमणकारी मुस्लिमों का शासन छा गया। तब से १५ अगस्त १९४७ ई० तक अर्थात् लगभग ७५० वर्षों तक परतंत्रता की चक्की के पाट के नीचे पिसते हुए हिंदी भाषा भाषियों का साहित्य 'गुलामी के दिनों का साहित्य' है जिसमें दासता के गुणों का प्रतिबिम्ब भी देखने को मिल जाता है। यह कौन नहीं जानता कि दासता नरक सदृश है अथवा कहना अनुचित न होगा कि उसमें भी कुछ बढ़कर सिद्ध है क्योंकि नरक निवासियों के जीवन में पापों का क्षय होने पर फिर मुखद घड़ियाँ अनिवार्य हैं किन्तु दासता के बंधनों का स्वतः कोई अंत नहीं, वह असीम है। इसमें सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि दासत्व काल में भारतीय साहित्य में ही क्या विश्व के किसी गुलाम देश के साहित्य में विशुद्ध हास्य रस के दर्शन दुर्लभ हैं क्योंकि इन परिस्थितियों में आमोद, प्रमोद और आह्लाद की संभावना की कल्पना आशातीत है। हँसी स्वर्ग में ही संभव है और नरक व्यंग्य का उपयुक्त क्षेत्र है। व्यंग्य की मूल प्रेरणा है असंतोष और गुलामी की उर्वरा भूमि में उसकी उपजाऊ खेती प्राकृतिक ही है।

आठवीं शताब्दी के सिद्ध सरहपा का अपने मत के प्रतिपादन में अपर धार्मिक विचारों का व्यंग्यात्मक खंडन अपने युग के आकर्षक प्रचारों में रहा होगा—

जइ णगाबिय होइ मुत्ति, ता मुणह सिआलह ।

लोम उपाडण अत्थि सिद्धि, ता जुवइ-णिअम्बह ।

पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख, ता मोरह चमरह ।

उच्छ भोजणे होइ जाण, ता करिह तुंगह ॥

[अर्थात्—यदि नंगे रहने से ही मुक्ति मिलती है तो श्वान और शृगाल क्यों नहीं मुक्त हो गए ? यदि लोम उखाड़ने से ही सिद्धि प्राप्त होती है तो स्त्रियाँ क्यों नहीं सिद्ध हो गईं, उनके नितम्ब देश पर भी तो लोम नहीं होते ? मोरछल धारण करने से ही यदि मोक्ष दृष्टिगत हो जाता तो मोरों को तर जाना चाहिये था । उच्छिष्ट भोजन ही यदि ज्ञान का दाता है तो हाथी और घोड़ों को ज्ञानी हो जाना चाहिये था ।]

पृथ्वीराजरासो में कवि चंदवरदायी और कान्यकुब्जेश्वर जयचंद का वार्ता-लाप श्लेष वक्रोक्ति पूर्ण व्यंग्य का एक अच्छा स्थल है जिसमें जयचंद वरदायी को बैल और पृथ्वीराज को भील बनाकर आक्षेप प्रारम्भ करते हैं । यथा—

मुह बरिद्र अरु तुच्छ तन जंगलराव सु हृद ।

वन उजार पसुवन चरन बधौं दूबरौ बरहृ ॥

चंद का उत्तर —

चड़ि तुरंग चहुआन । आन फेरीत परद्धर ॥

तास जुद्ध मंड्यौ । जास जानयौ सबर बर ॥

केइक तकि गहि पात । केइ गहि डार मूर तर ॥

केइक दंत तुछ त्रिन्न । गए दस दिसनि भाजि डर ॥

भुअ लोकत दिन अचरिज भयौ । मान सबर बर मरदिया ॥

प्रथिराज षलन षड्यौ जु षर । सु यौ दुब्रौ बरदिया ॥

रासो में इस प्रसंग के उत्तर-प्रत्युत्तर पठनीय है ।

विद्यापति ने उमा और शंकर के विवाह में व्याजस्तुति करते हुए व्यंग्यात्मक हास्य के अनेक छीटे दिये हैं । यथा—

मैना कहती है इस निर्मोही को मैं अपनी कन्या का वर नहीं बनाऊँगी इसके शरीर पर बित्ता भर भी वस्त्र नहीं है और बाघंबर को यह बगल में दबाये रहता है (यह नहीं कि उसी को पहनकर लज्जा निवारण करे) —

नाहि करब हर बर निरमोहिया ।

बित्ता भरि तन बसन न तिन्हका

बघछल काँखतर रहिया ।

‘शंकर विवाह की वेदी पर पहुँचे और उनकी जटाओं ने छिटककर सारा मंडप भर दिया । उनसे विधि करने को कहा जा रहा है परन्तु वे विधि न करने का हठ कर रहे हैं । अंततः विधि करते हुए शंकर घूम कर गिर पड़े जिससे सर्प रूपिणी रस्सी खुल गई (और बाघम्बर उधरने से वे दिगंबर दिखाई पड़ गये); यह दृश्य देखकर श्री गौरी मुसकरा दी—

बइसल महादेव चौका चढ़ी ।
 जटा छिरिआओल माओल भरी ॥
 विधिकरु विधिकरु विधि करु करु ।
 विधि न करइ से हर हो हठ धरु ॥
 बिधिऐ करइत हर हो घुमि खसु ।
 सँसरि खसल फनि सिरि गौरी हंसु ॥

चौराहे से कुरीतियों, अंधविश्वासों और घातक रूढ़ियों की खिल्ली उड़ाने वाले संत सम्राट कबीर की व्यंग्योक्तियाँ भी पूर्ववर्ती सिद्धों की वाणियों के समान कम चुभने वाली नहीं हैं। देखिए—

पाहन पूजे जो हरि मिलें तो हम पुजें पहाड़ ।
 ताते तो चक्की भली पीसि खाइ संसार ॥
 काँकर पाथर जोरि कै मसजिद लई चुनाय ।
 ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय ॥

व्यंग्य और हास्य का अंतर भलीभाँति समझने वाले हिंदी साहित्य के अनेक पारखी हैं परन्तु मुजानता का दंभ भरने वाले अजानों को ही भ्रम होता है जो हिंदी की व्यंग्य गर्भित रचनाओं को हास्य कहकर वैसा प्रचार करने से नहीं चूकते और प्रमादवश अपने बुद्धि-भ्रम का दूसरों में प्रसार करते हैं। इनकी मोटी या खोटी बुद्धि छोड़कर हम वस्तुस्थिति पर विचार करेंगे। तुलसी की निम्न रचना लीजिये—

विध्य के वासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे ,
 गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि वृंद मुखारे ।
 ह्वैं हैं सिला सब चन्द्रमुखी, परसे पद मंजुल कंज तिहारे ,
 कीर्हीं भली रघुनायक जू कहना करि कानन कौं पग धारे ।

काव्यकल्पद्रुमकार ने इसका हास्य रस के अंतर्गत उल्लेख करके छोड़ दिया है परन्तु काव्यदर्पणकार ने इसे व्यंग्यात्मक उपहास कहा है जो यथार्थता के अधिक समीप है। उपर्युक्त छंद में गोस्वामी जी ने अपने समकालीन साधु समाज की गर्हित अन्तर्वृत्ति का परदा फाश किया है। शंकर जी की बारात का प्रसंग लेकर उनके द्वारा प्रस्तुत एक हास-परिहास का चित्र और देखिए—

कर त्रिशूल अरु डमरु बिराजा । चले बसह चढ़ि बाजहिं बाजा ॥
 देखि शिवाहिं सुरतिय मुसकाहीं । बर लायक दुलहिन जग नाहीं ॥
 वर अनुहारि बरात न भाई । हँसी करंहु पर पुर जाई ॥
 विष्णु वचन सुनि सुर मुसकाने । निज निज सेन सहित बिलगाने ॥
 बिहारी के निम्न दोहों में सन्निहित व्यंग्य दृष्टव्य है—

अति धन लै अहसान कं पारो देत सराहि ।

वैद वधू अति रहस सों रही नाह मुह चाहि ॥

नपुंसक रोगी से अत्यंत धन लेकर भी एहसान जतलाने वाले और पारे के भस्म की गुणावली गाने वाले पुरुषत्वहीन वैद्य का मुख उसकी पत्नी मुसकरा कर इस आशय से देखने लगी कि 'वैद्य पहले अपना तो इलाज कर ।'

परतिय दोष पुरान सुनि लखि मुलकी सुखदानि ।

कसु करि आई मिश्र हूँ, मुंह आई मुसकानि ॥

इसमें परस्त्रीगमिता के दोषी पंडित को परकीयत्व दोष वर्णन करता पाकर कवि ने उसकी खबर ली है ।

एक अन्य स्थल पर बिहारी ने उस ज्योतिषी का मजाक उड़ाया है जो अपने पुत्र के जन्म पर उस काल के योग-लग्न में अपने पिता को मारने वाला योग पाकर शोक करने लगा था परन्तु उसी समय उसे ऐसा योग मिला जिससे सिद्ध हुआ कि उक्त पुत्र जारज संतान है और वह हर्षातिरेक में इसलिये भर गया कि वह मृत्युपाश से छूट गया और उसके स्थान पर अब जार की मृत्यु होगी—

चित्त पित मारक जोग गनि, भयो भयें सुत सोगु ।

फिर हुलस्यो जिय जोइसी, समुझें जारज-जोगु ॥

हिंदी साहित्य की अधिकांश व्यंग्यपूर्ण रचनायें व्यक्तिगत असंतोष की प्रतिक्रिया स्वरूप रची गई हैं । भँड़ुआ रचना कवि के लिये आवश्यक मानने वाले शिव कवि शुक्ल रचित वैष्णव धर्म का उपहास देखिये—

मुच्छ मुंड मुंड सिर झोटई छोटि छोटि

छाया दिये मुंह बाए द्वार द्वार फिरहौ ।

तंतुकार चर्मकार बाम बढई लोहार

सोनखर सोनार मिलि सबे अष्ट करिहौ ।

शिव कवि कहैं तेरे गरे में परेगो काठ

पूछिहौ न जाति पाँति जूठ खात फिरहौ ।

ऊधौ के बिरोधी राधे गोपिन के श्राप ते

काहू कठमलिया के पाले पूत परिहौ ॥

हिंदी में कहीं बूढ़ी हथिनी पाने पर, कहीं भेट में छोटे आम दिये जाने पर कहीं हलकी रजाई की प्राप्ति पर, कहीं श्राद्ध में खराब पेड़े पाने पर और कहीं लड़ाका पत्नी घर आ जाने पर कवि का अमर्षपूर्ण व्यंग मुखरित हो उठा है ।

१—

तिमिर लंग लइ मोल चली बाब्र के हलके ।

रही हुमायूं संग फेरि अकबर के दल के ।

जहाँगीर जस लियो पीठि को भार हटायो ।

शाहजहाँ करि ग्याब ताहि पुनि मँड़ चढायो ।

बल रहित भई पौरुष थक्यो, भर्गो फिरत बन स्यार डर ।

औरंगजेब करिनी सोई लै वै दीन्ही कविराज कर ॥

- २- चींटी की चलावै को ? मसा के मुख आप जाय
स्वास की पवन लागे कोसन भगत है ।
ऐनक लगाये मरु मरु कै निहारे जात
अनु परमानु की समानता खगत है ।
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं
मेरी जान ब्रह्म को विचारिबो सुगत है ।
ऐसे आम दीन्हे दयाराम मन मोद करि
जाके आगे सरसों सुमेर सों लगत है ॥

- ३- कारीगर कोऊ करामात कै बनाय लायो,
लीनी दाम थोरे जानि नई सुघरई है ।
रायजू को रायजू रजाई दीन्हीं राजी ह्वै कै,
सहर में ठौर ठौर सुहरति भई है ।
बेनी कवि पाय कै अबाय घरी द्वैक रहे,
कहत बनै न कछु ऐसी गति ठई है ।
साँस लेत उड़िगो उपरला भितरला हू,
बिन द्वै की बाती हेतु रुई रहि गई है ॥

- ४- चींटी न चाटत मूसे न सूँघत बास सों माछी न आवत नेरे ।
आनि धरे जब ते घर में तब ते रहे हैजा परोसिन घेरे ।
माटिहु में कछु स्वाद मिले इन्हें खाय सो ढूँढ़त हरं बहेरे ।
चौंकि परो पितु लोक में बाप सो पूत के देखि सराध के पेरे ॥

- ५- होत ही प्रात जो घात करै नित पारै परोसिन सों कल गाढ़ी ।
हाथ नचावति मुंड खुजावति पौरि खड़ी रिस कोटिक बाढ़ी ।
ऐसी बनी नख से सिख लौं व्रजचन्द ज्यों क्रोध समुद्र तें काढ़ी ।
ईंट लिए बतरात भताए सों भामिनी भौन में भूत सी ठाढ़ी ॥

त्रिभुवन सुन्दरी राधा एवं अन्य लावण्यमूर्तियाँ गोपिकार्यों जिसकी प्रिय-
तमायें रही हों वह कृष्ण मथुरा की कुबड़ी (कुब्जा) दासी पर रीझ गया और
उसे रतिदान दिया, यह जानकर गोपियों ने बड़ा व्यंग्य किया । कवि ग्वाल के
शब्दों में उसे देखिये—

ऊधो तेरे यार ऐसे ह्वै हैं रिझवार जाय,
जानती विचार तो पैं सूधो हों न जायबो ।
करती विचार भाँति भाँति के सुभाय भाय,
केती बड़ी बात हूती बाको अटकायबो ।

‘ग्वाल कवि’ पीठिन पं एक एक हाड़ी बांधि ,
 नीके मनमोहन को करतीं रिझाइबो ।
 या तो कहूँ कोई बहुरूपिया तलास कर ,
 सीख लेतीं हम सब कूबर बनाइबो ॥

आगरे वाले अलीमुहिब खाँ (प्रीतम) की ‘खटमल बाईसी’ का निम्न एक छंद अनुकूल होगा जिसमें खटमल का आतंक दिखाया गया है—

बाघन पं गयो, देखि बनन में रहे छपि
 साँपन पं गयो, ते पताल ठौर पाई है ।
 गजन पं गयो, धूल डारत हैं सीस पर
 बंदन पं गयो, काहू दाख न बताई है ।
 जब हहराय हम हरि के निकट गये
 हरि मो सों कही तेरी मति भूल छाई है ।
 कोऊ ना उपाय, भटकत जनि डोलै, सुन
 खाट के नगर खटमल की दुहाई है ॥

इस छंद में खटमल के मोर्चे से विश्व की सभी प्रबल शक्तियाँ पराङ्गमुख हो गई और मानव को विजेता खटमल की दुहाई देने के लिए विवश होना पड़ा ।

पदमाकर रचित भगवान् शंकर का विवाह अवलोकनीय है—

हँसि हँसि भाजें देखि दूल्ह दिगंबर को ,
 पाहुनी जे आवें हिमाचल के उछाह में ।
 कहै पदमाकर सु काहू सों कहै को कहा ,
 जोई जहाँ देखें सो हँसेई तहाँ राह में ।
 मगन भयेऊ हँसैं नगन महेस ठाढ़े ,
 औरें हँसे येऊ हँसि हँसि कं उमाह में ।
 सीस पर गङ्गा हँसैं भुजनि भुजङ्गा हँसैं,
 हास ही को दङ्गा भयो नङ्गा के विवाह में ॥

तथा

कर मूसर नाचत नगन, लखि हलधर को स्वाँग ।
 हँसि हँसि गोपी फिरि हँसैं, मनहुँ पिये सी भाँग ॥

‘निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल’ का उद्घोष करने वाले चतुर्मुखी साहित्यिक प्रतिभा सम्पन्न भारतेन्दु ने अनेक व्यंग्यात्मक छंद लिखे हैं । कुछ देखिये—

१—चूरन का लटका—

चूरन अमलै सब जो खावै, दूनी रिशबत तुरत पचावै ।
 चूरन खाते लाला लोग, जिनको अकल अजीरन रोग ।

हिंदू चूरन इसका नाम, विलायत पूरन इसका काम ।

चूरन साहब लोग हैं खाते, सारा हिंदू हजम कर जाते ॥

२-रूप दिखावत सरवस लूटें फंदे में जो पड़े न छूटें ।

कपट कटारी हिय मा हूलिस क्यों सखि साजन नहि सखि पूलिस ॥

३-भीतर भीतर सब रस चूसैं हंसि हंसि कै तन मन धन मूसैं ।

जाहिर बातन मैं अति तेज क्यों सखि साजन नहि अङ्गरेज ॥

‘चौबे का चिट्ठा’ व्यंग्यात्मक हास्य का भंडार है । प्रतापनारायण मिश्र की व्यंग्य हास्यपूर्ण रचनायें प्रसिद्ध ही हैं—“अरे बुढ़ापा तोहरे मारे अब तौ हम नकुनाय गयन” शीर्षक रचना बहुतां ने पढ़ी होगी । हास्य, वीभत्स और शृंगार पर प्रमुख रूप से लिखने वाले तथा नवीन प्रणालियों का सन्निवेश करने वाले पं० नाथूराम शंकर शर्मा का ‘गर्भरंडारहस्य’ व्यंग्यपूर्ण हास्य का खजाना है ।

बाल-विनोद का एक हास्यात्मक वर्णन गुप्त जी के द्वारा प्रस्तुत भी देखिये—

जयति कुमार अभियोग गिरा गौरी प्रति,

सगण गिरीस जिसे सुन मुसकाते हैं ।

देखो अंब ये हेरम्ब मानस के तीर पर

तुंदिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं ।

गोद भरे मोदक धरे हैं सविनोद उन्हें

सूँड़ से उठा के मुझे देने को दिखाते हैं ।

देते नहीं कंदुक सा ऊपर उछालते हैं

ऊपर ही झेल कर खेल कर खाते हैं ।

जनकपुरी की रमणियों ने खीर खाकर दशरथ के पुत्रों की उत्पत्ति पर देखिये किस प्रकार चुटकी ली है—

अति उदार करतूतिदार सब अवधपुरी की बामा ।

खीर खाव पैदा सुत करतीं पति कर कछू न कामा ॥

परन्तु राम भी अवसर चूकने वाले नहीं हैं । सीता जी राजा जनक को खेत में हल जोतते हुए प्राप्त हुई हैं । यह वे जानते हैं अस्तु तुरत ही उत्तर देते हैं—

कोउ न जनमे मात पिता बिन बँधी वेद की नीती ।

तुम्हरे तो महि ते सब उपजें अस हमरे नहि रीती ॥

सूर, रसखान, तुलसी, सत्यनारायण कविरत्न आदि की रचनाओं की अनुकृति पर व्यंग्यात्मक कृतियाँ (Parodies) भी देखने में आई हैं । रसखान की ‘या लकुटी अरु कामरिया’ के ढंग पर एक निर्धन कृषक का चित्र देखिये—

या खुरपी अरु फावरिया पर घास भरी गठरी तजि डारौं ।

पैर चलाइबे खेत नराइबे को दुख भँस चराय बिसारौं ।

रसखान कबौं इन हाथन सों पटवारी-दरोगा के पायें पखारौं ।
 खौंसि के छानि कौ फूस फटेरो महाजन की मुड़िया पहुँ मारौं ॥
 और तुलसी की मानस की प्रणाली पर पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा की रचना
 का निम्न अंश दृष्टव्य है—

घन घमण्ड गरजत नभ घोरा । टका हीन कलपत मन मोरा ॥
 दामिनि दमकि रही घन ग्राहीं । ज़िमि लीडर की मति थिर नाहीं ॥
 निराला जी ने कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के स्वभाव और उनमें फैली हुई कुरी-
 तियों पर गहरे व्यंग्य के छोटे कसे हैं -

ये कान्यकुब्ज कुल कुलांगार,
 खाकर पत्तल में करें छेद,
 इनके कर कन्या, अर्थ खेद,
 इस विषय वेलि में विष ही फल,
 यह दग्ध मरुस्थल नहीं सुजल ।...
 वे जो जमुना के से कछार
 पद फटे बिवाई के, उधार
 खाये के मुख ज्यों पिये, तेल
 चमरौंधे जूते से सकेल
 निकले, जी लेते घोर गंध
 उन चरणों को मैं यथा अंध,
 कल घ्राण प्राण से रहित व्यक्ति
 हो पूजूँ ऐसी नहीं शक्ति ।
 ऐसे शिव से गिरजा-विवाह
 करने की मुझको नहीं चाह !

—सरोज-स्मृति

किसी व्यक्ति द्वारा किये गये हास्य और व्यंग्य को सुनकर हम शीघ्र ही
 जान सकते हैं कि वह समाज के किस स्तर का है ।

इस प्रकरण में आचार्य ललिताप्रसाद जी सुकुल के निम्न वाक्य भी
 विचारणीय होंगे—“यह प्रबलता केवल उपहास की ही है कि अनुभूति के ही
 क्षणों में उक्तियाँ अपने गहरे से गहरे रंग में फुलझड़ियों की तरह झरने लगती
 हैं, दर्शक के लिए सुन्दर किंतु छूने वाले के लिए अग्नि का दाह । . उपहाम-
 जन्य काव्य को विशुद्ध काव्य न कह कर काव्य-कौशल कहा जाय तो अधिक
 उपयुक्त होगा क्योंकि विशुद्ध काव्य की प्रेरणा का स्थल तथा उसकी क्रिया और
 प्रतिक्रिया का केन्द्र केवल हृदय होता है तभी रस उसका प्राण हो सकता है ।
 किन्तु व्यंग्य प्रधान उपोक्ति काव्य की प्रेरणा का स्थल केवल हृदय ही नहीं बरन्

मस्तिष्क भी होता है और उसकी क्रिया और प्रतिक्रिया भी केवल हृदय तक ही सीमित नहीं रहती वरन् हृदय और मस्तिष्क दोनों ही उससे प्रभावित होते रहते हैं। इसीलिये इस कला में कौशल का प्राधान्य अधिक रहता है।”^१

और प्रो० शिवाधार पांडे का महत्वपूर्ण निर्णय भी जान लेना आवश्यक होगा—“हिंदी साहित्य में सच्चे हास्य का क्षेत्र अभी बहुत कुछ सूना ही पड़ा है। हमारा गद्य बहुत पुराना नहीं है। नाटक इने-गिने। उपन्यास निबन्ध अभी कुछ-कुछ चहके हैं। कवियों ने व्यंग्य को ही अपनाया जिसे कविता का शत्रु कहा गया है और अब राजनैतिक दल भी उसी ओर जा रहे हैं, हास्य सम्बन्धी पत्र भी। सच्ची हँसी, हँसी की पत्रिकाओं में नहीं मिलती, मिलती है सच्चे साहित्य में। हमारे नये-पुराने पचानद कहाँ तक हास्य-सागर में पैर पाये हैं, इसका उनकी चुटैया को भी पता नहीं। यहाँ न लम्बीदाढ़ी ही की चल पाई न कवि चच्चा ही की। जब तक हिंदी गद्य उन्नत नहीं, हँसी के दर्शन दुर्लभ रहेंगे। यहाँ न विदूषकों का बूता है न प्रहसनों का, न उपरूपकों का यह हास्य-चक्रवर्ती सच्ची हँसी को “हसन्नपि नृपो हन्ति” सच्चा कर दिखाते है।

वीर रस

हिंदी साहित्य युद्धवीर रस प्रधान है। हिंदी साहित्य में वीर रस पर विचार करने के साथ स्वतंत्र भारत से लेकर परतंत्र भारत के उद्योग और अंत में पुनः स्वतंत्रता प्राप्ति तक के आठ सौ वर्षों के इतिहास पर ध्यान रखना आवश्यक होगा। इस काल के हिंदी के वीर साहित्य को मुख्यतः हमें तीन भागों में बाँट देना चाहिए, क्योंकि इनमें हमें तीन भिन्न धाराओं और तीन पृथक् शैलियों के दर्शन होते हैं।

दुष्प्राप्य वीर प्रबंध—काव्य खुमान-रासो और प्रोषितपतिका नायिका का वर्णन करने वाले तथाकथित वीर-गीत (Ballad) वीसलदेव रासो की चर्चा को छोड़कर हम देखते हैं कि प्रौढ़ हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ १२ वीं शताब्दी के वीर गाथा-काल से होता है जब कि भारतवर्ष स्वतंत्र था, परन्तु आज़ादी के खतरे का घंटा जोरों से बज रहा था और वह आखिर जाकर ही रही। भारतीय सम्राटों और मुस्लिम आक्रमणकारियों के उन महान् संघर्षों का ऐतिहासिक और शैलीबद्ध विवरण हमें जयानक रचित पृथ्वीराजविजय में मिलता है। हिन्दू वीरता के प्रतीक तत्कालीन दिल्लीश्वर चौहान पृथ्वीराज तृतीय ने रणभेरी के तुमुल

१—काव्य चर्चा, पृ० ७५;

२—चेतना, वर्ष १, संवत् २००६, अंक १०, पृ० २०;

नाद पर क्षत्रियों को देश-शत्रु से मोर्चा लेने के लिए ललकारा था और उसी समय का यह घोष हमें चन्दवरदायी द्वारा पढ़ने को मिलता है—

मरना जाना हक्क है । जुग रहेगी गल्हाँ ॥

सा पुरसाँ का जीवना । थोड़ाई है भल्लाँ ॥

६४।१६८॥ पृ० रा०

अथवा— जीविते लभ्यते लक्ष्मी मृते चापि सुरांगणा ।

क्षणे विध्वंसिनी काया का चिन्ता मरणे रणे ॥

६१।१८२५॥ पृ० रा०

एक ओर महोबा के शासक परमर्दिदेव (उपनाम परमाल) के ख्यातनामा सरदारों आल्हा और ऊदल की अद्भुत वीरता और रण-कुशलता को सतत् अमर करने वाले जगनिक कुत्तों की आयु बारह वर्ष और शृगालों की आयु तेरह वर्ष का उदाहरण देते हुए क्षत्रियों को अठारह वर्ष से अधिक जीवन की इच्छा करने पर धिक्कार भेज रहे थे । देखिये.....

बारह बरस लै कूकर जीयें औ तेरह लौं जियें सियार ।

बरस अठारह क्षत्रिय जीवें । आगे जीवन कै धिक्कार ।

—आल्हा खण्ड

मरना मानव का स्वाभाविक धर्म बतलाकर वे क्षत्रिय को रणक्षेत्र गं जूझ जाने और अपना नाम अमर कर जाने का आदेश दे रहे थे—

मरना मरना है दुनियाँ मा । एक दिन मरि जैहँ संसार ॥

स्वर्ग मढ़ैया सब काहू कै । कोऊ आज मरे कोऊ काल ।

खटिया परिकै जो मरि जैहो । कोऊ न लैहे नाम अगार ।

चढ़ी अनी पैं जो मरि जैहो । तुम्हरो नाम अमर होइ जाय ।

जो मरि जैहो खटिया परि के । कागा गिद्ध न खैहैं मांस ।

जो मरि जैहो रण-खेतन में । तौ जा रहे देश में छाय ।

मरव बनाये मरि जैबो को । जो खटिया पैं मरे बलाय ॥

—आल्हा खण्ड

जगनिक के गीतकाव्य की प्रतिध्वनि साढ़े सात सौ वर्षों से जनता के कंठ में गूँजती हुई चली आ रही है । उसमें नये शब्द तो हैं ही, परन्तु वस्तु में भी अनेक परिवर्तन हो गये हैं । कुछ भी हो जगनिक के आल्हा छंदों की फड़का देने वाली प्रेरणा आज भी इसमें अक्षुण्ण है ।

दूसरी ओर बिज्जाहूर (विद्याधर) काशी नरेश जयचन्द की प्रबल वाहिनी के अभियानात्मक प्रयाण (Aggressive March) का आतंक इस प्रकार रंजित कर रहे थे—

जो किज्जिअ धाला जिणु णिब्बाला, भोटुंता पिटुं चले ।
 भंजाबिअ चीणा दप्पहि हीणा, लोहाबल हाकंद पले ।
 ओड्डा उड्डाबिअ कित्ती पाबिअ, मोलिअ मालव राअ बले ।
 तेरांगा भगिअ पुणबिण लगिअ, कासीराआ जखण चले ।

१६८ । प्राकृत पङ्गलम्

उन कासीराज के आगे हाथियों की पंक्तियाँ और वीरों के वर्ग नहीं ठहर सकने थे—

रे गोड थक्कंति ते हथिथ जूहाइ ।
 पल्लट्टि जुज्झंतु पाइक्क बूहाइ ।
 कासीरा राआ सरासार अग्गेण ।
 कि हथि कि पत्ति कि वीर वग्गेण ।

१३२-प्राकृत पंगलम्

परन्तु पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष ने भारत का भाग्य पलट दिया । पृथ्वीराज हार गये, जयचन्द भी पराजित हुए और मुस्लिमों ने भारत के अधिकांश-मध्य और पश्चिमी-भू भाग पर अधिकार कर लिया । वे जम गए और क्रमशः दृढ़ होने लगे तथा शनैः-शनैः अधिकांश उत्तर भारत पर उनका अधिकार हो गया ।

सुल्तान गोरी तथा उससे कुछ काल बाद तक के काल का वीर काव्य आने वाले समय में रचे गये वीर काव्य में अंशतः भिन्न है । गुलामी की इन प्रारम्भिक सदियों की वीर रचनायें जागृति और प्रोत्साहन के गीतों की प्रतिबिम्ब हैं । तेरहवीं शताब्दी में प्रादुर्भूत होने वाले अहिंसा परमोधर्म के सिद्धान्तों को मानने वाले जैन मतावलम्बी आचार्य हेमचन्द्र भी सामयिक परिस्थितियों के प्रभाव में अपने को मुक्त न कर पा के तलवार के गीत गा उठे—

खग बिसाहिउ जहिं लहहुँ, पिय तहिं देसहिं जाहुँ ।

रण दुब्बिक्खे भग्गाइं बिणु जुज्झे न वलाहुँ ॥

८-४-३८६।१।शब्दा०

एक दूसरी उक्ति भी विचारणीय है । वीर (रमणी) ने युद्ध भूमि में अपने पति के मारे जाने पर संतोष प्रकट किया, क्योंकि यदि वह रण से भाग आता तो उसे अपनी समवयस्काओं में लज्जित होना पड़ता ।

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कंतु

लज्जेजन्तु वयंसियहु जइ भग्गा घर एंतु ॥

८-४-३५१।११। शब्दानुशासनम्

जैनाचार्य के ऐसे उदाहरण तत्कालीन स्त्रियों और विशेष कर क्षत्राणियों के क्षात्र तेज पर तीव्र प्रकाश डालते हैं ।

गुलामी में जकड़े जाकर और रात दिन अत्याचारों के शिकार बने रहने पर

भी आज़ादी की हूक तो उठती ही रही होगी। राणा हमीर, राणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल आदि वीर पुंगवों ने अपने समकालीन मुस्लिम बादशाहों से लोहा लिया और उनके कृत्यों के वीर गान हमें शार्ङ्गधर, भूपण, लाल जैसे कवियों की उत्साह प्रसविनी लेखनी से मिलते रहे। देखिये राणा हमीर का प्रयाण और उसका प्रभाव—

भंजिअ मलअ चोल बइ णिबलिअ गंजिअ गुज्जरा ।

मालव राअ मलअगिरि लुक्किअ परिहरि कुंजरा ।

खुरासाण खुहिअ रण मह मुहिअ लंघिअ साअरा ।

हम्मीर चलिअ हारव पलिअ रिउगणह काअरा ॥

१५१, प्रा० पं० (शार्ङ्गधर)

मालवा, कर्णाटक, गुर्जर (गुजरात), बंग, ओड़ (उड़ीसा) आदि प्रदेशों को विजित करने वाले, म्लेच्छों को कँपाने वाले और अपनी कीर्ति स्थापित करने वाले सम्राट का वर्णन देखिये—

भंजिआ मालवा गंजिआ कण्णला ।

जिणिआ गुज्जरा लुंठिआ कुंजरा ।

बंगला भंगला ओड़िडआ मोड़िडआ ।

मेच्छआ कंपिआ कित्तिआ थप्पिआ ॥

१२८, (प्रा० पं०) अज्ञात

अन्हलवाड़ापाटन के सूबेदार जफरख़ाँ पर ईडर नरेश रणमल्ल राठौर की विजय स्वरूप सं० १५४५ वि० में लिखे गये छन्दों में अतीव उल्लास और ओज के हमें दर्शन होने हैं। उदाहरणस्वरूप देखिये —

ढमढमइ ढमढमकार ढंकर ढोल ढोली जंगिआ ।

सुर करहि रण-सहणाइ समूहरि सरस रसि समरंगिआ ।

कलकलहि काहल कोडि कलरवि कुमल कारय थरहरइ ।

संचरइ शक सुरताण साहण साहसी सवि संगरइ ॥

इस काल में दो प्रकार की वीर रसात्मक रचनायें देखने में आती हैं। एक प्रकार की उन वीर पुंगवों के विषय में हैं, जिन्होंने विदेशी मुस्लिमों को अपने देश की सत्ता हथियाने के कारण (जैसे राणा सांगा आदि ने) उनका विरोध करना अपना धर्म समझा था, या उनके द्वारा अपने प्रदेशों पर आक्रमण किये जाने पर (जैसे राणा हमीर, राणा प्रताप, राण राजसिंह आदि ने) उनसे लोहा लिया था अथवा मुस्लिम शासनकर्त्ताओं के अत्याचारों से पीड़ित होकर हिन्दुओं का पुनः साम्राज्य कायम करने के हेतु (जैसे शिवाजी, छत्रसाल आदि ने उद्योगशील होने के लिए प्रोत्साहित किया था तथा इस प्रकार अपने शौर्य और पराक्रम का परिचय देकर हिन्दू जनता को उज्ज्वल भविष्य की आशा

दिखलाई थी । और दूसरे प्रकार की उन व्यक्तियों के संबंध में हैं, जिन्होंने सांसारिक जीवन तथा ऐश्वर्य की चाह में मुसलमानों की दासता स्वीकार कर ली थी या उनको अपनी बेटियाँ व्याह दी थीं अथवा कभी-कभी धर्म परिवर्तन भी कर लिया था । इस दूसरे वर्ग के पौरुष का गान करने वाले थे, इन्हीं की सी लिप्सा रखने वाले उनके दरबारी कवि । यद्यपि इन रचनाओं का समादर नहीं हुआ तथापि लिखी तो वे गईं ही ।

१३वीं शताब्दी के मैथिल कोकिल विद्यापति की पूरबी अपभ्रंश में लिखी कीर्तिलता को देखिए । इसमें तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह के शौर्य का और यश का वर्णन है, जो अपने राज्य की प्राप्ति हेतु जौनपुर के मुलतानपुर इब्राहीम शाह को चढ़ा लाए थे । गनीमत इतनी ही हुई कि किसी हिन्दू पर नहीं वरन मुसलमान नवाब असलान पर । इस परिस्थिति विशेष को भुलाकर यदि हम विचार करें तो हमें अत्याचारी नवाब असलान का दमन करने के लिए बढ़ती हुई मुलतान की बाहिनी का वीरोचित उत्साह पर्याप्त आनन्द दे सकेगा । यथा—

गिरि टरइ महि पड़इ नाग मन कंषिआ ।
 तरणि रथ गगन पथ धूलि भरे झंषिआ ।
 तबल शत बाज कत भेरि भरे फुष्किआ ।
 पणव घण सह हुअ णर, रव लुक्किआ ।
 तुलुक लष हरखं हस अग्र धस फालहीं ।
 मानधर मारि कट कटिठि करवालहीं ।
 मअ गणइ पअ पलइ भागि चलइजं खणे ।
 सत्तु धर उपज डर निद नाहिं झंखणे ।
 खग लइ गब्र कइ तुलुक तब जुझइ ।
 सोखि जल किअउ थल पत्ति पअ भारहीं ।
 जानि धुअ संक हुअ सअल संसारहीं ।
 केलि करि बाँधि धरि चरण तल अण्णिआ ।
 केलि पर नमि कर अप्पु करे थण्णिआ ॥

तृतीय पल्लव, पृ० ६६, ना० प्र० संस्करण—

सं० १९८६ वि०

छत्रपति शिवाजी का गुणगान करने वाले और हिन्दू राष्ट्र चेतना के उन्नायक कवि भूषण रचित शिवराज भूषण को कौन नहीं जानता । शिवाजी के आतंक से बादशाहों की हरमे नरम पड़ गईं ।^१ उनकी

१. केती परी नरम हरम बादशाहन की ,

नासपाती खातीं ते बनासपाती खाती हैं ॥

(९, १०: शि० बा०)

छातियों में धड़कन पैदा हो गई।^१ चकत्ता के घराने की सम्पत्ति खोटी हो गई।^२

मलेच्छ वंश पर सरजा शिवाजी का भय छा गया^३ और दिल्ली डूबने लगी, क्योंकि महाकाल शिवराज का धक्का आकर लगा।^४ भूषण की रचनायें आश्रयदाताओं की प्रशंसा की परम्परा का अनुकरण नहीं करतीं वरन् सच्ची वीरता की प्रशस्तियाँ हैं, इसी से आज भी वे हमें फड़का देने की क्षमता रखती हैं। बुन्देला महाराज छत्रसाल की प्रशंसा में निम्न छन्द दृष्टव्य है:—

हँवर हरट्ट साजि गँवर गरट्ट सम ,
पँदर के ठट्ट फौज जुरी तुरकाने की ।
भूषण भनत तहाँ चंपति को छत्रसाल ,
रोक्यौ रन ख्याल हँके ढाल हिन्दुआने की ।
कंयक हजार एक बार बैरी मारि डारे ,
रंजक दगनि मानो अग्नि रिसाने की ।
सेर अफगन सेन सगर सुतन लागी ,
कपिल सराप लौं तराप तोपखाने की ॥

८, छत्रसाल दशक

औरंगजेब के मरने पर ३९ वर्षों के अन्दर ही मुगल साम्राज्य एक कहानी मात्र रह गया।^५ पूर्ववर्ती देशभक्त हिन्दू वीरों के बलिदान व्यर्थ नहीं गए और भारत में एक बार पुनः हिन्दू साम्राज्य की कल्पना मरहटा उत्थान काल में सजीव हो उठी, पानीपत के अहमदशाह अब्दाली वाले युद्ध का परिणाम उल्टा ही होता यदि भरतपुर के पराक्रमी जाट नरेश सूरजमल जिनकी कीर्ति सूदन ने सुर्जनचरित्र में गाई है, तटस्थ न रहते।

यह ठीक है कि कवि इतिहासकार नहीं होता कि घटनाओं का ज्यों का त्यों वर्णन करे। अनुरूप रस आदि के लिए वह अतिशयोक्ति आदि का बहुधा

१. राजा शिवराज के नगारन की धाक सुनि ,
केते बादशाहन की छाती धरकति है ॥ ४१ शि० बा०
२. मोटी भई चण्डी बिन चोटी के चबाय सीस ,
खोटी भई संपत्ति चकत्ता के घराने की । ४६, शि० बा०
३. तेज तम अंश पर कान्हू जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ वंश पर सेर शिवराज है ॥ ३७, शि० भू०
४. बूझति है दिल्ली सँभारें क्यों न दिल्लीपति
धक्का आनि लाग्यौ शिवराज महाकाल को ॥ ३४, शि० भू०
5. Nadir Shah in India, Sir Jadunath Sarkar, P. I;

आश्रय लेता है परन्तु यदि अत्युक्तियों का घटाटोप कर दिया जाय तो वह सत्य से कोसों दूर कोरी कल्पना रह जाती है। यह बात बहुत कुछ उन कवियों की रचनाओं के विषय में चरितार्थ होती है जिनके आश्रयदाताओं ने अपने जीवन में संभवतः एक चुहिया भी न मारी हो, परन्तु उनकी वीरता के गीत लासानी हैं। उदाहरणार्थ दो छन्द लीजिए—

कूरम नरिव गजसिंह जू के चढ़े बल,
लंक लौं अतंक बंक संक सरसाती हैं ।
भनत कविन्द बाजें दुन्दुभी धुकार भारी,
धरा धसमसै गिरि पाँती उगलाती हं ।
कमठ की पीठि पर सेस के सहस फन,
दिया लौं दबात उमगात अधिकाती हैं ।
फनन तें बाहर निसरि द्वं हजार जीभें,
स्याह-स्याह बाती लौं बुझाती रहि जाती हैं ॥
—कवीन्द्र, १७वीं शती

तथा—

बारा बाँधि बल को दुलारा रूप कीरति को,
चढ्यौ दै नगारा धूरि धारा नभ छावती ।
कहं घनश्याम घटा घन की घमण्डन की,
दमकी उमंगनि महोदधि मचावती ।
जागी जोर जाम की जमानन की जुरे जोर,
जी लौं जागरे की जोर जी में उपजावती ।
परन परा पै परे तोप की तरा पै परे,
रापै पाँय धरतें धरा पै धाकें धावती ॥

—घनश्याम शुक्ल, १६वीं शताब्दी का पूर्वाद्ध

इस युग के वीर रसात्मक अन्य चार प्रबंध काव्य हैं :—

१— श्रीधर का जंगनामा (सन् १७११ ई० के लगभग) जिसमें जहाँदार-शाह तथा फर्रुखशियर के बीच होने वाले तीन युद्धों का वर्णन है और जो धन प्राप्ति के लोभ के कारण फर्रुखशियर को चरितनायक बनाने से गौण ख्याति वाला हो गया है।

२— पद्माकर की हिम्मत-बहादुर-विरुदावली (सन् १७६८-६९ ई० के लगभग) जिसमें रजघान के गुसाँई अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर की प्रशंसा और युद्धों का उल्लेख है।

३— जोधराज कृत हम्मीररासो (सन् १८२८ ई०) जिसमें राणा हम्मीर और अलाउद्दीन का युद्ध वर्णित है।

४- तथा 'तिरिया तेल हमीर हठ चढ़ै न दूजी बार' के प्रणेता हमीर हठ (सन् १८४६ ई०) के रचयिता चन्द्रशेखर वाजपेयी ।

सूर्यमल्ल मिश्रण की अपूर्ण वीर सतसई भी १८वीं शताब्दी की एक श्रेष्ठ वीर मुक्तक काव्य रचना है ।

जैसा विदित ही है कि आपस की फूट ने हिन्दू राज्य की कल्पना के स्वप्न को छिन्न-भिन्न कर दिया और अंग्रेज भारत में आ जमे । इन्होंने सफल फूट-नीति के द्वारा भारत के हिन्दू और मुसलमान शासकों को अपने वशीभूत कर लिया । परन्तु उनकी यह चाल अधिक दिनों तक छिपी न रह सकी और अब तक परस्पर विरोधी हिन्दू और मुसलमान इस विदेशी सत्ता को अपने ऊपर आरुढ़ होते देखकर एक हो गये । ईसवी १९वीं शती का मध्य परिस्थितिवश स्वाभाविक, परन्तु इस अपूर्व मेल का काल था । इस एकीकरण का परिणाम शीघ्र ही सामने आया और यह था देशव्यापी सन् १८५७ ई० का सशस्त्र सामूहिक विद्रोह 'स्वतंत्रता के शैल-शिखर पर अपना ध्वज फहराते', वीर मानुसी वमुधा पर सम्राट बहादुरशाह, रानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, कुंवर सिंह, तांतिया टोपे, राणा बेणी माधव सिंह आदि के नेतृत्व में लाखों-लाखों भारत माँ के सपूत अपनी कुर्बानी देने के लिए अग्रसर हुए थे । कौन नहीं जानता कि आज़ादी के दीवाने; ये गाज़ी भारत की जनता के दिलों में तूफान पैदा करते हुए आगे बढ़े थे । भारत में शस्त्र बल का यह अंतिम विरोध था । अंग्रेजों के पैर प्रायः उखड़ चुके थे, परन्तु उनका भाग्य प्रबल था और उनकी विजय हुई । अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह द्वितीय को बन्दी बनाकर रंगून भेजा गया, जहाँ उनकी मृत्यु हुई । परन्तु उस शहीद की वाणी, जो उसके मज़ार पर लिखी है आज भी हमारे अन्दर एक तूफान उठा देती है—

गाज़ियों में बू रहेगी जब तलक ईमान की ।

तब तो लन्दन तक चलेगी तेग हिन्दोस्तान की ॥

अंग्रेजों की सत्ता जम गई और उन्होंने निःशस्त्रीकरण योजना द्वारा सामूहिक शस्त्र विरोध का मार्ग सदा के लिए बंद कर दिया । साथ ही प्रतिशोध और दमन की भावना ने इतिहास को कलंकित करने वाले ऐसे क्रूर और नृशंस अत्याचार अंग्रेजों के द्वारा किये गए कि कुछ क्षणों के लिए ऐसा जान पड़ने लगा कि साहस, उत्साह और आत्मसम्मान की भावना भारतीयों को सदा के लिए छोड़ जायेगी, लेकिन यह आतंक क्षणिक ही था । इस क्रांति के १८ वर्षों के उपरान्त ही यानी १८७५-७६ ई० में भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने कौशल पूर्वक अपने विविध नाटकों में शासक वर्ग की आलोचना प्रारंभ कर दी थी—

भीतर-भीतर सब रस चूसे, बाहर से तन मन धन मूसे ॥

जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि साजन नहीं अंग्रेज ॥

तथा अंग्रेजों की नीति का पर्दा फाश करते हुए राष्ट्रीयता से परिपूर्ण उद्बोधन के गीत गाने प्रारंभ कर दिये थे—

पै धन विदेश चलि जात यहँ अति ख्वारी ।

इससे यह स्पष्ट है कि आज़ादी की आग अन्दर ही अन्दर सुलगती रही और दमन ने अपने दामन से उसे उभाड़ा । जो कभी नहीं हुआ था वह हुआ । वीरता दिखाने के हौसलों को पस्त करके प्रेस एक्ट के प्रतिबंधों द्वारा यहाँ के निवासियों की ज़बान बंदी कर दी गई । अब बताइये कौन क्या लिखता और कैसे लिखता । सुभद्रा जी की निम्न पंक्तियाँ यद्यपि बाद की परिस्थितियों में निर्मित हुईं, तथापि इस अवसर के अनुकूल भी हैं—

भूषण अथवा कवि चन्द नहीं,

बिजली भर दे वह छन्द नहीं ।

हँ कलम बँधी स्वच्छन्द नहीं,

फिर हमें जगावें कौन हंत ॥

—सुभद्रा कुमारी चौहान

परन्तु आज़ादी की आग सुलगती रही जिसने कभी देश सेवा के प्रति व्यक्तिगत क्रांतिकारियों को 'नई तर्जें जफ़ा' सीखने के लिए और 'सितम की इन्तहा' देखने के लिए 'गुनाहों से नावाकिफ़' शहीदों को खुशी से फाँसी के फन्दे को गले में लगाने के लिए आमंत्रित किया और कभी देश की कठिनाइयों को शासकों की रुचि के अनुसार कांग्रेस सस्था के माध्यम से रखने के लिए भी प्रेरित किया ।

सन् १९०० के लगभग यहाँ कुछ तो परिस्थिति विशेष के कारण तथा कुछ आयरलैण्ड और रूस के क्रांतिकारियों की गाथा को सुनकर व्यक्तिगत क्रांति की विचारधारा का जन्म हुआ । महाभारत से भी कम प्रेरणा न मिली होगी जब ये लोग इस निष्कर्ष पर पहुँच गए कि भारत में आए हुए अत्याचारी अंग्रेज़ शासकों की हत्या उन्हें भयभीत करके यह देश त्यागने के लिये बाध्य कर सकती है । निष्कर्ष निकलना था कि वह कार्य रूप में परिणत होने लगा और हिंसक वृत्ति का आश्रय लेने के कारण इन परवानों को ही अकेले दमन का शिकार नहीं होना पड़ा वरन् उनके परिवार, संबंधी और मित्र वर्ग भी उस ज्वाला से अछूते न रह सके ।

सन् १९०५ ई० में खुदीराम बोस ने खिदरपुर में अपने सिद्धान्त का परिचय दिया और फलस्वरूप फाँसी की सज़ा पाई । इसके उपरान्त हिंदुस्तान को उरूजे कामयाबी पर देखने की तमन्ना वाले तथा अपने आशियाँ को सैय्याद के हाथों से रिहा कराने वाले पज़ाबी श्री मदन लाल धींगरा ने लंदन के कारागार के मक़तल में इम्तिहाँ दे दिया और यह अभिलाषा लेकर दुनियाँ से चला गया कि—

कभी वह दिन भी आयेगा जब अपना राज देखेंगे ।

जब अपनी ही जमीं होगी औ अपना आसमां होगा ॥

उसका मृत्यु गीत (Swan Song) आज भी अपना अमर संदेश देता है—

शहीदों की मजारों पर जुड़ेंगे हर बरस मेले ।

वतन पे मरने वालों का यही बाकी निशां होगा ॥

इसके उपरान्त स्वतन्त्रता की वेदी पर कालक्रम की गणना में अमीरचन्द्र, सूफी अंबा प्रसाद, भाई बालमुकुन्द, सत्येन्द्र कुमार वसु, करतार सिंह, यतीन्द्र नाथ मुकर्जी, विष्णु गणेश पिंगले, सोहनलाल पाठक, कुंवर प्रताप सिंह, भाग सिंह, वतन सिंह, बलवन्त सिंह, हरनाम सिंह, बन्ता सिंह, बय्यामसिंह धुगा, डाक्टर मथुरा सिंह, तरुण दलीप सिंह, नलिनी बागची, गोपी मोहन साहा, गेंदालाल दीक्षित, राम प्रसाद विस्मिल, अशफाकउल्ला, रोशन सिंह, राजेन्द्र नाथ लहिरी, यतीन्द्र नाथ दास, बटुकेश्वर दत्त, सरदार भगत सिंह और चन्द्रशेखर आज़ाद (सन् १९३१ ई०) का बलिदान हुआ ।

फैजाबाद जेल में फाँसी के तख्ते पर हँसी-खुशी से झूलने वाले नौजवान अमर शहीद अशफाकउल्लाह की जवानी की बुलंदी और मस्तानी अदा से गाई गई फाँसी से पूर्व की गजल चिरस्मरणीय रहेगी :—

बुझदिलों ही को सदा मौत से डरते देखा ।

जो कि सौ बार उन्हें रोज़ ही मरते देखा ।

मौत से वीर को हमने नहीं डरते देखा ।

तख्तये मौत पे भी खेल ही करते देखा ।

मौत इक बार जब आती है तो मरना क्या है ।

हम सदा खेल ही समझा किये मरना क्या है ।

वतन हमेशा रहे शाद काम और आजाद ।

हमारा क्या है हम रहे न रहे ॥

नेपाली ने ठीक ही लिखा है—

हँसते हँसते आखिर ये भी अपनी आँखें मूँद चले ।

माँ की थाली भरने को ये बन रुधिरों की बूँद चले ॥

करुणेश की उद्बोधन भरी हुई ललकार—

जवानों यह तुम्हारी नौजवानी काम कब देगी ।

तुम्हारे लाल लोहू की रवानी काम कब देगी ।

बढ़ो आखिर शहीदों की निशानी काम कब देगी ॥

ने इन वीरों के गर्म रक्त को खोला देने में कोई कसर बाकी न रखी । जलियाँ-वाला बाग और वहाँ पर डायर और ओडायर के आदेश से ढाये गए सितमों ने भारत की रग-रग को हिला दिया ।

मुभद्रा जी ने शोक गीत में अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की जिसमें दुख, उदासी और निराशा प्रत्यक्ष है—

कोमल बालक मरे जहाँ गोली खा खा कर ।

कलियाँ उनके लिये गिराना थोड़ी ला कर ।

यह सब करना किंतु बहुस धीरे से आना ।

यह है शोक स्थान यहाँ मत शोर मचाना ॥

श्री कन्हैया लाल दत्त, राम प्रसाद बिस्मिल ने अपने देश के लिए नौनिहाल जिन्दगी के जीहर दिखाये तथा फाँसी के फंदे को गले में डालकर इस दुनियाँ से विदा हो गये । बिस्मिल की ग़ज़ल की कड़ियाँ भी आत्मोत्सर्ग की प्रतीक हैं :—

मालिक तेरी रजा रहै और तू ही तू रहे ,

बाकी न मैं रहूँ न मेरी आरजू रहे ।

अब न पिछले बलबले हूँ ,

और न अरमानों की भीड़ ।

एक मिट जाने की हसरत ,

अब दिले बिस्मिल में है ।

क्रांतिकारी शहीदों की अपनी हमजोलियों में सम्भवतः सब से अधिक ताकतवर सरदार भगत सिंह ने जब 'वादिये गुरुशत में कदम रक्खा' और उन्होंने 'मादरे हिंद के लिए खाक में मिल जाने का' बीड़ा उठाया तब उस समय 'यादे वतन दूर तक उन्हें समझाने आयी ।' 'देशमेवक जेल में मूँजें कूट रहे थे,' स्वार्थी भारतीय ऐश से दिन रात बहारें लूटने में पड़े थे, दीवाने सरदार ने इस जीने पर मर जाने की तरजीह दी थी और उसने दर्दमन्दों से मुसीबत की हलावत जानकर, मिटने वालों से शहादत का लुत्फ़ समझकर, परवाने से सोज़ (जलन) की कैफ़ियत समझी थी तथा कौम के सिदके में माता को जवानो देने का आवाहन कर के तथा खून की होलो खेलने का निश्चय किया था—

अब तो हम डाल चुके अपने गले में झोली ।

एक होती है फकीरों की हमेशा बोली ।

खून से फाग रचायेगी हमारी टोली ।

जब से बंगाल में खेले हैं कन्हैया होली ।

कोई उस दिन से नहीं पूछता बरसाने को ।

और फिर इरशाद बजा लाने वालों की प्रतीक्षा में जम कर बैठ गये । लाहौर जेल में यह वीर शहीद हुआ । आखिरी बलिदान सन् १९३१ में जवाँ-मर्द चन्द्रशेखर आज़ाद का इलाहाबाद में हुआ । भारत माँ के ३३ नौनिहाल

बेते विश्व के परतंत्र देशों के सम्मुख अपनी शहादत की नज़ीर पेश करते हुए तवारीख के वर्कों पर अपना अमिट नाम लिख गये कि देश के लिए अपनी ज़िंदगी बसीअत कर के हमने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और हम अपने पीछे आने वालों के लिए रास्ता खोले जा रहे हैं। क्रांतिकारी वीरों का रास्ता बड़ा गोपनीय था और भारत में चंद चाँदी के टुकड़ों पर उनका गुप्त राज खोल देने वालों की कमी न थी, यद्यपि उनसे सहानुभूति रखने वाले भी पर्याप्त मात्रा में थे। परिणाम स्पष्ट था। और वे बेचारे फाँसी के तख्ते पर झूले ही। ब्रिटिश शासन ने इनके मित्रों और संबंधियों तक को यातनायें दीं। निराशा की एक गहरी और तेज़ लहर इन हुतात्माओं के वलिदान पर देश में लहरा गई। पक्षपाती भी निराशा के अंधकार में डूबने-उतराने लगे। इन भावनाओं का प्रकटीकरण चकबस्त की निम्न पंक्तियों से होता है—

चमकता है शहीदों का लहू पर बह पं कुदरत के।

शफ़क़ का रंग क्या है शोखिये रंगे हिना क्या है ?

उनीदें मिल गयीं मिट्टी में दौरे ज़बते आखिर ही।

सदाये ग़ैब बतला दे हमें हुक्म ख़ुदा क्या है ?

आज़ाद के वलिदान के उपरान्त सशस्त्र क्रांति में विश्वास रखने वाले इन योद्धाओं ने सम्भवतः यह भलीभाँति देख और समझ लिया कि उनके अपनाये हुए मार्ग द्वारा सफलता प्राप्त नहीं हो सकती और इसी के फलस्वरूप इस वर्ग के अन्य शहीदों का उल्लेख हम आगे नहीं पाते। वैसे सन् १९४० ई० का ऊधम-सिंह का प्रयत्न भी इसी ढंग का था, यद्यपि उसमें व्यक्तिगत प्रतिशोध की मात्रा अधिक थी।

मूक होते हुये भी हमारे अनेक अज्ञात कवियों ने अत्याचार की आँधी का परदा फाश किया और कठोर अत्याचारों के उपरान्त भी उनकी लेखनी शिथिल न हुई, चलती ही रही।

राष्ट्र में चेतना हो रही थी। आतार स्पष्ट थे। राष्ट्रीय जागरण और देशभक्ति के उद्बोधक आदेश हमारे कवियों ने जनता में प्रसारित करने प्रारम्भ कर दिये थे। भारतेन्दु काफ़ी पूर्व 'धन विदेश चलि जात' का रहस्योद्घाटन कर ही चुके थे। राष्ट्रीय कवि मैथिलीशरण गुप्त ने क्षत्रियों को उनके कर्तव्य का उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया था—

क्षत्रिय सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।

निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो॥

—गुप्त जी, भारतभारती—सन् १९१२ ई०

और वीरांगणा यशोधरा के शब्दों के मिस उन्होंने भारतीय नारी की हुंकारात्मक वीर ललकार साकार की थी—

बाधा तो यही है मुझ बाधा नहीं कोई भी ।
 विधन भी यही है, जहाँ जाने से जगत में,
 कोई मुझे रोक नहीं सकता है—धर्म से,
 फिर भी जहाँ मैं आप इच्छा रहते हुए,
 जाने नहीं पाती । यदि पाती तो कभी यहाँ
 बंठ रहती मैं ? छान डालती धरित्री को ।
 सिंहिनी सी काननों में योगिनी सी शैलों में,
 शफरी सी जल में विहंगिनी सी व्योम में,
 जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं !

माधव शुक्ल की राष्ट्रीय वीणा के तार झनझनाये, सनेही ने अपना त्रिशूल उठाया और भारतीय आत्मा (माखनलाल चतुर्वेदी) आगे आये ।

जिस समय ब्रिटिश शक्ति क्रांति के पौधे का ममूलोच्छेदन कर देने के लिए अनेक निर्दोषों को भी यातनायें दे रही थी, परन्तु भारतवासी निराशा में डूबे हुए परमात्मा ने मार्ग प्रदर्शित होने की प्रतीक्षा कर रहे थे । निराशा चाहे जो रही है किन्तु हृदय में स्वतन्त्र होने की अग्नि पूर्णरूपेण प्रज्ज्वलित हो रही थी । देश के लिए वलिदान व त्याग की बात खुले आम कही-मुनी जाने लगी थी—

मिट जा नाम तो दौलत की जुस्तजू क्या है ।

निसार हो न बतन पर तो आब्रू क्या है ।

लगा दे आग न दिल में तो आरजू क्या है ।

न जोश खाये जो गैरत से वह लहू क्या है ।

—चकबस्त

व्यक्तिगत क्रांतियों की असफलता देखकर हिन्दू व मुसलमान कांग्रेसी झंडे के नीचे शांतिमय ढंग से देश की स्वतन्त्रता की राह देख रहे थे और कटिबद्ध हो गये थे सम्मिलित रूप से माँ भारती की जंजीरों को काटने के लिए । बाल गंगाधर तिलक ने महाराष्ट्र में, विपिन चन्द्र पाल ने बंगाल में और लाला लाजपत राय ने पंजाब में अपने हुंकारात्मक शंखनाद से नवचेतना की लहर उत्पन्न कर दी थी । इसी समय दूसरे बुद्ध और भारतीय ईसा महात्मा गांधी का आविर्भाव हुआ । सन् १९२१ से अफ्रीका में अपने सिद्धान्तों की परीक्षा में सफल महात्मा गांधी ने कांग्रेस की बागडोर संभाली । इस महापुरुष ने पद-दलित, निरीह और निहत्थी भारतीय जनता को सत्याग्रह और अहिंसा नीति के गर्त से ऊपर उठाकर स्वतन्त्रता की आशा दिलाई । विषम परिस्थिति समझने में उसे देर न लगी और अपने लिए अहिंसात्मक मार्ग निर्धारित करके उसने यह स्पष्ट देख लिया कि भारतीय जनता स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए न केवल तैयार और तत्पर ही है वरन् उसके लिए व्यग्र हो रही है, आवश्यकता केवल

इतनी ही है कि वह संगठित कर दी जाय और उसकी अपरिमेय संगठित शक्ति का उचित नेतृत्व किया जाय ।

यहीं से हमारे वीर काव्य का वर्तमान चरण प्रारम्भ होता है जिसके अमर गीतों का अध्ययन अनादि काल तक मानवता की याद दिलाता रहेगा कि शत्रु को मारने या मारने के प्रयास में मर जाने में ही वीरता के स्थायी भाव उत्साह और पौरुषेय साहस की साधना नहीं होती वरन् प्राणों का उत्सर्ग करके भी सत्य संकल्प की रक्षा में रस की सांगोपांग साधना हो सकती है । पहले प्रकार का वीर रस यदि उग्र कोटि का होता है, तो यह वीरता का दूसरा रूप सहिष्णु वर्ग का है । वीरताजन्य पौरुष का यह रूप संसार के मनुष्य जीवन को तो मिता ही, साथ ही इसकी प्रेरणा ने कम से कम भारतीय साहित्य में वीर रस के एक पंचम कोटि की विशेष रूप से स्थापना कर दी । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वीर रसान्तर्गत युद्धवीर को छोड़कर अन्य तीन अर्थात्—दान-वीर, धर्मवीर और दयावीर के उदाहरण अनेक नहीं मिलते, किन्तु सहिष्णु-वीर या वलिदान-वीर काव्य की जो सृष्टि पिछले चालीस वर्षों में हिन्दी साहित्य में हुई है वह भारतीय साहित्य के लिये एक अमूल्य एवं अनुपम देन है । आततायी उत्पीड़क इसमें आलम्बन है, आर्तनाद और कर्तव्यपालन की दृढ़ चेतना उद्दीपन है, मुख-मुद्रा पर दृढ़ संकल्प की स्पष्ट रेखा और आत्मोत्सर्ग की स्पष्ट घोषणा अनुभाव है तथा सात्विक गर्व, आर्तसंवेदन और पीड़क संवेदन संचारी हैं । माधव गुल ने गांधीवादी सहिष्णु-वलिदान-वीर का इस प्रकार चित्रण किया है—

इसका द्रोही महा निर्भय हूँ जुलूमों पर वह हँसता है ।

तपे हुए सोने का सा दिन दिन उसका तेज दमकता है ।

उसे सताता जो उसको वह गले लगा करता है प्यार ।

सत्याग्रह ही एक मात्र हूँ दीन निर्बलों का हथियार ।

स्वयं तिल-तिल कटकर विरोधी के दमन और अत्याचार समाप्त करने का उपदेश देने वाले गांधी ने जो कुछ सोचा अद्भुत एवं मौलिक सोचा । सन् १९२१ ई० से महात्मा का गुलामों में वीरता वाला असहयोग आन्दोलन प्रारंभ हुआ । अत्याचारी को करने दो मनमाने अत्याचार, मिट आओ, नष्ट हो जाओ परन्तु उसे बताते रहो नन्नता के साथ कि वह अन्यायी है, अन्याय छोड़ दे, हमारे छोने हुए हक़ों को लौटा दे । अपूर्व मौलिकता के साथ नमक कर बन्द और लगानबन्दी के आन्दोलन चलाए गए । स्वतन्त्रता मृत्यु के बलिदान चाहती है । भारतवासी मरना भूल गए थे । गांधी ने उन्हें एक बार फिर भारत की परिस्थिति विशेष में मरने का ढंग सिखाया । गांधीवाद का मरना असाधारण था । सारी आत्मशक्ति का संतुलन कर आततायी के प्रहारों को प्रसन्नता से झेले जाना, उफ़ न करना, प्रतिकार में हाथ भी न उठाना—एक विलक्षण

साहस और आत्मोत्सर्ग का रूप था। गांधीवादी वीर अपनी हस्ती फ़ना कर देने के लिए सन्नद्ध था और वह इस बात की परीक्षा पर तुला बैठा था कि उसके सर को काटने वाले के हाथों में कितनी शक्ति है और तभी कांग्रेसी योद्धा गा उठा—

सर फ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है ,

देखना है जोर कितना बाजुये क़ातिल में है ।

तथा उसी दीवानगी में उसने लंदन की गोल मेज़ कान्फ़ेंस से लौटते हुए गांधी का स्वागत किया था—

या फिर इंग्लिश चैनल से तेरा पांचजन्य हुंकार उठे ।

भारत यह तरुणों का भारत तेरी ध्वनि पर ललकार उठे ।

तू जरा बजाकर क्षण भर को हो जा फिर से डमरू वाला ।

हम अपने शीशों की तुझको पहना देंगे मोहन माला ।

सन् १९२१ से १९४५ ई० तक ब्रिटिश भारत की जेलें हज़ारों और लाखों कांग्रेसी वीरों द्वारा भरती और खाली होती रहीं। लाठी चार्ज, गैस और गोलियों की बौछार क्या-क्या जुल्म उन पर नहीं हुए। जालियाँवाला बाग और चौरीचौरा आदि के नृशंसता और पाशविकता के काण्ड क्या कभी भुलाये जा सकेंगे। परन्तु गांधी जी ने तो उन्हें भी भूलने का उपदेश दिया। मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों-ज्यों दवा की। ब्रिटिश दमन ने असहयोगी वीरों का धैर्य और साहस बढ़ाया और उन्हें अधिक संगठित और सहनशील बना दिया। जो काम तलवारें, गोलियाँ और गोले सन् १८५७ में न कर सके वह असहयोग के जादू ने कर दिया। विदेशी शासक अपने शस्त्र निरर्थक देख थर्रा उठा। सन् १९४५ ई० में अपनी पूर्ण मानवी प्रतिभा समन्वित करो या मरो (Do or Die) मारो या मरो (Kill or Die) नहीं का आन्दोलन युग प्रवर्तक गांधी ने रखा। अत्याचार की चक्की के पाट पूरे वेग से चले, परन्तु महात्मा के भारत विजयी नहीं वरन् विश्वविजयी तिरंगे झंडे ने—(विजयी विश्व तिरंगा प्यारा। झंडा ऊँचा रहे हमारा, श्यामलाल पार्षद) सात समुद्र पार ब्रिटिश शक्ति को हिला दिया।

दूसरी ओर नेता जी सुभाषचन्द्र बोस की अदम्य संगठन शक्ति का पता देश को उस दिन चला था जब वे अंग्रेजी हुकूमत की निगरानी से कौशलपूर्वक भाग कर जर्मनी पहुँचे थे और वहाँ से पनडुब्बी द्वारा दक्षिणी अमेरिका की परिक्रमा करते हुए जापान से सिंगापुर पहुँच कर, आजाद हिन्द फौज की रचना कर के—

क्रदम क्रदम बढ़ाये जा, खुशी के गीत गाये जा ।

ये जिन्दगी है क़ौम की, तू क़ौम पर लुटाये जा ।

का तराना छेड़ते और उस सेना का नेतृत्व करते भारतमाता के पाश काटने के लिये प्राणों का सहर्ष हवन करते-कराते पूर्वी भारत की सीमा के अन्दर दृढ़ता और संकल्प से घुस कर संगीनों और गोलियों के बल पर ब्रिटेन की अदम्य तथा अपराजेय शक्ति को ललकार कर चुनौती दे बैठे थे । १९४५ में अकाल ही इस वीर सेनानी को यह लोक छोड़ना पड़ा ।

१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र हो गया । मानवता के आगे सात समुंदर पार से आने वाली हिंसक दानवता को अंततः झुकना पड़ा ।

सन् १८५७ से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक जिन जाने अनजाने वीरों ने अपना रक्त चढ़ाया उनके प्रति श्रद्धालियाँ अर्पित की गई, जो हिन्दी साहित्य की अमर निधि हैं । अंचल जी की निम्न पंक्तियाँ चिरस्मरणीय रहेंगी ।

देश प्रेम के ओ मतवालो उनको भूल न जाना ।

महाप्रलय की अग्नि साध लेकर जो जग में आये ॥

विश्ववली शासन के भय जिनके आगे सकुचाये ,

चले गये जो शीश चढ़ाकर अर्घ्य लिये प्राणों का ,

चलो मजारों पर हम उनके आज प्रदीप जलायें ।

टूट गई बंधन की कड़ियाँ स्वतन्त्रता की बेला ।

लगता है मन आज हमें कितना अवसन्न अकेला ।

देश प्रेम के ओ मतवालो उनको भूल न जाना ।

मुभद्रा जी की दुःखः, उदासी और निराशा से परिपूर्ण शोक गीत की कोमल भावुक पंक्तियाँ युगों तक उत्पीड़न और अत्याचार की स्मृति दिलाती रहेंगी :—

कोमल बालक मरे जहाँ गोली खा खा कर ,

कलियाँ उनके लिए गिराना थोड़ी ला कर ।

यह सब करना किन्तु बहुत धीरे से आना ।

यह है शोक-स्थान वहाँ मत शोर मचाना ।

अंत में हमारा महात्मा भी शहीद हो गया । धार्मिक असहिष्णुता की वेदी पर उसकी बलि हो गई । परन्तु हमारे कवि चिरंतन काल तक उसकी अलौकिक सहनशीलता, तपस्या, त्याग और अहिंसक वीरता के गुण गाते रहेंगे । उसका शरीर नश्वर था, एक न एक दिन नष्ट ही होता । आततायी की गोली ने उसे भयभीत नहीं किया, वह अंत तक अडिग था, विश्व के लिये शुभ कामनायें लिये और मानव जाति को उन्नति का पथ दिखाने के लिये । मरते-मरते वह विश्व को अपना अमर संदेश दे गया है । गांधी मारे गये, परन्तु गाँधीवाद अमर है, शाश्वत है, चिरंतन है, सत्य है ।

अवसर के अनुकूल कवियों ने अपने शोकाकुल उद्गार प्रकट किये । रणधीर का एक छंद देखिये—

लुट गया वो दीन का ज़मीन का सुहाग है ।
छिप गया वो झोंपड़ी का चाँद सिर्फ दाग है ।
अंधकार में ज़मी की रूह आज रो रही ।
विश्व को प्रकाश देके बुझ गया चिराग है ।
पाप के ज़गुनू को लेके नाग विष बिखेरता ॥
पुण्य का प्रकाश ले ज़मी के दीप तुम बनो ।
तो खुद से तुम खुदा बनो ।
ज़मी के आदमी बनो ॥

इसमें शोक है, महापुरुष की कीर्ति की प्रशस्ति है और है वर्तमान तथा आगामी मानव पीढ़ियों के लिए ईश्वरीय मानवता और प्रकाश बन जाने का उद्बोधन ।

इस आधुनिक काल की वीर रचनायें मुख्यतः व्यक्ति की कीर्ति और वीरता का बखान नहीं करती वरन् सामूहिक प्रेरणा और आत्मान का उनमें घोष है ।

भारत फिर स्वतंत्र हो गया है, साढ़े सात सौ वर्षों की दासता भुगतने के उपरान्त और आवश्यकतानुसार शैली का परिधान ओढ़ कर अवसर के अनुकूल आगे भी वीर गानों की रचना होगी ।

अद्भुत रस

वीर रस से विकसित होने के कारण अद्भुत रस वीर रस के प्रसंग में बहुधा देखा जा सकता है । अत्यन्त उत्साह की प्रतिमूर्ति बनकर ही व्यक्तियों ने विस्मय में डालने वाले काम किये हैं ।

भारतीय वीर काव्यों के अन्तर्गत युद्ध की चर्चा में वीरगति प्राप्त करने वाले योद्धाओं का अप्सराओं द्वारा वरण तथा देव विमानों पर बैठकर विभिन्न लोकों को प्रस्थान, कबंधों द्वारा भीषण युद्ध आदि अद्भुत व्यापार वर्णन करने की कवि-परम्परा सी देखी जाती है ।

पृथ्वीराजरासो में एक तपस्विनी वैश्य कुमारी द्वारा अपना सतीत्व नष्ट करने के फलस्वरूप अजमेर नरेश वीसलदेव को नरभक्षी असुर हो जाने के श्राप का वर्णन है । इसको कवि चन्द ने अद्भुत रस में व्यंजित किया है । तपस्विनी के श्राप से राजा की बुद्धि विकृत हो गई और इसी अवसान में जूते में बैठे हुए सर्प के काटने से उनकी मृत्यु हो गई तथा अर्थी के मध्य से विष की ज्वालायें उगलता हुआ असुर प्रगट हुआ जिसने मनुष्यों का भक्षण प्रारम्भ कर दिया—

जिन रथी मद्धि ऊठे असुर, धबे ज्वाल तिन मुष विषे ।

नर भबे जहाँ लसकर सहर, मिले मनिष ते ते भषय ॥

अतएव मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् अमर होने का प्रत्यक्षीकरण कराके कवि ने अद्भुत रस का परिपाक किया है। यहाँ अमर आलम्बन है तथा अर्थों से उसकी उत्पत्ति होना उद्दीपन है।

इस वीसल दानव ने अपने पुत्र मारंगदेव को मार डाला और ढूँढ़-ढूँढ़कर मनुष्यों को खाने के कारण ढूँढ़ा नाम से विख्यात हुआ—

ढूँढ़ि ढूँढ़ि खाये नरनि, तातैं ढूँढ़ा नाम ।

देवपुरी अजमेर पुर, रम्य करी बेराम ॥

इस दानव को आना (अर्णोराज) ने अपनी मेवा में तुष्ट कर लिया जिसके फलस्वरूप उसने आना को अजमेर का राज्य दे दिया और स्वयं आकाश में उड़कर काशी पहुँचा तथा अपने अंग प्रत्यंग काट काटकर हवन करता हुआ यशस्वी हुआ। ढूँढ़ा दानव का यह सम्पूर्ण प्रसंग कवि ने अद्भुत रस में लिखा है।

पृथ्वीराजरासो में गड़े हुए खजाने खोदे जाने पर कटाक्ष करने वाली पुतलियों आदि का निकलना भी विस्मय का प्रसंग है।

कबीर प्रभृति निर्गुणोपासक संतों ने उद्दीपन के सहारे विस्मय उत्पन्न करने वाली उलटवाँसियाँ कही हैं जो बरवस मन को आकर्षित कर उत्मुक्तता से भर देती हैं—

१— एक अचम्भा देखा रे भाई, ठाड़ा सिंह चरावै गाई ।

पहलें पूत पीछें भइ माई, चेला कं गुर लागे पाई ।

जल की मछली तरवर ध्याई, पकड़ि बिलाई मुरगें खाई ।

बैलहि डारि गूँनि घरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई ।

तल करि साषा ऊपरि कर मूल, बहुत भाँति जड़ लागे फूल ।

कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकूँ तोन्यूँ त्रिभुवन सूझै ॥

२— हरि के धारे बड़े पकाये, जिनि जारे तनि धाये ।

ग्यान अचेत फिरै नर लोई, तायें जनमि जनमि डहकाये ।

धौल मंदलिया बैलर बाबी, कउवा ताल बजावै ।

पहरि चोलनां गादह नाचै, भैंसा निरति करावै ।

उंदरी वपुरी मंगल गावै, कछू एक आनन्द सुनावै ।

कहै कबीर सुनहुँ रे संतौ गडरी परवत खावा ।

चकवा बैस अंगारै निगलै, सन्द अकासां धावा ॥

३— ‘रमैया की दुलहिन लूटा बजार’—शीर्षक पद भी आश्चर्य की उत्पत्ति करता है।

सूर ने कई स्थलों पर अद्भुत रस की सृष्टि की है। “नन्द बाबा शालि-ग्राम का पूजन कर रहे हैं। कृष्ण कहते हैं कि बाबा तुमने इन्हें प्रसाद अर्पित किया लेकिन ये खाते नहीं हैं। नन्द ने यशोदा से कहा कि श्याम की बात सुन

रही हो । तदुपरान्त नन्द ध्यान-समाधि लगाकर बैठ गये और कृष्ण ने चुपके से आकर देवता का प्रभुत्व देखने के लिए शालिग्राम की बटिया मुँह में रख ली । आँखें खोलने पर नन्द चकित रह गये । यशोदा ने कहा कि कान्हा का मुँह तो देखो । मुँह से बटिया तो निकली ही परन्तु तीनों लोकों के दर्शन वहाँ करके नन्द चकित रह गये ।”-

पूजा करत नन्द रहे बैठे, ध्यान समाधि लगाई ।
चुपकाँहि आनि कान्ह मुख मेल्थौ देखौं देव बड़ाई ।
खोजत नन्द चकित चहुँ दिसि तें, अचरज सौ कछु भाई ।
कहाँ गए मेरे इष्ट देवता को लँ गयो उठाई ।
तब जसुमति सुत मुख दिखरायौ, देखौं बदन कन्हाई ।
मुख कत मेलि देवता राख्यौ, घाले सब नसाई ।
बदन पसारि सिला जब दीन्ही, तीनौ लोक दिखाये ।
सूर निरखि मुख नन्द चकित भए, कछू वचन नहिं आये ॥

इसी प्रकार ‘माटी भक्षण प्रसंग’ में वर्णन है कि यशोदा ने लक्ष्य किया कि कृष्ण ने चुपके से मिट्टी खा ली है । माँ की ताड़ना पर कृष्ण ने मुँह खोला और अपना नाटक दिखाकर स्तम्भित कर दिया । सूर ने सात पदों में इस एक प्रसंग का बार-बार भाँति-भाँति से वर्णन किया है । उन्हीं में से एक पद देखिये-

मोहन काहें न उगिलौ माटी ।

बार बार अनरुचि उपजावति, महुरि हाथ लिए सांटी ।
महतारी सौ मानत नाहीं, कपट चतुरई ठाटी ।
बदन उधारि दिखायौ अपनी, नाटक की परिपाटी ।
बड़ी बार भई लोचन उधरे, भरम-जवनिका फाटी ।
सूर निरखि नँदरानि भ्रमित भई, कहति न मोठी खाटी ॥

अपनी ‘विनय पत्रिका’ में ‘केसव कहि न जात का कहिए’ पद में अद्भुत रस का परिपाक करने वाले तुलसी ने अपने मानस में विभावना अलंकार के सहारे ब्रह्म का कौतूहलजनक चित्र खींचा है-

बिनु पग चलै सुनै बिनु काता । कर बिनु कर्म करै विधि नाता ॥

आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥

के अतिरिक्त उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्ड जी का विस्मय देखिये-

जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ ।

सो सब अद्भुत देखउँ बरनि कवनि विधि जाइ ॥

भिन्न भिन्न मैं दीख सबु अति विचित्र हरिजान ।

अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन ॥

उभय घरी मँह मैं सब देखा । भयउँ भ्रमित मन मोह विसेखा ॥

भक्त रसखान ने छछिया भर छाछ पै अहीर की छोहरियों द्वारा कृष्ण को नाच नचाने और राधिका के पैर दबाने की स्थिति में देखकर अद्भुत रस में उसका वर्णन किया है। देखिये—

- १— सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर ध्यावैं ।
जाहि अनादि अखण्ड अनन्त अछेद अभेद सुवेद बतावैं ॥
नारद से सुक व्यास रटें पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछि पै नाच नचावैं ॥
- २— ब्रह्म में दूँद्यू पुरानन गानन वेद ऋचा सुनि चौगुने चायन ।
देख्यौ सुन्यौ कवहूँ न कितू वह कैसे सुरूप औ कैसे सुभायन ।
हेरत हेरत हारि परथौ रसखानि बतायौ न लोग लुगायन ।
देख्यौ दुर्यौ वह कुंज कुटीर में बँठ्यौ पलोटत राधिका पायन ॥

रीतिकालीन कवियों ने अद्भुत रस के उदाहरण अपने रीति ग्रंथों में उक्त रस समझाने के प्रसंग में दिये हैं। केशव के तीन छंद देखिए—

- १— आजीविष, सिन्धुविष, पात्रक सों नातो कछू ,
हुतो प्रह्लाद सों, पिता को प्रेम टूटो है ।
द्रोपदी की देह में खुथी ही कहा दुस्सासन ,
खरोई खिसानो खँचि बसन न खूटो है ।
पेट में परीक्षित की पारथ बचाई मीचु ,
जब सब ही को बल विधिवान लूटो है ।
केसव अनाथन को नाथ जौ न रघुनाथ ,
हाथी कहा हाथ कै हथियार करि छूटो है ।

- २— आप सितसित रूप चितैं चित श्याम सरीर रँग रंग राते ।
केसव कानन ही न सुनै सु कहै रस की रसना बिन बातें ।
नैन किधौ कोऊ अन्तर्यामी री जानत नाहि न बूझति ताते ।
दूर लौं दीरत है जिन पायन दूर दुरी दरसैं मति जाते ।
- ३— कर्ण से दुष्ट से पुष्ट हते भट पाप से पुष्ट न शासन टारे ।
सोदर से न दुसासन से सब साथ समर्थ भुजा उस तारे ।
साथी हजारन के बल केसव खँचि थके पट कोऊ न डारे ।
द्रोपदी को दुर्योधन पै तिल अंक तऊ उघरयो न उघारे ।

पद्माकर ने अपने जगद्विनोद में अद्भुत रस के चार उदाहरण दिये हैं। एक यथेष्ट होगा। प्रसंग है कालीनाग नाथन और उसके फन पर वनमाली का नर्तन—

गोपी-गवाल-माली जुरे आपुस में कहैं आली ,
कोऊ यमुदा के ओतरयो इंद्रजाली है ।

कहे पदमाकर करे को यों उताली, जा पं
 रहन न पावे कहूँ एकी फन खाली है ।
 देखे देवताली भई विधि के खुसाली, कूद
 किलकति काली हेरि हँसत कपाली है ।
 जनम को चाली एरी अद्भुत देखाली, आजु
 काली की फनाली पं नचत बनमाली है ।

आधुनिक हिंदी काव्य के देहरी द्वार पर आविर्भूत भारतेन्दु ने अपने नाटकों में अद्भुत का वैविध्य दिखाया ही मात्र ही काव्य में भी उसके दर्शन कराये । देखिये—नायिका का हृदय जब पत्थर सदृश कठोर है तब ब्रह्मा ने उसके अन्य अंग गुलाब, कमल अथवा नव पल्लवों के सदृश व्यर्थ ही सुकुमार बनाये—

ज्यों इन कोमल गोल कपोलन देखि गुलाब को फूल लजायो ।
 त्यों हरिचंद जू पंकज के दल सों सुकुमार सबेँ अँग भायो ।
 अमृत से युग ओंठ लसे नव पल्लव सों कर क्यों है सुहायो ।
 पाहन सो मन होत सबेँ अँग कोमल क्यों करतार बनायो ।
 हरिऔध जी ने अद्भुत का निम्न उदाहरण दिया है—

देहिन को सुचित सनेहिन समान करि ,
 पंख अति मंजुल पवन के हिलत हैं ।
 चंद के मनोरम करनि ते अविनि काज ,
 चांदनी के सुंदर बिछावने सिलत हैं ।
 हरिऔध कौन कहे काके अनुकूल भए ,
 सीपन में मोती मन भावने मिलत हैं ।
 कीच माहिं अमल कमल विकसित होत ,
 धूलि माहिं सुमन सुहावने खिलत हैं ।

पंक से कमल सदृश सुन्दर पुष्प विकसित होना तथा मिट्टी से आकर्षक फूलों का खिलना आश्चर्यजनक है ।

बँगला कवि माइकेल मधुसूदन दत्त द्वारा अपने मेघनादवध काव्य में वर्णित इंद्रजीत की साध्वी पत्नी प्रमीला का अपनी सखियों सहित लंका-प्रवेश का आद्योपांत दृश्य राम एवं उनके पक्ष को विस्मय से पूर्ण कर देता है—

..... रक्षोरथी भय से

बोला प्रभु ओर देख,—“देखो, देव, सामने
 बाहर शिविर के; उषा क्या निशाकाल में
 उदित हुई है यहाँ !”

विस्मय से सबने

देखा तब—“भरवी सी भामा” कहा प्रभु ने—

“देवी है कि दानवी है देखो सखे ध्यान से;
मायामयी लङ्का है, प्रपूर्ण इन्द्रजाल से,
अग्रज तुम्हारा काम रूपी है ।

—तृतीय सर्ग

नाथूराम शंकर शर्मा ने काम द्वारा समस्त विश्व पर विस्मय कारक ढंग से विजय दिखाकर अद्भुत रस का परिपाक किया है—

ऐसे शूरमान को शिरोमणि प्रतापी पुत्र ,
पायो मन चंचल नपुंसक कहाये ने ।
सेवा करें रसराम ऋतुराज साथी सदा ,
व्याही रति रमणी छत्रीली छवि छाये ने ।
काम केलि बन्धन में बाँध नर नारिन कों ,
बोरे प्रेम सिंधु में मनोज नाम पाये ने ।
शंकर के कोप ने अनंग करि डारचो तऊ ,
सारो जग जीति लियो हिजड़ा के जाये ने ।

यहाँ चंचल और नपुंसक मन के पुत्र होना अनुभाव है तथा उस मनोभव कंदर्प का शंकर द्वारा अनंग होने पर भी विश्व-विजेता होना उद्दीपन है। इस प्रकार की अनहोनी चर्चा सुनकर नेत्रों का विकसित होना अनुभाव तथा वितर्क और उत्सुकता संचारी हैं।

रौद्र रस

युद्ध से अनिवार्य रूप से संबंधित होने के कारण तथा युद्धवीर भाव का तत्कालिक अनुसरण करने के कारण युद्धों से आच्छादित हिंदी के वीर गाथा युग में रौद्र रस खोजने का श्रम नहीं करना पड़ता, वह तो चारों ओर बिखरा पड़ा है। शत्रु ने आक्रमण किया अथवा शत्रु पर आक्रमण हुआ और आमना-सामना होते ही उद्दीप्त प्रचंड हिंसक क्रोध से साक्षात् हो गया है। युद्धस्थल पर प्रायः वीर, रौद्र और वीभत्स प्रतिफलित होते पाये जाते हैं। पृथ्वीराज रासो का एक प्रसंग यथेष्ट होगा—

बज्जे बज्जन लाग दल, उभैं हंकि जगि वीर ।
विकसे सूर सपूर बढ़ि, कंपि कलत्र अधीर ॥ २२६
छुट्टियं हथ नारि दुहवल, गोम व्योमह गज्जियं ।
उड्डियं आतस झार झारह, धोम धुंधर सज्जियं ॥
छुट्टियं वान कमान पानह, छाह आयस रज्जियं ।
निरखंत अच्छरि सूर सुबर, सज्जि पारथ सज्जियं ॥ २२७

परि सीस हक्कहि धर हहक्कहि अंत पाइ अलुझसरं ।

उठि उट्टि ऋक्कसि केस उक्कसि सांइ सुथयल जुझसरं ।।

एकेक चंपहि पीठ नंषहि धरनि धर परिपूरयं ।

हकियं सु वेगं अली महमद करिय द्रग्न करूरयं ॥ २३१ स० ५८

यहाँ पर युद्ध के उत्साहार्थ बाजे आदि बजना वीर रस की व्यंजना करता है । दोनों पक्षों से हथनाल, आतसझार, बाण आदि का चलना रौद्र रस का स्रष्टा है । कवधों का डहकना, आँतों का पैरों में उलझना आदि जुगुप्सात्मक दृश्य होने के कारण वीभत्स रस के जनक हैं ।

निर्दिष्ट तीन रसों से विकसित क्रमशः अद्भुत, करुण और भयानक में करुण को छोड़कर क्योंकि भारतीय कवि परिपाटी युद्ध में करुण को अवांछित मानती आई है, शेष दोनों अर्थात् अद्भुत और भयानक भी पाये जाते हैं ।

विद्यापति ने अपनी कीर्तिलता में राजा कीर्ति सिंह के लिये वीर सिंह का युद्ध दिखाया है—“हुँकारों से वीर गर्जन करते थे, पैदल चक्रों को तोड़ते थे । दौड़ने पर धारायें (पाँक्तियाँ) टूट जाती थी । सन्नाह बाणों से फूट जाते थे । राउतों को गुस्सा आता था, तलवारों से तलवारें टूटती थी । क्रुद्ध शूरवीर आते थे और मार्ग उन्मार्ग में दौड़ पड़ते थे । एक-एक से भिड़ते थे, पर ई लक्ष्मी को मेटते थे । अपने नाम का उच्चारण करते हुए शत्रु को मारते थे । बार बार जानकर क्रुद्ध बाणों से जूझ जाते थे । दोनों ओर से सेनायें उठीं, संग्राम के मध्य में भेटे हुई । तलवार से तलवार मिलाकर आग की चिनगारियाँ निकल पड़ीं । अश्वारोही की तलवार की धार राउत के घोड़े से टूटती थी । बेल का शरीर वज्र निर्घात के तुल्य शब्द के साथ कवच से फूटता था । वैरी के हाथियों से पजर आहत हुए । आकाश रुधिर की धाराओं से भर गया । राजा कीर्तिसिंह के कार्य के लिये वीरसिंह संग्राम कर रहे थे ।”

हुँकारे वीर गजजन्ता पाइक्का चक्का भजजन्ता ।

धावन्ते धारा टुटन्ता सन्नाहा वाणे फुटन्ता ॥

राउता रोसं लगीआ खगेही खगा भगीआ ।

आरुठठा सूरु आवन्ता ऊँमगे मगे धावन्ता ॥

एकक्के एक्के भेटन्ता परारी लच्छी मेटन्ता ।

अप्पा नामाना सारन्ता बेलक्के सन्तू मारन्ता ॥

ओआरे पारे बूझन्ता, कोहाणे वाणे जूझन्ता ।

हुहुँ दिसि पाखर ऊँठ माँझ संग्राम भेट हो ॥

खगे-खगे संघलिअ, फुलुग उप्पलइ अग्नि को ।

अस्सवार अतिधार तुरअ राउँत सजो टुटइ ।

बेलक बज्ज निघात काअ कवचहु सजो फुटइ ॥

अरि कुंजर पंजल सलिरह रहिर धारें गए गगन भर ।

रा कित्सिंह को कज्ज रसें वीर सिंह संग्राम कर ॥

वीरगाथाकाल की ऐतिहासिक और कल्पित तथा प्रबंधात्मक एवं गेय सभी प्रकार की रचनाओं में हमें उन कवियों द्वारा वीर, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत, भयानक आदि के वर्णन किये हुए मिलते हैं जिन्होंने रणस्थल में जाकर इन दृश्यों से साक्षात् किया था । इसमें कोई संदेह नहीं कि वीर युग की आद्योपांत सामग्री इतिहास की तुला पर पूर्णतः नहीं लाई गई और उसकी कई प्रसिद्ध कृतियाँ विवादास्पद हैं फिर भी इतना कहने का साहस तो किया ही जा सकता है कि भक्तिकाल के कवियों द्वारा प्रेमाख्यानक कवियों की कथाओं के कल्पित अथवा ऐतिहासिक पात्रों तथा कृष्ण और राम के युद्धों के वर्णन जायसी, सूर, तुलसी सद्दृश समर्थ कवियों के द्वारा होने के कारण विधिवत् विविधता और अपने सांगोपांग विधान में कहीं हेठे नहीं ठहरते परन्तु उनमें से शायद ही किसी कवि ने कभी युद्ध-भूमि या युद्धों से साक्षात् किया हो ।

जायसी ने अपने पदमावत में क्रोध का प्रसंग वहाँ दिखाया है जहाँ राजा रत्नसेन को अलाउद्दीन का पत्र प्राप्त होता है परन्तु वहाँ भी रौद्र रस का विस्तृत संचार नहीं है । देखिये—

सुनि अस लिखा उठा जरि राजा, जानहुँ देव तड़पि घन गाजा ।

का मोहिं सिंघ देखावसि आई, कहों तो सारदूल धरि खाई ।

तुरुक जाइ कहु मरै न धाई, होइहि इसकंदर कै नाई ॥

यद्यपि इसमें अनुभाव के रूप में डाट-डपट और उग्र वचन तथा अमर्ष संचारी वर्तमान हैं और अपने मुँह से आप अपनी बड़ाई करने वाला अनुभाव भी आगे है परन्तु जायसी रौद्र रस का परिपाक नहीं कर पाये । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है—“न तो अनुभावों और संचारियों की मात्रा ही यथेष्ट है, न स्वरूप ही पूर्ण स्फुट है । जायसी का कोमल भावपूर्ण हृदय उग्र वृत्तियों के वर्णन के उपयुक्त नहीं था ।”

सूरदास ने कृष्ण द्वारा अनेक वध अपने सूरसागर के दशम स्कंध में दिखाये परन्तु उनमें क्रोध की सम्यक् भूमिका तथा उसका परिपाक दिखाना उन्होंने किसी कारणवश उचित नहीं समझा । इससे यह अनुमान कर लेना कि वे रौद्र रस की अभिव्यंजना करने में क्षम नहीं थे, बहुत बड़ा दुस्साहस होगा । सूर सागर के प्रथम स्कंध में महाभारत की कथा के अन्तर्गत भीष्म की प्रतिज्ञा दृष्टव्य है जो कि भगवान् के प्रति भक्त का आक्रोश भरा, दर्पपूर्ण, दुर्निवार हठ है तथा जिसमें उन्हीं की शपथ खाकर उनके ही वचनों को तुड़वा देने की गर्व और जोम भरी ललकार है देखिये—

आजु जो हरिहि न सस्त्र गहाऊँ ।

तौ लाजौं गंगा जननी कौं, सांतनु सुत न कहाऊँ ।

स्यंदन खंडि महारथ खंडौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ ।

पांडव-दल-सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ ।

इती न करौं सपथ तौ हरि की, छत्रिय गतिहि न पाऊँ ।

सूरदास रनभूमि विजय बिनु, जियत न पीठि दिखाऊँ ।

इस पद में भक्त का वैसा ही हठ है जैसा कि सूर ने एक अन्य स्थल पर अपने जन्म-जन्मांतर के पापी होने पर भी भगवान् को उनकी भक्तवत्सलता का स्मरण दिलाकर अपना उद्धार करने के लिये ललकारा है। उपर्युक्त पद में रौद्र रस पूरी तरह अभिव्यंजित होते-होते “इती न करौं सपथ तौ हरि की” के कारण पुष्ट न होकर आराध्य विषयक रति भाव में ढंग विशेष से परिवर्तित हो गया।

तुलसी ने यथा अवसर क्रोध की व्यंजना की है। राम की कथा में उग्र स्वभाव वाले लक्ष्मण का क्रोध सर्वविदित है। कवितावली में शिव धनुष टूटने पर परशुराम-लक्ष्मण संवाद अवलोकनीय है—

गर्भ के अर्भक काटन को पटु धार कुठार कराल है जाको ।

सोई हौं बूझत राज सभा ‘धनु को दल्यौ ?’ हौं दलिहौं बल ताको ॥

लघु आनन उत्तर देत बड़ो, लरिहै मरिहै करिहै कछु साको ।

गोरो गरुर गुमान भरो कहौं कौंसिक छोटी सो ढोटी है काको ॥

और मानस में राजा जनक के यह कहने पर कि ‘वीर विहीन मही मैं जानी’ लक्ष्मण उफन पड़े—

रघुवंसिन महँ जहँ कोउ होई । तेहि समाज अस कहै न कोई ॥

कही जनक जसि अनुचित बानी । विद्यमान रघुकुल मनि जानी ॥

मुनहु भानु कुल पंकज भानू । कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू ॥

जौं तुहारि अनुसासन पावौं । कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं ॥

काचे घट जिमि डारौं फोरी । सकौं मेरु मूलक इव तोरी ॥

तव प्रताप महिमा भगवाना । का बापुरो पिनाक पुराना ॥

नाथ जानि अस आयसु होऊ । कौतुक करौं बिलोकिअ सोऊ ॥

कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं । जोजन सत प्रमान लै धावौं ॥

तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ ।

जौ न करौं प्रभु पद सपथ पुनि न धरौं धनु नाथ ॥

लखन सकोप वचन जब बोले । डगमगानि महि दिग्गज डोलै ॥

तथा राम द्वारा शिव जी का धनुष टूटने पर और लक्ष्मण की कटूक्तियों पर परशुराम का रौद्र रूप भी देखिये—

छुअत टूट रघुपतिहि न दोसू । मुनि बिनु काज करिअ कत रोसू ॥
बालक बोलि बधउँ नहि तोही । केवल मुनि जड़ जानहि मोही ॥
बाल ब्रह्मचारी अति कोही । विश्व विदित छत्रियकुल द्रोही ॥
भुजबल भूमि भूप बिनु कीन्हों । विपुल बार महि देवन्ह दीन्हों ॥
सहस बाहु भुज छेदनि हारा । परसु बिलोकु महीप कुमारा ॥

मातु पितहि जनि सोच बस करसि महीप किसोर ।

गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर ॥

रीतिकान्त में अवतरित होने वाले वीर रसात्मक प्रबंध और स्फुट काव्यों के प्रणेता जोधराज, भूषण, सूदन, लाल, श्रीधर, चन्द्रशेखर तथा पौराणिक देवी-देवताओं की वीर प्रशस्तियों का गान करके भारतीय जनता को जगाने वालों को छोड़कर उन सब रीति मुक्त और बद्ध शृंगारी कवियों ने अपने काव्य शास्त्रीय ग्रंथों में अन्य रसों के निरूपण के साथ रौद्र का भी विवेचन किया है तथा उसके उदाहरण भी दिये हैं ।

छंद और अलंकारों का वैविध्य तथा पौराणिक ज्ञान और शाब्दिक पांडित्य का चमत्कार प्रदर्शित करने वाली केशव की रामचन्द्रिका में संवादों का अनोखापन प्रसिद्ध है । उसमें शिव धनु भंग होने पर परशुराम का क्रोध देखने योग्य है—

बोरों सब रघुवंस कुठार की धार में वारन बाजि सरत्थहि ।
बान की वायु उड़ाइ कै लच्छन लच्छ करौ अरिहा समरत्थहि ।
रामहि बाम समेत पठै वन कोप के भार मैं भूँजौ भरत्थहि ।
जो धनु हाथ भरै रघुनाथ तौ आजु अनाथ करौ दसरत्थहि ॥

अपनी रसिकप्रिया में केसव ने 'श्री कृष्ण को रौद्र रस' शीर्षक में निम्न उदाहरण दिया है—

मीडि मारघो कलह वियोग मारघो बोरि कै ,
मारोरि मारघो अभिमान भारघो भय भान्यो है ।
सबको सुहाग अनुराग लूटि लीनो दीनो ,
राधिका कुँवरि कहँ सब सुख सान्यो है ।
कपट कपटि डारयो निपट कै औरनि सों ,
मेटी पहिचानि मन में हूँ पहिचान्यो है ।
जीत्यो रति रन मथ्यो मनमथ हू को मन ,
केसोदास कौन कहूँ रोष उर आन्यो है ।

भिखारीदास ने अपने काव्यनिर्णय में रौद्र रस के निम्न उदाहरण में राम का दशानन और उसकी मदांध सेना पर क्रोध दिखाया है—

देखत मदंध दसकंध अंधधुंध दल ,
 बंधु सों बलकि बोल्यो राजा राम बरबंड ।
 लच्छेन विच्छेन सँहारे रहौ निज पच्छ ,
 देखि हौं अकेलें हों-ही अरि-अनी परबंड ।
 आज अधवाऊँ इन सत्रुन के खोनि तैन ,
 दास भनि बाढ़ी मेरे बानहि तृषा अखंड ।
 जाँन पैन सक्कस, तरक्क उठयो तक्कस,
 करक्क उठयो कोदंड, फरक्क उठे भुजदंड ।

दिल्ली दरवार में पहुँचकर जब शिवाजी ने देखा कि उनकी वांछित आवभगत नहीं हुई वरन् दिये गये वचनों के प्रतिकूल उन्हें कहीं छोटा वांछित मरतबा मिला तो वे अपने क्रोध के वेग को न रोक सके । भूषण के शब्दों में वह दृश्य देखिये—

सारी पातसाही के अमीर जुरि ठाढ़े तहाँ ,
 लाय कै बिठायौ कोऊ सूबन के नियरे ।
 देखिकै रसीले नैन गरब गसीले भए ,
 करी न सलाम न बचन बोले सियरे ।
 भूषन भनत जब धरयो कर मूठ पर ,
 तब तुरकन के निकसि गए जियरे ।
 देखि तेग चमक सिवा को मुख लाल भयो ,
 स्याह मुख नौरंग सिपाह मुख पियरे ।

पद्माकर ने अपने जगद्विनोद में राक्षस कुल पर हनुमान का क्रोध दिखाकर निम्न ढंग से रौद्र रस की पुष्टि की है—

वारि टारि डारौं कुंभकर्नहि विदारि डारौं ,
 मारौं मेघनाद आजु यौं बल-अनंत हौं ।
 कहै पदमाकर त्रिकूट ही को ढाहि डारौं ,
 डारत करेई यातुधानन को अंत हौं ।
 अच्छहि निरच्छ कपि तच्छ ह्वै उचारौं, इमि ,
 तोसे तिच्छ तुच्छन को कछुबै न गंत हौं ।
 जारि डारौं लंकहि उजारि डारौं उपवन ,
 फारि डारौं, रावन को तो मैं हनुमंत हौं ।

चन्द्रशेखर वाजपेयी ने अपने 'हमीर हठ' में हमीर देव और मुलतान के युद्ध को फाग से तुलित किया है । क्रोधावेश में भरे पक्षी-विपक्षी किस प्रकार परस्पर प्रहार कर रहे हैं, दृष्टव्य है—

वीर हमीर इतं रनधीर लरं उत सौं सुलतान सु हेलें ।
मार परी तरवारिन की बरसं सर सुल भयंकर सेलें ॥
टोप कटे कुलही तन त्रान मची घमसान भए बल भेलें ।
लोह अधायल ह्वं रहे घायल घूमत घायल फाग सी खेलें ॥

आधुनिक कवियों में मे कुछ के रौद्र रस के प्रकरण देखिये । नाथूराम शर्मा ने शृंगार का रौद्र रस में वर्णन किया है—

ताकत ही तेज न रहेगो तेजधारिन में ,
मंगल मयंक मंद-मंद पड़ जायेंगे ।
मीन बिन मोर मर जायेंगे तड़ागन में ,
डूब-डूब शंकर सरोज सड़ जायेंगे ।
खायगो कराल काल केहरी कुरंगन को ,
सारे खंजरीटन के पंख झड़ जायेंगे ।
तेरी अखियान सों लड़ेंगे अब और कौन ,
केवल अड़ीले दृग मेरे अड़ जायेंगे ।

नायिका की विश्वविजयिनी आँखों का मुकाबिला केवल नायक के अड़ीले दृग ही कर सकते हैं और कोई नहीं ।

जगन्नाथदास रत्नाकर ने भी भीष्म पितामह की गर्वोक्ति में रौद्र रस की अनूठी व्यंजना की है । देखिये—

भीष्म भयानक पुकारघो रन भूमि आनि ,
छाई छिति छत्रिन की गीति उठि जायगी ।
कहे रतनाकर रुधिर सों हँधेगी धरा ,
लोथनि पै लोथनि की भीति उठ जायगी ।
जीति उठि जायगी अजीत पंडु पूतन की ,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जायगी ।
कं तो प्रीति रीति की सुनीति उठ जायगी ,
कं आज हरि प्रन की प्रतीति उठि जायगी ।

यहाँ दुर्योधन पक्ष की पराजय आलंबन है, पांडवों की अपराजेयता और कृष्ण की प्रतिज्ञा उद्दीपन है, भीष्म के ललकार युक्त भयंकर वाक्य अनुभाव हैं तथा गर्व, अमर्ष आदि संचारी हैं । परन्तु इतना सब होकर भी, 'कं तो प्रीति-रीति की सुनीति उठि जायगी' कहने से देव-विषयक रति-भाव हो गया है ।

मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'जयद्रथ वध' तथा साकेत' में रौद्ररस का श्रेष्ठ परिपाक दिखाया है । साकेत में राम के निष्कासन पर और कैकेयी के आह्वानात्मक दुर्वाद पर लक्ष्मण अपनी भावनाओं को अधिक संयत न कर सके । देखिये—

गई लग आग-सी सौमित्र भड़के, अधर फड़के, प्रलय घन तुल्य तड़के ,
 “अरे मातृत्व तू अब भी जनाती ! ठसक किसकी भरत की है बताती ।
 भरत को मार डालूं और तुझको, नरक में भी न रखूँ ठौर तुझको ,
 युधाजित आततायी को न छोड़ूँ, बहन के साथ भाई को न छोड़ूँ ।
 बुलाले सब सहायक शीघ्र अपने, कि जिनके देखती है व्यर्थ सपने ,
 सभी सौमित्र का बल आज देखें, कुचकी चक्र का फल आज देखें ।

करुण रस

यों तो मानव के हृदय में प्रस्फुटित होने वाले प्रधान रसों में शृंगार और वीर हैं परन्तु इनके बाद साहित्यिक राशि करुण रस का ही पता देती है ।

भारत के आदिकाव्य रामायण का मूलाधार करुण ही है । ऋषिवर वाल्मीकि व्याध की निष्ठुरता के परिणामस्वरूप मादा कौच पक्षी के करुण चीत्कारपूर्ण विलाप से द्रवित होकर उसे शाप दे बैठे ।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।

यत्कौच मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम् ॥

और तदुपरान्त अपने मुंह से निकले हुए इस अनुष्टुप छंद पर विचार करते हुए नारद से प्रेरित हो उन्होंने रामकाव्य का प्रणयन किया । सुधियों को पता है कि राम की कथा आदि से अंत तक करुणा से ओतप्रोत है । विविध कसौटियों पर खरे उतरने वाले राम का जीवन अनवरत उत्तम और वलिदान की कहानी है तथा यह किसी से छिपा नहीं है कि वलिदान करने वाले को कितने महान् आत्मसंयम, दृढ़ता, धैर्य, साहस और असीम कष्टों की सहन-शक्ति का पाठ पढ़ना पड़ता है । राजगद्दी के शुभ सम्वाद के उपरान्त अयोध्या से निष्कासन, वनवास के कष्ट, सीता का अपहरण, लंका युद्ध, सीता का त्याग, सीता का भूमि प्रवेश, लक्ष्मण का शरीर त्याग तथा छोटी-छोटी न जाने कितनी अन्य घटनायें—कथायें रामायण में पग-पग पर हमें शोक से अभिभूत करती हुई करुणा की अजस्र धारा में डुबाती, उतराती, तैराती ले चलती हैं । आदि काव्य वास्तव में करुण रस का अन्यतम ग्रन्थ है । इसका अध्ययन करने वाले स्थल-स्थल पर अपने अश्रु प्रवाह को नहीं रोक सकते ।

महाकाव्यों के लिये यह नियम बन चुका था कि शृंगार और वीर को ही अंगरस होना चाहिये जिसका निर्वाह भवभूति को छोड़कर सबने किया है । परवर्ती महाकवि भवभूति रामायण की सीता-त्याग की तथा उनके भूमि-प्रवेश की कथा से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ‘एकोरसः करुण एव निमित्त भेदात्’ को ही उच्चस्वरित नहीं किया वरन् अपने उत्तररामचरित नाटक से उसे प्रतिपादित

भी कर दिया । भवभूति ने जो कुछ कहा उसे करके भी दिखा दिया यह उनके सम्पूर्ण नाटक और उसके निम्न स्थल से विशेष रूप से प्रकट है—

‘अपिग्रावा रोदिति अपि दलति वज्रस्य हृदयम्

भिन्नः पृथक् पृथग्विवाश्रयते विवर्तन् ।’

यह बात दूसरी है कि अन्य कविगण समानांतर परिस्थितियों का विश्लेषण कहाँ तक कर सके । भवभूति को छोड़कर अन्य किसी ने करुण को अंगी रूप में नहीं प्रतिष्ठित किया है ।

संस्कृत साहित्य में यथाविधि करुण के दर्शन होते हैं परन्तु अंगी (प्रधान) रूप में न होकर अंग रूप में । इसका कारण आंशिक रूप से यह भी हो सकता है कि भारतीय काव्य परम्परा शोक के स्थान पर हर्ष और आह्लाद को ही प्रश्रय देती आई है । हमारे नाटक इसी आधार पर सुखांत हैं तथा यूनानी नाटकों की भाँति दुखांत नहीं हैं ।

जिस प्रकार दन्त और नख छंद साधारणतः दुःखद होते हैं परन्तु कामिनी के साथ सुखद । उसी प्रकार पुत्र शोक आदि सामाजिक दुःख काव्यजनित नाटक में सुखजनित हो जाते हैं । कविराज विश्वनाथ ने भी कहा है—

‘सुखं संजायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि इति कांक्षतः ।’

काव्य और नाटक आदि मनोविनोद और आनंद के लिये देखे जाते हैं । दुःख प्राप्ति के लिए कौन अपना समय और धन व्यय करना पसंद करेगा । यदि हरिश्चन्द्र आदि नाटक देखने से दुःख हो तो कौन उन्हें देखने का अभिलाषी होगा । आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल ने लिखा है—

“जीवन की चादर सुख और दुःख या सफलता और असफलता के ताने वाने से बुनी रहती है,—यह है जीवन की वास्तविकता ; किन्तु जीवन का आदर्श नहीं । भारतीय नाटक का मूल उद्देश्य आदर्शोन्मुखी था । उपर्युक्त कोटि के चरित्रों के सफल प्रदर्शन का माध्यम लेकर रंग-मंच—इसी उद्देश्य की क्षति-पूर्ति किया करता था कि इन चरित्रों के जीवन-चित्रों में वह उनकी असाधारण कठिनाइयों को उपस्थित करके आये दिन की घटने वाली विषमताओं से दर्शक वृन्द को परिचित करा दे, किंतु साथ ही उन कठिनाइयों को असाध्य न होने दे । वास्तव में ऐसी कोई कठिनाई है भी नहीं, और न शायद हो ही सकती है जिस पर मनुष्य अपने कौशल, बुद्धि-बल और अपनी सात्त्विक चेतना से विजय न पा सके । महापुरुषों के चरित्र इन्हीं के प्रतीक हैं । उनके प्रदर्शन के माध्यम से साधारणजन अपेक्षित कौशल और बल का संकेत पा जाता है । यही सफल हो जाती है नाटक की आदर्शोन्मुखता । यही तो ध्येय था भारतीय नाट्य-विधान का । यही रहस्य है भारतीय नाट्य परम्परा में दुःखान्त के निषेध का ।”

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कालिदास ने महाराज दुष्यंत द्वारा अनादृत और तिरस्कृत शकुन्तला के मुख से जहाँ कहलाया है—

‘भगवति वसुन्धरे देहि मे अन्तरम् ।’

(अर्थात्—हे देवी वसुन्धरे, मुझे अपने गर्भ में स्थान दो), वहाँ श्रोतागण शोक से अभिभूत हो जाते हैं ।

विक्रमोर्वशी में राजा का विलाप अत्यंत करुण है । वेणीसहार में वीर रस की प्रधानता होते हुए भी करुण के दर्शन हो जाते हैं । मृच्छकटिक में चारुदत्ता के दरिद्र होने पर उसकी दयनीय स्थिति अति करुणाजनक है ।

भास ने अपने प्रतिमा नाटक में भरत के मंदिर में पहुँचने पर अन्य मूर्तियों के साथ जहाँ राजा दशरथ की प्रतिकृति दिखाई है उसे देखते ही भरत को ज्ञान हो जाता है कि राजा का निधन हो गया और वे ‘सब शून्य ही दिखाई पड़ता है’ इत्यादि कहने लगते हैं । इस स्थल पर भास ने करुण रस से साक्षात् करवा दिया है ।

पालि साहित्य में करुण की प्रधानता इतने से ही समझ ली जा सकती है कि भगवान् बुद्धदेव का जीवन ही करुणा से परिचालित हुआ था और अहिंसा परमोधर्म, को मूलमंत्र मानने के कारण हिंसा और हिंसक वृत्ति रोकने के लिए उनकी, उनके शिष्यों एवं अन्य काल्पनिक पात्रों की जन्म और पुनर्जन्म की कथाएँ आविष्कृत हुई थीं जिनमें शोक के कारण विराग और बुद्ध धर्म की शरण जाने का प्रकारांतर से उपदेश है ।

धार्मिक उपदेश तत्वों से भरे हुये पालि साहित्य के समान ही प्राकृत साहित्य में करुण की स्थिति है तथा प्रकाशित रूप में सुलभ अपभ्रंश साहित्य अधिकांशतः जैन विद्वानों द्वारा रचित होने के कारण रस को अंग रूप में लेता चलता है ।

हिंदी साहित्य का प्रकृष्ट रूप वीरगाथा काल से दिखाई देता है । वीरों के उस युग में शोक के न तो कहीं लक्षण हैं और न उसके लिए स्थान ही हैं क्योंकि मरना और जीना तो हक है तथा यश युगों तक चलने वाला है । प्राणों को हथेली पर लिये हुये क्षत्रिय शूरमा स्वामिधर्म और नमक के लिये किसी क्षण जीवनाहुति हेतु प्रस्तुत है । यदि शोक का कोई मार्मिक प्रसंग कहा जा सकता है तो आज की मनोस्थिति में सती होने वाला, परन्तु वह इतना प्रशंसा है कि कर्तव्य की वेदी पर इस आहुति को करुणा का अंचल नहीं छूने देता । वीर हिंदू नारी का आत्मोल्लास से धधकती हुई अग्नि चिताओं में प्रवेश परम प्रशंसा पर अति मर्मभेदी है । यह आत्मोत्सर्ग की पूर्ण आहुति स्वतन्त्र भारत की हिंदू नारियों तथा विशेषकर क्षत्राणियों का चरित्र विशेष था । वीरगाथा युगीन कवियों ने इस सती धर्म को उल्लासपूर्ण शब्दों में वर्णन

किया है जिनमें उस कठिन कर्तव्य पथ पर प्रेरित होकर चलने का संबल मिलता है न कि उधर से चित्त उपराम होता है। पृथ्वीराजरासो में अंतिम युद्ध की समाप्ति और पृथ्वीराज की पराजय के समाचार पर सती होने वाला दृश्य देखिये—

विविह तरुनि दिय दान, अवर सामंत सूर भर ।
अप्प अस्स हय लीय, मिलिय रह हित धाम घर ।
चित्त चित्त रव रवनि, गवनि पावक प्रज्जारिय ।
प्रेम प्रीत किय प्रेम, नेम गेमह प्रति पारिय ।
उज्जलिय झाल आयास मिलि, हर हर सुर हर गोम भौ ।
जहं जहां सुवास निज कंत किय, तहं तहां तिय पिय मिलन भौ ॥

छं० १६२४ सर्ग ६१

आधुनिक छायावादी काव्य तक जब तक अंग्रेजी साहित्य की प्रणाली पर शोक गीत लिखने का प्रेरणा नहीं आई हिंदी साहित्य में करुण रस अंग होकर ही परिपुष्ट हुआ है प्रधान अर्थात् अंगी रूप में विवेचित नहीं और प्रबंध काव्यों में ही हमें उसके दर्शन होते हैं।

रासो काव्यों के अतिरिक्त विद्यापति की भक्ति श्रृंगार पूर्ण पदावली में भी करुण के लिए स्थान नहीं है केवल उन अंतिम पदों के जहाँ जीवन की विषम गति और उताल वासना-पूर्ति परम विषाद में फूट पड़ी है। यथा—

तातल संकत बारि-बिदु सम
सुत-मित रमनि समाज ।
तोहे बिसरि मन ताहे समरपिनु
अब मझु हब कोन काज ॥
माधव हम परिनाम निरासा ।

तुहु जग तारन दीन दयामय, अतए तोहर विसवासा ।

सूफी काव्यों में विप्रलंब का इतना गहरा पुट है और जीवात्मा द्वारा परमात्मा से मिलन की इतनी उत्कट प्रतीक्षा है कि उसके आगे अन्य कुछ भी नहीं है फिर भी अन्योक्ति रूप में ली गई कथाओं में करुण भी कहीं-कहीं आ गया है यथा जायसी के पदमावत में एक तो राजा रत्नसेन के योगी होने पर और दूसरा उनके वीरगति पाने पर इन दोनों प्रसंगों में से प्रथम में पात्र द्वारा अभिव्यंजना है और दूसरे में केवल करुण दृश्य चित्रित है। प्रथम इस प्रकार है—

रोवहि रानी तजहि पराना । नोचहि बार करहि खरिहाना ।
चूरहि गिउ-अभरन उर ढारा । अब कापर हम करब सिंगारा ।
जकहू कहहि रहसि कै पीऊ । सोइ चला काकर यह जीऊ ।
मरै चहहि पै मरै न पार्वहि । उहै आगि सब लोग बुझावहि ।

यहाँ करुण रस पूरी तौर से अभिव्यजित हुआ है क्योंकि यहाँ पर विभाव के अतिरिक्त रोना और बाल नोचना अनुभाव है तथा विषाद संचारी है।

दूसरा, हिंदू सती का हृदय विदारक सती-धर्म का पालन है। लोक की अग्नि सती हेतु शीतल हो गई क्योंकि वह पति लोक का द्वार उन्मुक्त करती है—

आजु सूर दिन अथवा, आजु रंनि ससि बूड़।

आजु नाचि जिउ दीजिय, आजु आगि हम्ह जूड़॥

जिसका परिणाम यह हुआ—

लेइ सर ऊपर खाट बिछाई। पीढ़ीं दुवौ कत गर लाई॥

लागी कंठ आगि दिय होरी। छार भई जरि अग न मोरी॥

अपने को राम की बहुरिया मानने वाले सत कबीर एव अन्य सतो के लिए संसार के सुख व आनन्द झूठे हैं क्योंकि जगत तो काल का चबेना है—

झूठे सुख को सुख कहैं मानत हैं मन मोद।

जगत चबेना काल का कुछ मुख में कुछ गोद॥

तथा नश्वर शरीर की कोई हस्ती-हैसियत नहीं क्योंकि जीव के गमन के पश्चात्—

हाड़ जरं जस लाह कड़ी के, केस जरं जस घासा।

सोना जैसी काया जरि गई, कोइ न आयौ पासा॥

ससार के लोग जिसे सुख कहते हैं और जिस काया के प्रति आकर्षित होकर पोषण करते हैं। वह सब निर्गुण उपासकों के लिए मिथ्या है। उनके लिए शोक का प्रसंग यदि है तो झूठे ससार की माया-मरीचिका में पडना तथा इन्द्रियो के विषय भोग में रत रहना। मृत्यु करुण का प्रसंग है परन्तु कबीर आदि के यहाँ तो वह आत्मा की परमात्मा से परिणय की योजना है—

आई गव्रनवाई की सारी उमरि मोरी बारी।

अस्तु परिवार को 'नदी नाव सयोग' बनाने वालों के यहाँ काव्यशास्त्रीय शोक का कोई प्रयोजन नहीं है।

कृष्ण भक्त कवियों ने राधा प्रभृति गोपियों की कान्हा के प्रति असीम अगाध प्रीति को स्वसवेद्य बनाकर जो कुछ लिखा है उसमें सयोग और वियोग के अन्यतम चित्र हैं तथा विप्रलम्भ की दशाओं में करुणा यथाविधि संचारिणी है। कृष्ण का आद्योपात चरित्र यदि लिया जाता तो उसमें शोक के प्रसंग आ सकते थे। कृष्ण भक्त कवियों ने प्रबन्ध काव्य नहीं लिखे, मुक्तक रूप में अधिकांशतः कृष्ण की बाल-लीला और किशोर-लीला का चित्र मात्र ही उन्होंने खींचा है। इन चित्रों में काली नाग नाथन लीला में कृष्ण के कालीदह में कूदने पर माता-पिता और गोप सखाओं का शोक सूर ने बड़े ही सम्यक् रूप से दिखाया है—

मुपनौ परगट कियो कन्हई ।

सोवत ही निसि आजु डराने, हमसौ यह कहि बात सुनाई ।

धरनि परी मुरझाइ जसोदा, नंद गए जमुना तट धाई ।

बालक सब नंदहि संग धाए, ब्रज घर जहँ तहँ शोर मचाई ।

त्राहि त्राहि करि नंद पुकारत, देखत ठौर गिरे भहराई ।

लोटत धरनि परत जल भीतर, सूर स्याम दुख दियो बुढ़ाई ।

रामभक्त शाखा के प्रमुख तुलसीदास का मानस हिंदी साहित्य का अनमोल रत्न है । भाव, अलंकार, छंद, चरित्र-चित्रण, जीवन से संबंध आदि सभी के चित्रण में तुलसी अपूर्व है । प्रत्येक रस के निरूपण में उन्होंने जिस ढंग से पृष्ठ-भूमि बाँधी है उसमें कौन विमुग्ध नहीं हो जाता । मानस के कर्ण रस के स्थल तक आते आते स्वभाव, चरित्र, घटना, द्वंद और समन्वय का ऐसा वातावरण बँधता है कि कवि के विवेक बुद्धि तथा अवगाहन शक्ति का स्वतः उद्घोष हो उठता है । चक्रवर्ती महाराज दशरथ की पुत्र-वियोग में मृत्यु का दृश्य लीजिए । सीता, राम, लक्ष्मण वन को चले गये, इधर दशरथ की विह्वलता देखिए—

आसन सयन विभूषन हीना । परेउ भूमितल निण्ट मलीना ॥

लेइ उसास सोच एहि भाँती । सुरपुर तें जनु खँसेउ जजाती ॥

लेत सोच भरि छिनु छिनु छाती । जनु जरि पंख परेउ संपाती ॥

राम राम कह राम सनेही । पुनि कह राम लखन वंदेही ॥

दूसी व्याकुलता की स्थिति में मन्त्रो मुमन्त्र लौट कर राम को वन तक पहुँचाने का समाचार देते हैं । राम का विदाई सन्देश सुनकर तथा व्यवहार जानकर राजा रत्नानि, उद्वेग व परिताप में निमज्जित हो जाते हैं—

सूत बचन सुनतहि नर नाहू । परेउ धरनि उर दारुन दाहू ॥

तलफत विषम मोह मन माया । साजा मनहुँ मीन कहूँ व्यापा ॥

उनकी यह दशा देखकर रनिवास में शोक छा गया और उधर क्रमशः

राजा के प्राण कंठगत होने लगे—

प्राण कंठगत भयउ भुआलू । मनि बिहीन जनु व्याकुल व्यालू ॥

इंद्री सकल विकल भई भारी । जनु सर सरसिज बन बिनु बारी ॥

कौशल्या ने नाना भाँति से प्रबोधा परन्तु राजा को संतोष न हुआ; अंधे तापस के श्राप की बात स्मरण करके वे बोले—

सो तनु राखि करब मैं काहा । जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा ॥

हा रघुनंदन प्राण पिरीते । तुम बिन जियत बहुत दिन बीते ॥

हा जानकी लखन हा रघुबर । हा पितु हित चित चातक जलधर ॥

राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम ।

तनु परिहरि रघुबर विरह राउ गयउ सुरधाम ॥

और अवसर न चूकने वाले तुलसी ऐसे घोर दुःख के प्रसंग में भी राम की भक्ति का प्रचार कर गये—

जिअन मरन फलु दशरथ पावा । अंड अनेक अमल जसु छावा ॥

जिअत राम विधु बदन निहारा । राम विरह करि मरनु सँवारा ॥

तथा करुण के संचारी विषाद की योजना करके तुलसी ने चित्र पूरा कर दिया—

सोक विकल सब रोवाहि रानी । रूप सीनू बलु तेज बखानी ॥

करहि बिलाप अनेक प्रकारा । परहि भूमितल बारहि बारा ॥

लोक को रलाने वाले आततायी रावण की मृत्यु पर ऐसा ही करुण का सांगोपांग चित्र स्मृति और विषाद आदि संचारियों की सहायता से तुलसी ने लंकाकांड में खींचा है ।

रीति-बद्ध और रीति-मुक्त शृंगारी तथा तत्कालीन भक्त कवियों के पास वीर काव्य प्रणेतारों को छोड़ कर प्रबंध काव्य प्रणीत किये जाने की संभवतः कोई प्रेरणा अथवा योजना न थी अस्तु अगी रूप में करुण रस की चर्चा करने के लिये उनके पास कोई अवसर न था । रीति काल के अनुशासन का पालन करते हुए उनमें से कई ने नायिका भेद के अतिरिक्त नव रसों की भी लक्षणों और स्वरचित उदाहरणों समेत चर्चा की है । ऐसे ही स्थलों पर हमें करुण रस के दर्शन हो जाते हैं । पद्माकर ने अपने जगद्विनोद में करुण रस के निम्न दो उदाहरण दिये हैं—

आँसुन अन्हाय हाय हाय कै कहत सब,

औधपुरी वासी कै कहा यों दुख दाहिये ।

कहै पद्माकर जुलूस यूवराजी को सु,

ऐसी धनी है न जाय जाके सीस बाहिये ।

सुत के पयात दशरथ ने तजे जो प्रान,

बाढ्यो सोक सिंधु सो कहाँ लों अवगाहिये ।

मूढ़ मंथरा के कहे बन को जु भेजे राम,

ऐसा यह बात कैकेयी को तो न चाहिए ।

राम भरत मुख मरन सुनि दशरथ के माँह ।

महि परि भे रोदति उचरि, 'हा पितु हा नरनाह' ॥

भारतेंदु ने करुण रस के सम्यक् चित्र अपने विविध नाटकों में यथा अवसर प्रस्तुत किये हैं । आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने नारी-उत्थान का स्वर उठाया और मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी रचनाओं में शृंगार और संचारी करुण के माध्यम से पुराने आदर्श नारी पात्रों को खोजकर उन्हें नवीन ज्योति से

आलोकित किया तथा उस वर्ग पर सहानुभूति एवं संवेदना से विचार करने का दिग्दर्शन निम्न पंक्तियों से कराया—

अबला जीवन हाथ तुम्हारी यही कहानी ।

आँचल में है बूध और आँखों में पानी ॥

अपने साकेत में उन्होंने महाराज दशरथ के परलोक गमन का इस प्रकार चित्रण किया है—

मेरे कर युग हैं टूट चुके,
कटि टूट चुकी, सुख छूट चुके ।
आँखों की पुतली निकल पड़ी,
वह यहीं कहीं है विकल पड़ी !
खाकर भी बार बार झटके—
क्यों प्राण अभी तक हैं अटके ?
हे जीव चलो अब दिन बीते,
हा राम, राम, लक्ष्मण सीते ! ”
बस यहीं दीप निर्वाण हुआ,
सुत विरह वायु का बाण हुआ ।
धुंधला पड़ गया चंद्र ऊपर,
कुछ दिखलाई न दिया भूपर ।
अति भीषण हाहाकार हुआ ,
सूना सा सब संसार हुआ ।
अर्द्धांग रानियाँ शोक कृता,
मूर्छिता हुईं या अर्द्ध मृता !

बैंगला कवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपने मेघनादवध काव्य में वासव-विजेता की मृत्यु पर प्रमीला और रक्षोराज रावण के हृदय विदारक शोक का चित्र खींचा है—

कैसे मैं फिरेगा—मुझे कौन बतलावेगा—
कैसे मैं फिरेगा हाथ ! शून्य लंका धाम में ?
दूंगा सान्त्वना क्या मैं तुम्हारी उस माता को,
कौन बतलावेगा मुझे हे वत्स ? पूछेगी
मन्दोदरी रानी जब कह यह मुझसे—
‘पुत्र कहाँ मेरा ? कहाँ पुत्रवधू मेरी है ?
रक्षः कुलराज, सिंधु तीर पर दोनों को
किस सुख संग कहो छोड़ तुम आये हो ?’

किस मिस से मैं उसे जाके समझाऊँगा—
 कहके क्या उससे हा ! कहके क्या उससे ?
 हा सुत ! हा वीर श्रेष्ठ ! चिर रण विजयी ।
 हाय ! वधू, रक्षोलक्ष्मि, रावण के भाल में,
 विधि ने लिखी है यह पीड़ा किस पाप से ।
 वारुण ?

हिंदी के छायावादी कवियों में विशेषतः निराला ने शोकगीत लिखा ।
 अपनी दिवंगता कन्या को लेकर उन्होंने 'सरोज स्मृति' शीर्षक एक बड़ी मर्म
 स्पर्शिनी रचना की है जिसकी अंतिम पंक्तियाँ इस प्रकार है—

मुझ भाग्यहीन की तू सम्बल,
 युग वर्ष बाद जब हुई विकल,
 दुख ही जीवन की कथा रही,
 क्या कहूँ आज, जो नहीं कही !
 हो इसी कर्म पर वज्रपात,
 यदि धर्म रहे नत सदा माथ,
 इस पथ पर मेरे कार्य सकल,
 हो भ्रष्ट शीत के से शतदल !
 कन्ये, गत कर्मों का अर्पण,
 कर, करता मैं तेरा तर्पण !

वीभत्स रस

वीरगाथा काल से प्रारंभ होने के कारण हिंदी साहित्य में तलवारों की
 चमक और वाणों की सनसनाहट तथा नगाड़ों के घोष के साथ युद्ध हेतु अभि-
 यानों के दर्शन होते हैं जिनमें जय-पराजय को छोड़कर अंतिम दृश्य जुगुप्सा
 कारक ही पाये जाते हैं । कई वास्तविक और अनेक कल्पित युद्धों के भंडार
 पृथ्वीराजरासो का एक छंद यथेष्ट होगा—

पत्र भरें जुगिनि रुधिर, गिद्धिय मंस डकारि ।

नच्यो ईस उमया सहित, रुंड माल गल धारि ॥ छं० १६ स० २९

विद्यापति ने अपनी कीर्तिलता में तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह और नवाब
 असलान के युद्ध की समाप्ति पर रण का निम्न दृश्य दिखाया है—

पले रुण्ड मुण्डो खरो बाहुदण्डो,

सिआरू कलङ्कोइ कङ्काल खण्डो,

धरा धूरि लोट्टन्त टुट्टन्त काया,

सरस्ता बलन्ता पमालेन्ति पाआ ।

अहङ्गाल अन्तावली जाल बद्धा,
 वसा वेग बूझन्त उड्डन्त गिद्धा ।
 गअन्डी करन्तो पिबन्तो भरन्तो,
 महामासु खंडो परन्तो भरन्तो ।
 सिआसार फेक्कार रोलं करन्तो,
 बुभुषा बहू डाकिनी डक्करन्तो ।
 बहुप्फाल बेआल रोलं करन्तो,
 उलट्टो पलट्टो पेलन्तो कबंधो ।
 सरोसान भिन्ता करे बेइ सानो,
 उमस्से विमस्से विमुक्केइ पाणो ।
 जहाँ रक्त कल्लोल नाना तरंगो,
 तहा सारि सज्जो निमज्जो मयंगो ।
 रक्त कराङ्गन मांथ डफरि फेरनी फोरि षा ।
 हाथे न उट्ठय हाथि छाड़ि बेआलु पाछु जा ॥
 नर कबंध धर फलइ मम्म बेआवह पेल्लइ ।
 रुहिर तरङ्गिणि तीर भूत गण जरहरि खेल्लइ ॥

[अर्थात्—रुंड-मुंड पड़े हैं। बाहुदंड खड़ा है। शृगाल कंकाल के टुकड़े खखोल रहे हैं। कटते हुए शरीर पृथ्वी पर धूल में लोटते थे। लड़ते हुए, चलते हुए, पैर शांत हो जाते थे। गिद्ध उलझाने वाली आँतों में उलझकर, चर्बी में जल्दी से डूबकर फिर उड़ जाते थे। प्रेत गाता हुआ, पीता हुआ, भरता हुआ महामांस के खंड (पेट में) भर रहा था। बहुत सी डाकिनियाँ सी-सी फे-फे शोर करती हुई भूख के मारे डकरा रही थीं। बेताल तरह-तरह के शोर मचा रहे थे। कबंध उलटे-पलटे होकर गिर पड़ते थे। सरोष हाथ में शस्त्र लिये, उच्छ्वास-निश्वास में प्राण छोड़ देते थे। जहाँ रुधिर की लहरें बहती हों, ऐसा स्थान ढूँढ़कर हाथी मग्न होता था। बेताल रक्त, कंकाल और मत्थे से तृप्त होकर फिर उसे फोड़कर खाने लगता था। हाथी के हाथ से न उठाये उठने पर उसे छोड़कर उसके पीछे चला जाता था। नर कबंध चर-फराते थे, उसके मर्मस्थल में बेताल घुस जाते थे। भूत रुधिर की नदी के किनारे जरहरि खेलते थे।]

प्रेम की पीर वाले सूफी संत संयोग और वियोग के चित्रण में परम दक्ष थे परन्तु यह अभिप्राय कदापि नहीं कि वे अन्य रसों की योजना में समर्थ न थे। युद्ध की भीषणता के बीच भारतीय कवि-परंपरा गिद्ध, शृगाल, कौए आदि के रूप में जुगुप्सात्मक योजनायें करने की अभ्यस्त है और ये दृश्य प्रासंगिक होने के कारण स्वाभाविक लगते हैं। जायसी का चित्रण देखिये—

आनंद ब्याह करहि मँसखावा । अब भल जनम-जनम कहँ पावा ॥

चौसठ जोगिनि खप्पर पूरा । बिग जंबुक घर बाजहि तूरा ॥

गिद्ध चील सब मंडप छावहि । काग कलोल करहि ओ गावहि ॥

निर्गुण संत कवियों को वीभत्स से कोई प्रयोजन न था और जहाँ कहीं कबीर आदि ने संचारी जुगुप्सा का सहारा लिया भी है वहाँ शांत रस के परिपाक हेतु निर्वेद को स्थायी बनाने के लिये ही । यथा—

हाड़ जरें जस लाह कड़ी को केस जरें जस घासा ।

सोना जँसी काया जरि गई कोउ न आयो पासा ॥

घर की तिरिया ढूँढ़न लागी ढूँढ़ि फिरी चहुँ बेसा ।

कहत कबीर सुनौ भइ संतो छोड़ौ जम की आसा ॥

सगुणोपासक कवियों की कृष्ण भक्त शाखा में अग्रगण्य सूर ने पुराण शैली पर लिखे गये अपने विशालकाय सूरसागर में कृष्ण द्वारा अनेक वध किये जाने का उल्लेख किया है परन्तु वीभत्स रस का चित्रण उन्होंने कहीं नहीं किया । प्रतीत होता है कि अपने प्रधान सुकुमार रस की रक्षा के कारण वे इस रस को युक्तिपूर्वक बचा गये हैं । कुवल्यापीड-वध में संचारी जुगुप्सा के सहारे वे इतना मात्र कहते हैं—

कबहुँ लँ जात इत उतँ त्यावत कबहुँ, भ्रमत व्याकुल भयौ पील भारी ॥

गँद ज्यों गयँद कौँ पटकि हरि भूमि सों, दंत दोउ लिए निज कर उपारी ॥

भभकि कै दंत तँ रुधिर धारा चली, छोट छवि बसन पर भई भारी ॥

केसरी चीर पर अबिर मानौँ पर्यौ, खेलतँ फागु डार्यौ खिलारी ॥

अन्य वधों में यहाँ तक कि कंस वध में तो इतना भी नहीं है । रस के परिज्ञान और उसकी स्थापना में परम निपुण सूर को संभवतः वीभत्स का परिपाक दिखाना अभीष्ट नहीं था ।

सूर के विपरीत तुलसी को लीजिये । क्या मानस और क्या अन्य रचनार्ये, जहाँ जिस रस का प्रसंग आया उसे विधि विधान सहित साकार कर दिया । मानस के लंकाकांड में वीभत्स का एक स्थल देखिये—

मउजहि भूत पिसाच बेताला । प्रमथ महा झोटिंग कराला ॥

काक कंक लँ भुजा उड़ाहीं । एक ते छीनि एक लँ खाहीं ॥

एक कहहि ऐसिउ सौँघाई । सकहु तुम्हार दरिद्र न जाई ॥

कहँरत भट घायल तट गिरे । जहँ तहँ मनहुँ अर्धजल परे ॥

खँचहि गोध आँत तट भए । जनु बसी खेलत चित दए ॥

बहु भट बहहि चढ़े खग जाहीं । जनु नावरि खेलहि सरि माहीं ॥

जोगिनि भरि-भरि खप्पर संचहि । भूत पिसाच वधू नभ नंचहि ॥

भट कपाल करताल बजावहि । चामुंडा नाना विधि गावहि ॥

जंबुक निकर कटवकट कट्ठाहि । खाहि हुआहि अघाहि बपट्ठाहि ॥

तथा कवितावली से लंका युद्ध के प्रसंग में स्थायी जुगुप्सा का दृश्य लीजिये—

ओझरी की झोरी काँधे, आँतिनी की सेरही बाँधे ,

झुंड के कमंडल, खपर किये कोरि कं ।

जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापसी-सी ,

तीर तीर बंठीं सू समर सरि खोरि कं ।

सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से ,

प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कं ।

तुलसी बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ ,

हेरि हेरि हंसत हैं हाथ हाथ जोरि कं ।

रीतिकालीन कवियों के लिये वीभत्स चर्चा का कोई प्रसंग नहीं था । जिन्होंने रस विवेचन सम्बंधी ग्रंथ लिखे उन्होंने अवश्य ही वीभत्स के भी उदाहरण दे दिये हैं । इन कवियों में प्रबन्ध काव्य के रचयिताओं ने प्रसंगानुसार वीभत्स का सम्यक् चित्र खींचा है । आचार्य केशव ने अपनी रामचंद्रिका में लंका में हनुमान के बाँधे जाने पर उनके दंडविधान स्वरूप राक्षसों की जुगुप्सा-त्मक वृत्ति का बड़ा अच्छा परिचय दिया है—

कोरि कोरि यातनानि फोरि फोरि मारिए ।

काटि कटि फारि मांसु बाँटि बाँटि डारिए ।

खाल खेंचि खेंचि हाड़ भूँजि भूँजि खाहु रे ।

पोरि टाँगि हंड मुंड लै उड़ाइ जाहु रे ।

अपनी रसिकप्रिया में केशव ने नील वर्ण के वीभत्स को देख सुनकर, तन-मन में उदासी छाने वाले 'राधिका जी की वीभत्स' को शृंगार में इस प्रकार घटाकर वर्णन किया है—

माता ही को मास तोहि लागत है मीठो मुख ,

पियत पिता को सोहू नेक ना घिनाति है ।

भयनि के कंठनि को काटत न कसकति ,

तेरो हियो कैसेो है जु कहति सिहाति है ।

जब जब होत भेंट तब तब मेरी भटू ,

ऐसी सौहें दिन उठि खाति न अघाति है ।

प्रेतिनी पिसाचिनी निसाचरी की जाई है तू ,

कैसेदास की सौं कहि तेरी कौन जाति है ।

तथा 'श्रीकृष्ण की वीभत्स रस' इस प्रकार लिखा है—

टूटे ठाट घुन घुने धूम धूरि सों जु सबे ,

झोंगुर छषोड़ी साँप बीछिन की घात जू ।

कंटक कलित त्रिन बलित बिगंध जल ,
 तिनके तलप-तल ताकों ललचात जू ।
 कुलटा कुचील गात अंध तम अधरात ,
 कहि न सकत बात अति अकुलात जू ।
 छेड़ी में घुसो कि घर ईधन के घनस्याम ,
 पर घरनीनि पहुँ जात न घिनात जू ।

भिखारीदास ने अपने काव्य-निर्णय में जुगुप्सा भाव का पूरा आस्वादन शास्त्रोक्त विधि से कराया है—

बरखा के सरे मरे मृतक हू खात ,
 न घिनात खरे कृमि भरे मासन के कौर कों ।
 जीवत बराह को उदर फारि चूसत हैं ,
 भावें दुरगंधवौ सुगंध जैसें और कों ।
 देखत सुनत सुधि करत हू आवैं धिन ,
 साजे सब अँगन घिनामने हिंडोर कों ।
 मति के कठोर माँन धरैम कों तारे ,
 करे करम अघोर डरें परम अघोर कों ।

वीर रस के ख्यातनामा कवि भूषण का वीभत्स रस संबंधी छंद देखिये—

भूप सिवराज कोप करि रन मंडल में ,
 खग गहि कूछो चकता के दरबारे में ।
 काटे भट विकट रु गजन के सुंड काटे ,
 पाटे उर भूमि काटे दुवन सितारे में ।
 भूषण भनत चैन उपजै सिवा के चित्त ,
 चौंसठ नचाई जब रेवा के किनारे में ।
 आँतन की ताँत बाजी खाल की मृदंग बाजी ,
 खोपरी की ताल पशुपाल के अखारे में ।

इस छंद में जुगुप्सा संचारी होकर शिवाजी के प्रताप का अंग बन गई है अस्तु राजा विषयक रति भाव है न कि वीभत्स रस ।

हम्मीरहठ के रचयिता चंद्रशेखर ने रणथंभौर दुर्ग हेतु अलाउद्दीन खिलजी की चढ़ाई और युद्ध में निम्न जुगुप्सात्मक चित्र खींचा है—

चुंचनि चृत्यें गूढ़ माँस जंबुक मिलि भच्छें ।
 चाटे चरवि पिसाच प्रेत गहि हाड़ प्रतच्छें ।
 भषें मोद भरि भूत रुंड भैरव लै भज्जें ।
 गहि कपाल रत पान करत चंडी गल गज्जें ।

नाचें निहारि जुरि जोगिनी, सुभट जच्छ कन्या बरें ।

रनभुम्भि भए कायर विमुख, सूर समर साका करें ॥ ३३१

किसी अज्ञात कवि रचित पिशाच सुन्दरी का चित्र भी दृष्टव्य है—

आँत के तार जु मंगल कंगन, हाथ में बाँधि पिशाच की बाला ।

कानन हाड़न के झुमका, पहरे हिय में हियरान की माला ।

लोह के कीचर सों उबटे सब अंग बनाएँ सरूप कराला ।

पीतम के संग हाड़ के गूदे की मद्य पिये खुपरीन के प्याला ।

पद्माकर ने अपने जगद्विनोद में वीभत्स के दो उदाहरण दिये हैं—

पढ़त मंत्र अरु यंत्र, अंत्र लीलत इमि जुगिन ।

मनहुँ गिलत मदमत्त, गरुड़-तिथ अरुन उरुगिन ।

हरवरात हरषात, प्रथम परसत पल पंगत ।

जहँ प्रताप जिति जंग, रंग अँग-अँग उमंगत ।

जहँ 'पद्माकर' उतपत्ति अति, रन रक्कत-नदिय बहत ।

चख चकित चित्त चरबीन चुभि, चकचकाइ चंडी रहत ।

तथा

रिपु अंत्रन की कुंडली, कर जुगिन चु चबाति ।

पीबहि में पागी मनो, जुवति जलेबी खाति ॥

कवि लाल ने अपने छत्रप्रकाश में हाथियों का रक्त पीने, घोड़ों को चबाने, अँतड़ी लपेटी हड्डियों को हाथों में धारण करने आदि के घृणा उत्पादक कार्यों का वर्णन किया है—

कोटि कुंड सुंडनि के रुंड में लगाय तुंड ,

झुंड झुंड पान कै कै लोह भूत चेटी है ।

घोड़न चबाय चरबीन सों अघाय लेटी ,

भूखे सब मरे मुरदान में समेटी हं ।

लाल अंग कीन्हे सीस हाथन में लीन्हें ,

अस्थि भूषन नगीने आँत जिन पै लपेटी है ।

हरष बढ़ाय अँगुरिन को नचाय पियें ,

सोनित पियासी सी पिसाचिनी की बेटी हैं ॥

राम और रावण के युद्ध में मारे गये शवों पर गिद्ध मँड़रा रहे हैं । योगिनियाँ प्रसन्नता से खोपड़ियों के प्याले में रुधिर भर-भर कर पी रही हैं और पिशाच आँतों की माला गले में डाले चरबी चबाते घूम रहे हैं । इस चित्र के प्रस्तुतकर्ता लछिराम हैं देखिये—

समर समीप रामचंद्र और रावण के,

बानन की बरसा घटा सी घिर जाति हैं ।

कोबिन मुझट परे परिहरि प्राण नूमि,
 तिम्रै हेरि गीधन की सेना मँडराति हैं ।
 कवि लछिराम कालिका की किलकारें सुनि
 जंग जोरि भोगिनी-जमाति हरषाति हैं ।
 खोपरी के प्यालन में करति रुधिर पान,
 औतन की माला गर चरबी चबाति हैं ॥

और देखिये भुक्खड़ों को भोज क्या मिला चारों ओर नरक बिखर गया—

सिर पं बँठो काग आँखि दोउ खात निकारत ।
 खँचति जीवहि स्यार अतिहि आनंद उर धारत ।
 गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि कै माँस उपारत ।
 श्वान आँगुरिन काटि काटि कै खान विचारत ।

बहु चील नोचि लै जात तुच मोद मद्यो सब कौ हियो ।

मनु ब्रह्म भोज जिजमान कोउ आजु भिखारिन कहँ दियो ॥

आधुनिक काल के कवियों में भारतेंदु ने वीभत्स रस के दर्शन अपने नाटकों में यथास्थान कराये हैं । हरिश्चन्द्र नाटक में उनका मरघट वर्णन जुगुप्सा-कारक तो है ही भयोत्पादक भी है जिसमें पिशाचों और डाकिनियों का गाना देखिये—

पिशाच— हम काट काट कर सिर का गँदा उछालेंगे ।
 हम खींच खींच कर चरबी पंशाखा बालेंगे ॥

डाकिनी— हम माँग में लाल लाल लोह का सँकुर लगावेंगी ।
 हम नस के तागे चमड़े का लहंगा बनावेंगी ॥

सब— हम धज से सज के बज के चलेंगे चमकेंगे चम चम-चम ।

पिशाच— लोह का भुँह से फरं फरं फुहारा छोड़ेंगे ।
 माला गले पहिरने को अँतड़ी को जोड़ेंगे ।

डाकिनी— हम लाद के औंधे मुरदे चौकी बनावेंगी ।
 कफ़न बिछा के लड़कों को उस पर मुलावेंगी ॥

रामचरित उपाध्याय ने वीभत्स का निम्न दृश्य प्रस्तुत किया है—

अतिथि हैं श्वान गीदड़ गिद्ध तेरे ।

सदा सब हैं मनोरथ सिद्ध तेरे ।

कहीं जल में बहे शव जा रहे हैं ।

उन्हीं पर काक कड़खे गा रहे हैं ॥

पुराने और नये कवियों ने प्रायः युद्ध से संबंधित वीभत्स रस के चित्र खीचे हैं जो लगभग एक समान चित्र प्रस्तुत करते हैं ।

परन्तु नाथूराम शंकर शर्मा ने शवों आदि की दुर्दशा से सम्बंधित दृश्यों के अतिरिक्त किसी फूहड़ स्त्री को हूबहू चित्रित करने के प्रयास के साथ जुगुप्सा भी उत्पन्न कर दी है—

भोड़े मुख लार बहै आँखिन में ढीड़ राधि—

कान में सिनक रेंट भीतिन पैं डारि देति ।

खर खर खुरचि खुजावैं मटुका सों पेट ,

टूँड़ी लौ लटकते कुचन कों उघारि देति ।

लौटि लौटि चीन घाँघरे की बार बार फिरि ,

बीनि बीनि डींगर नखन धर मार देति ।

लंगरा गंधात चढ़ी चीकट सी गात मुख—

धोवैं ना अन्हात प्यारी फूहड़ बहार देति ।

हरिऔध जी ने बालिकाओं और विधवाओं पर अत्याचार करने वालों की खबर संचारिणी जुगुप्सा के माध्यम से निम्न छंद में ली है—

साँप ते डरावने भयावने हैं भूतन ते ,

काक जैसे कुटिल अपार अरुचिर हैं ।

अपजस भाजन कलंक के निकेतन हैं ,

कामुकता मंदिर के निदित अजिर हैं ।

हरिऔध मानव सरूप माहि दानव हैं ,

आँख कान अछत ते आँधर बधिर हैं ।

हाड़ जे चिचोरत विचारी विधवान के हैं ,

भोली बालिकान के जे चूसत रुधिर हैं ।

रत्नाकर जी ने अपने श्मशान के चित्र में वीभत्स रस को साकार कर दिया है—

कहूँ श्वान इक अस्थि खंड लैं चाटि चिचोरत ।

कहूँ कारो महि काक ढोर सों ढोकि टटोरत ।

कहूँ शृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत ।

कहूँ कोउ शव पर बंठि गिद्ध चट चोंच चलावत ।

जहँ तहूँ मज्जा मांस रुधिर लखि परत बगारे ।

जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहूँ कहूँ रतनारे ।

भए एकट्ठा आनि तहाँ डाकिनि पिशाच गन ।

कूदत करत कलोल किलकि दौरत तोरत तन ।

मैथिलीशरण गुप्त द्वारा प्रस्तुत वीभत्स का निम्न दृश्य भी देखिये—

इस ओर देखो रक्त की यह कीच कैंसी मच रही ;

हे पट रही खंडित हुए बहु रुंड मुंडों से मही ।

कर पद असंख्य कटे पड़े शस्त्रास्त्र फँले हैं तथा ,
 रंगस्थली ही मृत्यु की एकत्र प्रकटी हो यथा ।
 झुकते किसी को थे न जो नृप मुकुट रत्नों से जड़े ,
 वे अब शृगालों के पदों की ठोकरें खाते पड़े ।
 पेशी समझ माणिक्य की वह विहग देखो ले चला ,
 पड़ भोग की ही भ्रांति में संसार जाता है छला ।

छायावादी कवियों को धनीने रूपों के प्रति कोई आकर्षण या अनुराग न था और सुकुमार रसों में अपनी भाव-भूमियों को अवतरित करने के कारण उन्हें जुगुप्सा की कोई आवश्यकता भी न थी । यही कारण है कि पंत, निराला और महादेवी की रचनाओं में वीभत्स रस की कोई योजना नहीं मिलती । प्रसाद जी ने अवश्य ही फारसी शैली में प्रभावित होकर संचारिणी जुगुप्सा के सहारे अपने करुण-विप्रलम्भ को और अधिक तीव्र करने की चेष्टा की है । यथा—

छिल छिल कर छाले फोड़े

मल मल कर मृदुल चरण से ।

घुल घुल कर बह रह जाते

आँसू करुणा के कण से ।

प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवि यथार्थ लिखने के लिए प्रसिद्ध हैं । उनका ढंग और तर्ज अपने हैं । कुँवर नारायण 'लुढ़क पड़ी छाया' शीर्षक कविता में लिखते हैं—

एक फीकी किरण सूजी लाश पर,

स्वप्न कोई हँस रहा आकाश पर,

देह से कुछ भूख गायब, कुलबुलाती आँत;

खोपड़ी से देह गायब, खिलखिलाते दाँत;

—तीसरा सप्तक

जगदीश गुप्त ने अपने 'शब्द दंश' नामक संग्रह में 'सीधी बात का काँटा' शीर्षक में लिखा है—

मोत भी क्या खूब—

जो खन्ती भरे उन पर न रख कर दाँत

मरभूखों की खिंची सूखी आँत पर गीधी ।

और अपने 'क्षुधा काम स्तोत्र' में उन्होंने क्षुधा का जुगुप्साकारक रूप खींचा है—

जयति क्षुधे !

रक्त मांस मज्जा के दाह से

दीपित जिसका माया ।

भू.....ख.....भ.....ख

अवनी-अम्बर-वाची ध्वनियों से

विरचित जिसकी गाथा ।

जठर ज्वलित काया को घेरकर

बज उठती आँतों की किकिणी ।

षट रस का राग मुखर, ग्रास रास रंगिणी ।

अपने ही अंडे खा जाने वाली भुजंगी ,

खिंची नसों वाली चामुंडा की प्रतिमा सी

आमाशय बासिनि, भासिनि बहुधे !

जयति हृताशन तनये जयति क्षुधे ।

इन प्रसंगों में संचारिणी जुगुप्सा से काम लिया गया है ।

भयानक रस

हिंदी के वीरगाथा कालीन काव्य में हमें भयानक रस के दर्शन यथा विधि होते हैं । पृथ्वीराजरासो में ढुंढा दानव का प्रसंग अतीव भयोत्पादक है । यह दानव पाँच सौ हाथ ऊँचा था, हाथ में विकराल खड्ग लिये रहता था और मुँह से ज्वालायें फेंका करता था—

अंगह मान प्रमान, पंच संहथ उन कह ।

छह ऊँचो उनमान, विनय लछिछनह विवेकह ।

हथ खड्ग विकराल, मुष्ण ज्वालघन सह ॥

ढूँढ ढूँढ कर नरों को खाने के कारण इसका नाम ढूँढा पड़ा और उसने सुन्दर अजमेर नगर उजाड़ डाला—

ढूँढ़ि ढूँढ़ि खाये नरनि तातें ढूँढा नाम ।

देवपुरी अजमेर पुर, रम्य करी बेराम ॥

चन्द ने बावन बीरों को वशीभूत कर लिया और उनका आवाहन किया । उनके रूप भय पैदा करने वाले थे । देखिये—

को इक कुंजर मद बहुत, को इक सिंघ सरूप ।

को इक पन्नग विष गरल, को इक दिष्णित भूप ।

अग्नि ज्वाल तन किन उठत, किन तन बरसै मेह ।

चक्र पवन डंडूर के, के तन कंकर खेह ॥

रासो में भय पैदा करने वाले भूत, प्रेत, भैरव और योगिनियों के नृत्य भी हैं । यथा—

किलकारति भैरव भूत करें, हलकारत घेतरपाल घरें ।

गलै राग गावंत सिंघू संगिघू, गलै माल जा सूल कन्नैर बंधू ॥

अगे बेचरं षेतपालं बेतालं, तहां भैरवं नह जोगीह कालं ॥

गुफा में सिंह के भ्रम से धुआँ करने पर एक क्रोधित ऋषि निकले और उन्होंने पृथ्वीराज को उनके शत्रु द्वारा चक्षु-विहीन किये जाने का श्राप दे दिया । उस श्राप के भय से पृथ्वीराज की निम्न दशा हो गई—

सुनिय बयन्न श्रवन्न, कं पि प्रथिराज थरथर ,
जिते सथ्य सामंत, सूर उर त्रास धरद्वर ।
गये वदन कुमिलाय, सक्कि अति अधर अद्ध उध ।
बोलत बोल न बनै, सबै संताप साप दध ।
रिषि श्राप दाप कौ अंग में, को ठिल्लै पग एक लगि ।
जंगल न जाइ न न जाइ घर, भरि न सरक्कै भूप डग ॥

रण की विभीषिका से भयभीत होकर भागने वाले कायरों का उल्लेख प्रायः प्रत्येक वीर काव्य में प्राप्त होता है । प्रबन्ध काव्यों के अतिरिक्त आल्हा जैसे वीर काव्य में भी उनका समावेश है । देखिये—

ऊँवे खाले कायर भागे । जे रन दूलह चले बराय ॥

प्राणोत्सर्ग की बाजी में बहुधा योद्धागण विचलित होते पाये गये हैं जो भयभीत होकर युद्धभूमि से भाग निकलते हैं ।

सूफियों के प्रेमाख्यानक काव्यों में भी भयानक रस की योजना मिलती है । जायसी ने अपने पद्मावत में 'सात समुद्र खंड' के अंतर्गत 'किलकिला समुद्र खंड' के अंतर्गत किलकिला समुद्र का भयभीत करने वाला वर्णन किया है । यथा—

पुनि किलकिला समुद्र पहुँ आये । गा धीरज देखत डर खाए ।
भा किलकिल अस उठै हिलोरा । जनु अकास टूटै चहुँ ओरा ।
उठै लहरि परबत कं नाई । फिरि आवै जोजन सौ ताई ।
धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा । सकल समुद्र जानहुँ भा ठाढ़ा ।
नीर होइ तर ऊपर सोई । माथे रंभ समुद्र जस होई ।
फिरत समुद्र जोजन सौ ताका । जंसे भँवै कोहँर क चाका ।
भे परलै नियराना जबहीं । मरै जो जब परलै तेहि तबहीं
गँ औसान सबन्ह कर, देखि समुद्र कं बाढ़ि ।

नियर होत जनु लीलै, रहा नैन अस काढ़ि ।

और 'देश यात्रा खंड' में उन्होंने समुद्र में एक राक्षस के रूप-रंग का निम्न वर्णन किया है—

पाँच मूँड़ दस बाहीं ताही । वहि भा सावै लंक जब दाही ।
धुआँ उठै मुख साँस सँघाता । निकसँ आगि कहै जो बाता ।
फँकरे मूँड़ चँवर जनु लाए । निकसि दाँत मुँह बाहर आए ।

देह रीछ कै, रीछ डेराई । देखत विस्ति धाइ जनु खाई ।

राते नैन नियर जो आवा । देखि भयावन सब डर खावा ॥

धरती पायें सरग तिर, जनहुँ सहखाबाहु ।

चाँद सूर और नखत महँ अस देखा जस राहु ।

सूरदास ने अपने सूरसागर में दावाग्नि का बड़ा ही भयंकर दृश्य वर्णन किया है । यथा—

भहरात झहरात दवानल आयो ।

घेरि चहुँ ओर करि सोर अंदोर बन ,

धरनि आकास चहुँ पास छायो ।

बरत बन काँस, थरहरत कुस काँस ,

जरि उड़त हैं बाँस अति प्रबल धायो ।

झपटि झपटत लपट, पटक फल चट चटक ,

फटत लट लटक द्रुम द्रुम नवायो ।

अति अग्नि झार भंभार धुंधार करि ,

उचटि अंगार झंझार छायो ।

बरत बन पात भहरात झहरात ,

अर्रात तरु महा धरणी गिरायो ।

भये बेहाल सब ग्वाल ब्रज बाल तब ,

सरन गोपाल कहि कै पुकारयो ।

तूना केसी सकट बकी बक अघासुर ,

वाम कर राखि गिरि ज्यों उबार्यो ।

मानस में लक्ष्मण के क्रोध के कारण भय की उत्पत्ति तुलसी ने इस प्रकार दिखाई है—

लखन सकोप वचन जब बोले । डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥

सकल लोक सब भूप डराने । सिय हिय हरष जनक सकुचाने ॥

कवितावली में उन्होंने लंका में हनुमान की पूँछ में तेल के पलीते बाँधकर आग लगाने के प्रसंग में उनका क्रुद्धालु रूप दिखाया है जिसने राक्षसों को भयभीत कर दिया था । फिर पवनपुत्र ने सम्पूर्ण हेमलंका में आग लगा कर सबको त्रस्त कर दिया । सुन्दरकांड में यह सब विस्तृत रूप से दृष्टव्य है । यहाँ एक कवित्त पर्याप्त होगा—

लाइ-लाइ आगि, भागे बाल जाल जहाँ तहाँ ,

लघु ह्वं निबुक, गिरि मेह तें विसाल भो ।

कौतुकी कपीस कूदि कनक कँगूरा चढ़ि ,

रावन भवन जाइ ठाढ़ो तेहि काल भो ।

तुलसी विराज्यो व्योम बालधी पसारी भारी ,
 देखे हहरात भट काल तें कराल भो ।
 तेज के निधान मानो कोटिक कृसानु भानु ,
 नख विकराल, मुख तैसो रिस लाल भो ॥

अपने मानस में भक्त कवि ने कुम्भकर्ण के युद्ध का भयपूरित करने वाला चित्र खींचा है—

कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई । जनु टीड़ी गिरि गुहां समाई ।
 कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा । कोटिन्ह मोजि मिलत महि गर्दा ।
 रन मद मत्त निसाचर दर्पा । विस्व ग्रसिहि जनु एहि विधि अर्पा ।
 कुंभकरन कपि फौज विडारी । सुनि धाई रजनीचर धारी ॥

महानाद करि गर्जा कोटि कोटि गहि कीस ।
 महि पटकइ गजराज इव सपथ करइ दससीस ॥

भागो भालु वलीमुख जूथा । बूकु विलोकि जिमि मेष बरूथा ।
 चले भागि कपि भालु भवानी । विकल पुकारत आरत बानी ॥

करि चिक्कार घोर अति धावा बदन पसारि ।

गगन सिद्ध सुर त्रासित हा हा हेति पुकारि ॥

रीतिकालीन कवियों ने प्रसंगानुसार भयानक रस की व्यंजना की है और इस युग के वीर रसात्मक प्रबंधकाव्यकारों ने तो अपने अवसर खोये ही नहीं हैं । सर्वप्रथम केशव की रसिकप्रिया में 'राधिका जू को भयानक रस' देखिये—

भुव मंडल मंडित कै घनघोर उठे दिवि मंडल मंड गटी ।
 घहराति घटा घन बात के संघट घोष घटे न घटी हूँ घटी ।
 दस हूँ दिसि केसव दामिनि देखि लगी प्रिय कामिनि-कंठ-तटी ।
 जनु पंथाहि पाप पुरंदर के वन पावक की लपटे झपटी ॥

तथा 'श्रीकृष्ण को भयानक रस' इस प्रकार दिया है—

रोष में रस के बोल विष तें सरस होत ,
 जानें सो प्रबल पित्त दाखें जिन चाखी हैं ।

केसोदास दुख दीये लायक भयेऽब तुम ,
 आज लगि जाकी जी में आँखें अभिलाखी हें ।

सूधे ह्वं सुधारिबे कौ आए सिखवन मोहि ,
 सूधे हूँ मैं सूधी बातें मों सो उन भाखी हें ।

ऐसे में हौं कैसे जाउँ दुरि हूँ धौं देखौ जाइ ,
 काम की कमान सी चढ़ाइ भौंह राखी हें ॥

श्याम के मथुरा आने पर कंस का सारा सयानापन सियारपन में परिणत

हो गया। इस भय का पता देने वाले हैं अपने 'काव्यनिर्णय' में भिखारीदास। देखिये—

आयी काँह सुनि भूह्यो सकल सायनपॅन ,
 स्यार-पॅन कंस को न कहत सिरात हँ ।
 व्याल बर पूरब चँडूर द्वार ठाढ़े तऊ ,
 भभरि भगाइ भयौ भीतर-ही जात है ।
 दास ऐसी डर-डरी मति है तहाँ-हू ताकी ,
 भरभरी लागी मॅन थरथरी गात है ।
 खरक हूँ के खरकत, धकधकी धरकत ,
 भोंन कोंन मॅ सिकुरत सरकत जात है ॥

भूषण ने निम्न पद्य में शिवा जी के नगाड़ों के घोष की धाक से गोलकुंडा के कुतुबशाह का थरथराना तथा शत्रुओं की छाती-धड़कने का वर्णन किया है।

चकित चकत्ता चौकि चौकि उठे बार बार ,
 दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है ।
 बिलखि बदन बिलखात विजैपुर पति ,
 फिरत फिरंगिनि की नारी फरकति है ।
 थर थर काँपत कुतुबसाह गोलकुंडा ,
 हहरि हबस भूप भीर भरकति है ।
 राजा शिवराज के नगारन की धाक सुनि ,
 केते पादसाहन की छाती दरकति हँ ।

पदमाकर ने अपने जगद्विनोद में भयानक रस के चार उदाहरण दिये हैं जिनमें दो नीचे उद्धृत हैं—

झलकत आवैं झुंड झिलम-झलानि झप्यो ,
 तमकत आवैं तेगवाही औ सिलाही है ।
 कहें पदमाकर त्यों दुंदुभी धुकार सुनि ,
 अकबक बोलैं यों गनीम औ गुनाही है ।
 माधव को लाल काल हू तें बिकराल, दल ,
 साजि धायो ए दई दई धौँ कहा चाही है ।
 कौन को कलेऊ धौँ करैया भयो काल अरु ,
 कापै यों परैया भयो गजब इलाही हँ ॥

तथा

भुवन धुंधुरित्-धूलि धूलि-धुंधुरित सु धूम हू ।
 पदमाकर परतच्छ स्वच्छ लखि परत न भूम हू ।

भगगत अति पर पग मग लगगत अंग-अंगनि ।
 तहें प्रताप पृथिपाल ख्याल खेलत खुलि खगनि ।
 तहें तर्बाहि तोपि तुंगनि तड़पि तेंतड़ान तेगनि तड़कि ।
 धुकि धड़ धड़ धड़ धड़-धड़ा-धड़ धड़धड़ात तद्धा धड़कि ॥

आधुनिक काव्य के प्रवर्तक भारतेंदु ने अपने हरिश्चन्द्र नाटक में श्मशान का बड़ा डरावना वर्णन किया है । यथा—

रुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनि कै नर नारी ।
 फटफटाय दोउ पंख उलूकह रटत पुकारी ।
 अंधकार बस गिरत काक अरु चील करत रव ।
 गिद्ध गरुड़ हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव ।
 रोवत सिआर गरजत नदी स्वान भोंकि डरपावहीं ।
 संग दादुर झींगुर रुदन धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावहीं ॥

नवीन परिपाटियों के पोषक नाथूराम शंकर शर्मा ने वियोगिनी की आह निकल जाने की आशंका पर भय का निम्न ढंग से चित्रण किया है—

शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की ,
 भाप बन अंबर ते ऊँची चढ़ जायगी ।
 दोनों ध्रुव छोरन लों पल में पिघलकर ,
 धूम धूम घरनी धुरी से बढ़ जायगी ।
 झारेंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति ,
 जारेंगे खमंडल में आग मढ़ जायगी ।
 काहूँ विधि विधि की बनावट बचंगी नाहि ,
 जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी ।

और हरिऔध जी ने प्रलय का बड़ा रोमांचकारी चित्र खींचा है—

धँस के धरातल में धँसि जैहैं नाना जीव ,
 ज्वाल माल जगे गेहूँ धूँ धूँ धूँ जरि हैं ।
 परि परि पावक में विपुल पहार पंक्ति ,
 प्रलय पटाका ह्वै प्रचंड रव करि हैं ।
 हरिऔध बार बार भूँ पै बज्रपात ह्वै है ,
 काल पेट दहत भुवन भूरि भरि हैं ।
 काँचे घट तुल्य सारे लोक फूटि फूटि जै हैं ,
 टकराए कोटि कोटि तारे टूटि परि हैं ॥

रत्नाकर जी ने भी श्मशान का बड़ा भयावना वर्णन किया है—

हरहरात इक दिसि पीपर को पेड़ पुरातन ,
 लटकत जामे घंट घने माटी के बासन ।

वर्षा ऋतु के काज और हूँ लगत भयानक ,
सरिता बहति सवेग करारे गिरत अचानक ।
ररत कहूँ मंडूक कहूँ झिल्ली झनकारे ,
काक मंडली कहूँ अमंगल मंत्र उचारें ।
भई आनि तब साँझ घटा आई घिरि कारी ,
सनै सनै सब ओर लगी बाढ़न अधियारी ।
भए एकट्ठे आनि तहाँ डाकिनि पिसाच गन ,
कूदत करत किलोल किलकि दौरत तोरत तन ।
आकृति अति विकराल धरे कुइला से कारे ,
वक्र वदन लघु लाल नयन जुत जीभ निकारे ॥

छायावादी कवियों में प्रसाद ने अपनी कामायनी में मनु के इड़ा की ओर कामवासना से बढ़ने के अतिचार पर लिखा—“भय का विलाप हुआ, पृथ्वी काँपने लगी, अंतरिक्ष में शिव हुंकार उठे, आकाश में दैवी शक्तियाँ क्रोध से तमतमा उठीं, शंकर का भयानक और विनाशक नेत्र खुल गया, सारा नगर व्याकुल हो कर काँपने लगा, प्रजापति के मर्यादा तोड़ने पर देवताओं ने अशिव रूप प्रकट किया, इसी से अजगव पर प्रतिशोध की प्रत्यंचा चढ़ गई ; प्रकृति भयभीत थी, भूतेश्वर ने प्रलय नृत्य हेतु अपने पद को चंचल किया, भौतिक जगत स्वप्नवत् होने वाला प्रतीत हुआ, सब आश्रय प्राप्ति हेतु व्याकुल हो उठे और अपने पाप में संदेह की अवस्था में पड़े हुए मनु पृथ्वी का थर-थर काँपना देखकर इस निश्चय पर पहुँचे कि आज फिर कुछ होने वाला है”—

आलिंगन फिर भय का क्रंदन वसुधा जैसे काँप उठी ,
वह अतिचारी दुर्बल नारी, परित्राण पथ नाप उठी !
अंतरिक्ष में हुआ रुद्र हुंकार भयानक हलचल थी ,
अरे आत्मजा प्रजा ! पाप की परिभाषा बन शाप उठी ।

उधर गगन में क्षुब्ध हुई सब देव शक्तियाँ क्रोध भरी ,
रुद्र नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी ;
अतिचारी था स्वयं प्रजापति, देव अभी शिव बने रहें !
नहीं, इसीसे चढ़ी शिजिनी अजगव पर प्रतिशोध भरी !

प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ ने नृत्य विक्रमियत पद अपना ,
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब होने जाती थी सपना !
आश्रय पाने को सब व्याकुल, स्वयं कलुष में मनु संदिग्ध ;
फिर कुछ होगा यही समझकर वसुधा का थर थर काँपना ।

उपर्युक्त छंदों में प्रसाद ने भय का साम्राज्य स्थित कर दिया है । जो

वांछित विभाव, अनुभाव और संचारियों में पुष्ट होकर भयानक रस की निष्पत्ति करने में क्षम है ।

निराला जी ने अपने 'अपरा' नामक काव्य-संग्रह में असुर संहारक देवी दुर्गा का आवाहन एक रचना में किया है जिसमें संचारी भय से सहायता ली गई है तथा उनकी दूसरी रचना 'नाचे उस पर श्यामा' में भी भयानक रस का परिपाक कराने का प्रयत्न है परन्तु ये दोनों रचनायें अंततः देव-विषयक रति भाव में परिणत हो जाती हैं ।

शांत रस

शांत रस को प्रधान लक्ष्य बनाकर वैदिक तथा संस्कृत में विपुल मात्रा में साहित्य प्रणीत हुआ है । अरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद्, गीता, प्रस्थानत्रयी, भर्तृहरिवैराग्यशतक आदि तथा पुराणों के वे अंश जो चिन् को मायामय संसार से उपराम करने का उपदेश करते हैं सब इसी रस के अन्तर्गत आते हैं । महाभारत को विद्वानों ने शांत रस का ग्रन्थ माना है । धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में शांत रस अंग रूप में यत्र-तत्र प्रसंगानुसार देखा जाता है । नीतिधर्म उपदेशात्मक पालि, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्यों में शांत रस के प्रकरण पर्याप्त मात्रा में सुलभ हैं । अपभ्रंश या गुलेरी जी कथित पुरानी हिन्दी में लिखी सिद्धों की वागियाँ शम भाव प्राप्त कराने में प्रयत्नशील हैं । सिद्ध तिलोपा का निरंजन तत्व दृष्टव्य है जिसमें वे कहते हैं कि मन भगवान् सदृश शून्य है और अहर्निश सहज भाव में रहता है अस्तु जन्म-मरण की मिथ्या भ्रांति में मत पड़ो—

सचल निचल जो सअलाचार । सुण निरंजन म कह विआर ॥
एहु से अप्पा एहु जग जो परिभावइ । निम्मल चित्त सहाव सो कि बुझइ ॥
हँउ जग हँउ बुद्ध हउ निरंजन । हँउ अम निसिआर भव भंजन ॥
मणह भअवा खसम म अवई । दिवाराति सहजे राहीअइ ॥
जम्म मरण मा करहु रे भन्ति । निअ-चिअ तहीं निरंतर होन्ति ॥

हिंदी साहित्य के वीरगाथायुगीन साहित्य में धर्म और अध्यात्म तथा शांत रस की आयोजना का दूसरा ही प्रयोजन है । वे युगीन वीर भावना को सुदृढ़ करके पुष्ट करने तथा स्वामिधर्म हेतु रण में वीरगति प्राप्त करने के लिए प्रकारांतर से आयोजित किये गये हैं । पृथ्वीराजरासो में ही देखिये निम्न स्थलों पर किस प्रकार विराग की प्रबल प्रेरणा की गई है—

कौन मरे जीयें कवन, कोन कहाँ विरमाय ।

प्राणी बपु तरु पंषिया, तरु तजि अन तरु जाय ॥

ज्यों जीरन परधान तजि , नर जन धरत नवीन ।
 यों प्राणी तजि कायपुर , और धरं बपु भीम ॥
 कबहू जीव मरै नहीं , पंच तत्व मिलि भेद ।
 पंचो पंचन में समै , जीव अछेद अभेद ॥
 न मे न वध्यते कर्म , कर्म न बंध प्राप्तिकः ।
 यं कर्म क्रियते प्राणी , सो प्राणी तत्र गच्छति ॥

इन प्राचीन संस्कृत श्लोकों के हिंदी रूपान्तरों का यदि कोई उपयोग उस वीर युग में है तो मात्र यही कि क्षत्रिय इस जीवन का राग छोड़ दे—

धरा सहित नषै सुधर , सीस जाय धर जीय ।

मरन सीस लीनै बहै , कुला क्रम्म षत्रोय ॥

मृत्यु और चौरासी लाख योनियों में भ्रमण का भय दिखाकर यदि कबीर आदि संतों ने मानव से अपने मन को ईश्वरोन्मुख करने की सलाह दी तो जगनिक ने अनुरूप निस्सार भय की चर्चा करके युद्ध में वीरगति प्राप्त कर यशस्वी होने का उत्साह भरा—

मरना मरना या दुनियाँ मा एक दिन मरि जैहैं संसार ।

स्वर्ग मढ़ैया सब काहू कै कोऊ आज मरै कोउ काल ॥

खटिया परि कै जो मरि जैहो कोइ न लैहै नाम अगार ।

चढ़ी अनी पै जो मरि जैहो तो जस रहै देस में छाय ॥

हिंदी साहित्य के स्वर्ण युग अर्थात् भक्तिकाल का मूल स्वर शांत रस का विधायक है। यह संसार मिथ्या है, कर्मनुसार आवागमन का बंधन मिटाओ, सुख और दुःख का अस्तित्व नहीं है, वे उपाय करो कि यहाँ से उद्धार हो—यही संक्षेप में भक्ति युग का संदेश है। जिस विराग तत्व को लक्ष्य करके उपनिषदों में ऋषियों ने आख्यान किये उसी के लिये भक्तिकाल के संतों की वाणी मुखरित हुई। इन निर्गुण संतों ने आत्मा-परमात्मा में कोई भेद नहीं देखा—

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी ।

फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कथयो ज्ञानी ॥

तथा चारों ओर ब्रह्म तत्व रूपी जल में पोषित नलिनी रूपी जीवन क्यों व्याकुल और विक्षुब्ध है—

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी ।

तेरे हि नाल सरोवर पानी ।

जल में उतपति जल में वास ।

जल में नलिनी तोर निवास ।

ना तल तपति न ऊपर आग , तोर हेत कहू का सनि लाग ।

कह कबीर जे उदिक समान , ते नहि मुए हमारे जान ॥

ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होने पर जीव ब्रह्म ही हो जाता है—उपनिषदों के 'तत्त्वमसि' अथवा 'सोहं' भाव का यही रहस्य है—

तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ ।

बारी फेरी बलि गई, जित देखों तित तू ॥

यह प्रेम तत्व सरलता से नहीं प्राप्त हो सकता, व्यक्तिगत साधना ही इसका मार्ग है जिसमें पूर्ण आत्मोत्सर्ग अभिप्रेत है—

कबीर भाटी कलाल की, बहुतक बैठे आइ ।

सिर सौपे सोई पिये, नहिं तौ पिया न जाइ ॥

इस सुरा के पान से तन-मन की सुधि जीवन पर्यंत भूल जाती है—

हरि रस पोया जानिये, कबहुं न जाय खुमार ।

ममंता घूमत रहे, नाहीं तन की सार ॥

सूफी संतों ने लौकिक प्रेम कथाओं के आश्रय से भटकी हुई जीवात्मा को परमात्मा से मिलन का मार्ग बताया है । और इन सरस कथाओं के बीच-बीच में संयोग और वियोग के चित्र खींचते हुए लौकिक दम्पति के प्रेमादर्श को अलौकिक संयोग सुख में अथवा वियोग व्यथा में मार्मिकता से चरितार्थ किया है । देखिये—

हाड़ भए सब किंगरी । नसं भई सब ताँति ॥

रोम रोम से धुनि उठै । कहौं बिथा केहि भाँति ॥

जायसी ने अपने हृदय के प्रेम की पीर की अभिव्यक्ति पदमावत की कथा लिखकर की जिसकी धारा के बीच-बीच में अलौकिक सत्ता के संकेत भी किये और अंत में सारे रहस्य का उद्घाटन कर दिया—

चौदह भुवन जो तर उपराहीं । ते सब मानुष के घट माहीं ॥

तन चितउर मन राजा कीन्हा । हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा ॥

गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा । बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ॥

नागमती यह दुनियाँ धंधा । बाँचा सोइ न एहि चित बंधा ॥

राघव दूत सोई संतानू । माया अलाउदों सुलतानू ॥

प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु । बूझि लेहु जो बूझे पारहु ॥

उस अखिल विश्व के स्वामी के नाम से साधक का हृदय पूर गया और काया भर गई तथा स्थान न रह गया कि कोई दूसरा आ सकता—

साईं केरा नाँव, हिया पूर काया भरी ।

मुहम्मद रहा न ठाँव, दूसर कोइ न समाइ अब ॥

ये तो नमूने हैं निर्गुणोपासकों के जिनके अखंड सत्य की ललकार एवं ईश्वर-प्रेम की पीड़ा सद्-असद् विवेक जाग्रत कर आज भी संसार के क्रियाकलापों से वीतराग बनाने की एवं मन को शम स्थिति में लाने की सामर्थ्य रखती है ।

“हौं तौ सब पतितन कौ टीकौ” आदि पदों के मिस अपना दैन्य तथा अकिंचनता प्रकट करने वाले चक्षुविहीन भक्त कवि और गायक सूर ने अपने परमाराध्य नटनागर कृष्ण के प्रति राधा एवं अन्य किसी सखी भाव से जिस अनन्यता के साथ भावों का तादात्म्य कराया है तथा लीलागान किया है वह सभी को विभोर करता है। चकई रूपी मन को वे उस चरण-सरोवर की ओर चलने को प्रेरित करते हैं जहाँ प्रेम में वियोग का दुःख नहीं उठाना पड़ता—

चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग ।
जहँ भ्रम निसा होति नहि कबहूँ सोइ सायर सुख जोग ।
जहाँ सनक सिव-हंस मोन-मुनि नख-रवि प्रभा प्रकास ।
प्रफुलित कमल निमिष नहि ससि डर गुंजत निगम सुवास ।
जिहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल मुकृत अमृत रस पीजै ।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम इहाँ कहा रहि कीजै ।
लछिमी सहित होत नित श्रीड़ा सोभित सूरजदास ।
अब न सुहात विषय रस छीलर वा समुद्र की आस ॥

सत्य ही है इस सरोवर की प्राप्ति हो जाने पर विषयरसरूपी छिछले गढ़ों का जल कैसे प्रिय हो सकता है।

भक्तों की वाणियों में हम भले ही संयोग-वियोग के उभय पक्षों वाले शृंगार तथा अन्य रसों से साक्षात् कर लें उसका उद्देश्य भगवान की भक्ति है और फल शम भाव को प्राप्त हुए मन में निर्वेद का उद्रेक है।

मर्यादापुरुषोत्तम राम के अन्यतम उपासक तुलसी का मानस एवं अन्य ग्रंथ जहाँ राम के गुणों का प्रसार करके समाज की उच्छृंखलता को रोकने में समर्थ हैं वहाँ राम के प्रति श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न करके संसार की जड़ता तथा निस्सारता से विमुख करने की शक्ति भी रखते हैं। विनयपत्रिका के निम्न पद में अद्भुत तथा शांत दोनों मिश्रित हैं—

केसव, कहि न जाइ का कहिये ।
देखत अति रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिये ।
सून्य भीति पर चित्र रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे ।
धोये मिटै न मरे भीति, दुख पाइय इहि तनु हेरे ।
रवि कर नीर बसँ अति दारुण मकर रूप तेहि माहीं ।
वदन हीन सो ग्रसँ चराचर पान करन जे जाहीं ।
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै ।
तुलसिदास परिहरै तोनि भ्रम सोइ आपन पहिचानै ॥

मन को संबोधित करते हुए वे कहते हैं कि संसार के परम स्वामी (राम)

से हे जड़ ! अनुराग जगा तथा हृदय से दुराशा को त्याग दे क्योंकि कामाग्नि विषय भोग रूपी घृत की आहुति से नहीं बुझाई जा सकती—

अब नार्थाह अनुराग जागु जड़, त्याग दुरासा जी ते ।

बुझं न काम अग्नि तुलसी कहूँ, विषय भोग बहु घी ते ।

यह शरीर पानी का बुलबुला है। मिटते देर न लगेगी। खाना, पीना, सोना, कौन नहीं जानता ? परन्तु इसी दिनचर्या में नर-देह की सार्थकता नहीं है—

काज कहा नर तनु धरि सार्यो ?

पर उपकार सार स्मृति को जो, सो धोखेहु न विचार्यो ।

भक्ति काल की रचनाओं ने ही हिंदी में आचार्यों को भक्ति रस को अन्य रसों से पृथक् विवेचित करने की प्रेरणा दी है। वैसे यह कोई नवीन आविष्कार नहीं है। शृंगार रस के अंतर्गत परमात्मा के प्रति प्रीति को 'भाव' नाम से प्रतिष्ठित किया गया है तथा पुत्रों आदि के प्रति प्रीति को वात्सल्य कहा गया है। भक्तों की कृतियाँ चाहे शृंगार रस के अंतर्गत निरूपित हों और चाहे भक्ति रस के अंतर्गत उनका परिणाम चित्त को शमित कर निर्वेद की भावना जगाकर आराध्य के प्रति आमुख करना है, यह निर्विवाद है।

रीतियुग का लक्ष्य प्रमुखतः रति-विलास की ओर अग्रसर होने वाली भावना की पूर्ति है अस्तु वहाँ शृंगार रस की मीमांसा में संभोग में किसी-किसी ने संचारी निर्वेद का तो प्रयोग किया है परन्तु स्थायी निर्वेद के लिये नूतन है और न अवसर। उन कवियों ने जिन्होंने समस्त रसों का विवेचन किया है शांत रस के लक्षण व उदाहरण दिये हैं। केशव ने कविप्रिया में निम्न उदाहरण दिया है—

देहगो जीवन वृत्ति वहे प्रभु, है सिगरे जग कौं जिहि दैयँ ।

आवत ज्यों अन उद्यम तें दुख त्यों सुख पूरब के कृत पयँ ।

राजा औ रंक सुराज करौ सब काहे कौं केसव काहू डरै यँ ।

मारनहार रु राखनहार सु तौ सबके सिर ऊपर हैयँ ॥

तथा पद्माकर रचित निम्न दो छंद भी अवलोकनीय हैं—

बैठि सदा सतसंगहि में विष मानि विषं रस कीर्ति सदाहीं ।

त्यों पद्माकर झूठ जितो जग जानि सुज्ञानहि के अवगाहीं ।

नाक की नोक में डीठि दिये नित चाहै न चीज कहूँ चित चाहौं ।

संतत संत सिरोमनि हे धन है धन वे जन बेपरवाहीं ॥

तथा

वन बितान रवि ससि दिया, फल भल सलिल प्रवाह ।

अवनि सेज पंखा पवन, अब न कछू परवाह ॥

कविवर ब्रजेश महापात्र का भी एक छंद विचारणीय है जिसमें निर्वेद संचारी तो है ही परन्तु वह स्थायी की सीमा भी दूर तक स्पर्श कर आया है—

वाहन वाजि के वृंद व्रजेश गयंद खरे के खरे रहि जायेंगे ।
भोजन भाजन भूषन भौन भंडार भरे के भरे रहि जायेंगे ।
अंत समय कफ़ वात तें ग्रासित बँन गरे के गरे रहि जायेंगे ।
पीनस पालकि पालने पाल पलंग परे के परे रहि जायेंगे ॥

हिंदी के आधुनिक काल या भारतेंदु काल से यदि भारतीय जन-जागरण का काल माना जाय तथा देश की स्वतंत्रता हेतु नवीन प्रणाली से राष्ट्रोद्धार की इच्छा से किये गये उद्योगों पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हो जावेगा कि जागृति की इस नवीन लहर में शांत रस और उसके स्थायी भाव निर्वेद की आवश्यकता देश को नहीं थी ।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का प्रयोजन विशेष है । साकेत और यशोधरा पुरातनयुगीन उपेक्षिता उमिला व यशोधरा को लक्ष्य करके प्रणीत हुए हैं । भगवान् बुद्ध चिरशान्ति के प्रतीक हैं और गोपा का राहुल को उन्हें समर्पण कर स्वयं भी संघ की दीक्षा-ग्रहण शान्त रस प्रसूत करता है—

तुम भिक्षुक बन कर आये थे , गोपा क्या देती स्वामी ?

था अनुरूप एक राहुल ही , रहे सदा यह अनुगामी ?

मेरे दुख में भरा विद्रुमुख , क्यों न भरूँ फिर में हामी ।

बुद्ध शरणं , धर्म शरणं , संघं शरणं गच्छामिऽ ।

प्रयोगवादी कवियों ने जहाँ साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में मौलिकता से नूतनता लाने का प्रयास किया तथा हूबहू चित्र खींचने की सामर्थ्य दिखाई वहाँ कभी जीवन में निराशा के कारण और कभी जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर निर्वेद को विशेष ढंग से प्रस्तुत किया है । भारत भूषण अग्रवाल लिखित निम्न पंक्तियाँ देखिये—

ये ऊषा से होठ , निशा सी घन अलकें ,

ये प्रभात से गाल , चकित मृग से लोचन ।

सावन सी मुसकान वसंती बोल मधुर ,

बरबस बाँधा हुआ दुपहरी सा यौवन ।

बालों पर, गालों पर, अधरों, नयनों पर ,

यौवन पर मुसकानों पर मधु वयनों पर ।

लपटों का होता आया अधिकार सदा ,

इसीलिये तुम इनसे प्यार नहीं करना ।

काया पर है माटी का अधिकार सदा ,

इसीलिये इससे तुम प्यार नहीं करना ।

—(सागर के सीप)

शैशव से युवा और जरा तथा मृत्यु का चित्र खींचते भारतभूषण अपनी

एक दूसरी कविता में जीवात्मा रूपी दुलहिन को प्रियतम परमात्मा की नगरी की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देते हैं। अलौकिक विप्रलम्भ शृंगार तो है ही प्रकारांतर से संचारी निर्वेद भी—

जब मुंद जाये सृष्टि नयन में, खिंचे प्राण की डोर,
बाहर आने को हो जब साँसों का अंतिम छोर।
तन पिंजरे के अस्थि सीखचे टूट टूट गिर जायें,
तोड़ शिराओं के बन्धन जब प्राण अधर पर आयें !
जब प्रियतम के द्वारे गिर जाये शरीर वेदम।
तब निर्भय हो बढ़ जाना तुम केवल एक कदम !
बढ़ चल मेरी चाह पिया की नगरी चार कदम !

इसी प्रकार के इनके और कई गीत हैं यथा—

१. पंथ हैं हजारों एक पिया की नगरिया।
२. जग री सूतल नार पिया घर जाना है री।
३. रूप का संसार है ये !
- धूप का त्यौहार है ये !!

मुनि बुद्धिमल की निम्न पंक्तियों की जिज्ञासा की प्रशमिति भी शांत में है—

जन्म-रम्य-आवेष्ठन-वेष्ठित दुःखों का उपहार।
मरण-महाकारा का सहज अयाचित मुक्ति द्वार,
एक ; चित्र सा चित्रित, नाना वर्णों से संयुक्त।
इतर ; भाव सा गहन बना है सब आकार वियुक्त,
मूक प्रश्न यह, पता न इसकी है समाधि किस ओर !
जन्म मरण हैं इस मायावी जीवन के दो छोर।

—मन्थन

वात्सल्य रस

हिन्दी साहित्य में वात्सल्य रस को स्वतंत्र रस रूप में प्रतिष्ठा का पद प्रदान करने वाली रचनायें प्रमुखतः सूर और तुलसी की हैं, जिन्होंने अपने आराध्य क्रमशः कृष्ण और राम की बाल-लीलाओं का ललित गान किया था। सूरदास के दो पद देखिये—

मैया कबहिं बढ़ंगी चोटी।
कित्ती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वं है लांबी मोटी।
काढ़त गुहृत न्हावत पोंछत नागिन सी भुईं लोटी।

काचो दूध पियावति पचि पचि वेति न माखन रोटी ।
सूरस्याम चिरजिव बोऊ भैया हरि हलधर की जोटी ॥

तथा—

मैया में नाहीं बधि लायो ।
खेल परे ये सखा सब मिलि मेरे मुख लपटायो ।
देखि तुही सीके पर भाजन ऊँचे धरि लटकायो ।
तुही निरखि नाहें कर अपने में कैसे करि पायो ।
मुख बधि पोंछि कहत नंदनंदन बोना पीठ दुरायो ।
डारि साँटि मुसुकाइ तबहिं गहि सुत कों कंठ लगायो ।
बाल विनोद मोद मन मोह्यो भक्त प्रताप दिखायो ।
सूरदास प्रभु जसुमति को मुख, सिव विरंचि नाहि पायो ॥

इन पदों में बाल-प्रकृति के चित्रण के आलंबन से वात्सल्य रस परिपुष्ट हुआ है ।

तुलसीदास जी ने राम की बाल-लीलाओं का उत्कृष्ट वर्णन किया है और उसके सहारे वात्सल्य भाव की पुष्टि की है—

कबहूँ ससि मांगत आरि करे कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरे ।
कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत मातु सब मन मोद भरे ।
कबहूँ रिसियाय कहें हठि कै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरे ।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिर में बिहरे ॥

तथा—

तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताई हरें ।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे छवि भूरि अनंग की दूरि करें ।
दमकें दतियाँ दुति दामिनि ज्यों किलकें कल बाल विनोद करें ।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिर में बिहरे ॥

तथा—

धूलि-धूसरित श्याम शरीर वाले राम जब किलककर अपने दूध के दो दांत
ब्या चमका देते हैं मानों बिजली कौंध जाती है—

वर दंत की पंगति कुंद कली अधराधर पल्लव खोलन की ।
चपला चमकें घन बीच जगै छबि मोतिन माल अमोलन की ।
धुंधराली लटें लटकें मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की ।
निउछावरि प्रान करें तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलन की ॥

तुलसी ने राम के घुंघराले केशों, ललित चपल कुंडलों और मधुर तोतले वचनों पर अपने प्राण ही न्यौछावर कर दिये हैं ।

राम की बालक्रीड़ा के प्रसंग में मानस का निम्न स्थल भी दृष्टव्य है—

कौसल्या जब 'बोलन जाई । ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहि पराई ।

निगम नेति सिव अंत न पावा । ताहि धरें जननी हँसि धावा ।

धूसर धूरि भरें तनु आए । भूपति विहँसि गोद बैठाए ।

भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाइ ।

भाजि चले मिलकत मुख दधि ओदन लपटाइ ।

रसखान ने भी बालकृष्ण के वात्सल्य संबंधी कई अच्छे चित्रण किये हैं । एक यथेष्ट होगा—

धूरि भरै अति शोभित श्याम जू कैसी बनी सिर सुंदर चोटी ।

खेलत खात फिरें अंगना पग पेजनी बाजत पीली कछौटा ।

वा छबि कौ रसखानि विलोकत वारत काम कला निज कोटी ।

काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी ॥

मैथलीशरण गुप्त जी ने अपनी यशोधरा में राहुल-जननी और राहुल के वार्तालाप के अधिकांश प्रसंग वात्सल्य रस में ही अभिव्यंजित किये हैं । देखिये—

किलक अरे मैं नेक निहारूँ ;

इन दाँतों पर मोती वारूँ ।

पानी भर आया फूलों के मुँह में आज सवेरे ,

हाँ, गोपा का दूध जमा है राहुल ! मुख में तेरे ।

लपटत चरण, चाल अटपट-सो मनभाई है मेरे ,

तू मेरी अँगुली धर अथवा मैं तेरा कर धारूँ ?

इन दाँतों पर मोती वारूँ ।

तथा—

सो , अपने चंचलपन, सो !

सो , मेरे अंचल धन, सो !

पुष्कर सोता है निज सर में ,

भ्रमर सो रहा है पुष्कर में ,

गुंजन सोया कभी भ्रमर में ;

सो , मेरे गृह गुंजन, सो ।

सो , मेरे अंचल धन, सो !

तथा—

तेरे बैतालिक गाते हैं ,

स्वस्ति लिये ब्राह्मण आते हैं ,

गोप दुग्ध भाजन लाते हैं ,

ऊपर झलक रहा है ज्ञाग ।

जाग दुःखिनी के सुख, जाग ।

मेरे बेटा, भैया, राजा ,
उठ मेरी गोदी में आजा ,
भौरा नचे, बजे हाँ बाजा ;
सजे श्याम हय या सित नाग ?
जाग, दुःखिनी के सुख, जाग ।

भक्ति रस

भक्ति वैसा ही स्थायी भाव है जैसे कि रति, क्रोध, हास्य, करुण, निर्वेद आदि हैं और कहना गलत न होगा कि वह अनेक भावों की आधारशिला है । भक्ति सम्बन्धी धारा हिंदी साहित्य में नवीन नहीं है वरन् उस पुण्यतोया भागीरथी के दर्शन पुरातनयुगीन साहित्य से ही लगभग सर्वत्र होते हैं । परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिंदी युग में यह धारा प्रखर वेग से उमड़कर प्रवाहित हुई और प्राचीन आदर्शों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करते हुए इसकी निम्न नौ शाखायें भवतो की विभिन्न वृत्तियों का अवगाहन कराने में समर्थ हुई—

श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्म निवेदनम् ॥

—भागवतपुराण ।

भक्त भगवान् से निर्वाण प्राप्ति की अभिलाषा नहीं रखता वह तो उनके लोक का वासी होकर निरन्तर उनकी लीला के दर्शन में तल्लीन रहना चाहता है । मानस के उत्तरकांड में तुलसी ने कागभुमुण्ड और वैनतेय के वार्तालाप में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की सरलता, महत्ता और श्रेष्ठता प्रतिपादित की है—

भगतिहीन गुन सब सुख ऐसे । लवन बिना बहु विजन जैसे ॥
भ्यान के पंथ कृपान के धारा । परत खगेस होइ नहि वारा ॥
जो निविघ्न पंथ निर्बहई । सो कैवल्य परमपद लहई ॥
अति दुर्लभ कैवल्य परम पद । संत पुरान निगम आगम बद ॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं । अन इच्छित आवइ बरिआई ॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई । कोटि भाँति कोउ करै उपाई ॥
तथा मोच्छ सुख मुनु खगराई । रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ॥
अस विचारि हरि भगत सयाने । मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा । संसृति मूल अविद्या नासा ॥

तुलसी ने पहले तो प्रत्येक क्षेत्र में आदर्श स्थापित करते हुए राम के लोकोत्तर रक्षक और मर्यादावादी परमभागवत् रूप की प्रतिष्ठा की तदुपरांत उनके प्रति तन्मयकारिणी भक्ति का प्रतिपादन किया । ऋषिवर वाल्मीकि के उपरान्त भगवान् राम और उनके नाम का तुलसी सदृश दूसरा अनन्य

और निष्ठावान भक्ति का प्रचारक नहीं हुआ । दास्य भाव की तन्मयता मे की गई आराधना हृदय की वह प्रबल और मार्मिक पुकार है जो आज भी उपासना पद्धति मे भक्ति का पलड़ा भारी करके अपनी ओर बरबस आकर्षित करती है । मानस के पाठक परिचित है कि तुलसी की वाणी मे आत्मविभोर करने वाली भावुकता मात्र ही नहीं है वरन् उसे विशद और निरुत्तर करने वाला तर्कजाल भी है जो बुद्धिवादियों को अपने साये मे समेट लेने की क्षमता रखता है । उत्तरकांड मे राम की कथा के श्रोता और वक्ता कागभुशुड और गरुड रखे गये हैं । इसे साभिप्राय आयोजित किया गया है । तुलसी जहाँ एक ओर “समुझ खग खग ही की भाषा” कहकर मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का परिचय देते हुए विनोद की उत्पत्ति करते हैं वहाँ अनायास ही और अचिंत्य रूप से वे कागभुशुड के पूर्व जन्मो मे उनके मानव-शरीर के आख्यानो के माध्यम से एव उनके काग-शरीर से की गई राम की अनन्य उपासना के मिस श्रोता और पाठक के अन्तःकरण पर ‘सब सुख खानि भगति’ की अमिट और दृढ़ छाप डालते चलते हैं । कागभुशुड की अमित महिमा की योजना भी भली-भाँति सोच विचार कर की गई है । दैवता और ऋषि भी उन्हें राम का भक्त जानकर उनके पास विविध पक्षियों का रूप धारण करके राम की कथा सुनने पहुँचते हैं । अपने अन्य कुशल प्रयासो के अतिरिक्त दस उद्योग से भी भक्त कवि तुलसी ‘सब भाँति अपावन’ और ‘शकुनाधम’ कागराज के दृष्टांत द्वारा मानव को राम का भक्त बना डालने के प्रयोग मे निःसशय सफल हो जाते हैं ।

भक्तो की वाणी मे वह सामर्थ्य ही नहीं वह जादू है जो भक्ति के देश मे आने वाले पापी-शापी सबका मुक्तहस्त उद्धार करने की उन्मुक्त घोषणा के बल से समन्वित है । ससार को रूलाने वाले रावण और उसके साथियों का सहार करके विश्व मे शांति और मौख्य का साम्राज्य कायम करने वाले जिन राम के चरणो की धूलि पाषाणमयी अहिल्या का उद्धार कर गई, कस और कालनेमि सदृश परस्वहर्ता आततायियों का वध करने वाले कृष्ण के नाम का स्मरण करने पर द्रोपदी का चीर बढ़ाकर उसकी लज्जा की रक्षा जब हो गई तब राम और कृष्ण के पतितपावन नाम का सहारा जन क्यो न ले । उन राम और कृष्ण की अमित-अगाध महिमा के अविश्रांत गायक तुलसी और सूर की अमर भारती मानव-मन को वाञ्छित दिशा मे प्रेरित करने मे क्षम है ।

लोक मे जब हम किसी लौकिक पुरुष का गुणानुवाद सुनते हैं तो अपने को उसके समकक्ष न पाकर हम उसके प्रति साधारणतः ही श्रद्धा करने लगते हैं और अवसर निकालकर उसका सम्पर्क प्राप्त करने के आकांक्षी बन जाते हैं, तब भाँति-भाँति की दुर्बलताओ से ओतप्रोत, अनिश्चितताओ से घिरा और बिडबनाओ से पीड़ित मानव जब गोपीजनवल्लभ कन्हैया की अमोघ शक्ति एवं

उनके दृढ़ता, साहस और शौर्य-पराक्रम बढ़ाने वाले अलौकिक कृत्यों को सूर सदृश समर्थ भक्त कवियों के मुख से अपने उद्धार हेतु विनय भरी अनुनय करता पाता है तो वह अनिवर्चनीय संतोष और शांति से भरकर उस कान्हा के समक्ष अपने प्रायश्चित्तपूर्ण हृदय से अपने त्राण हेतु भक्त बनकर आर्तभाव से स्वभावतः ही पुकार उठता है। अपनी दीनता का स्पष्टीकरण करते हुए तथा साहसपूर्वक अपने उबारने की प्रार्थना करने वाले सूर का निम्न पद देखिये—

प्रभु में सब पतितन को टोकौ ।

और पतित सब दिवस चारि के में तौ जन्मत ही कौ ॥१॥

बधिक अजामिल, गनिका त्यारी और पूतना ही कौ ।

मोहि छाड़ि तुम ओर उधारें मिटै शूल केसैं जी कौ ॥२॥

कोउ न समरथ सेव करन को खेचि कहत हौं लीकौ ।

मरियत लाज सूर पतितन में कहत सबन में नीकौ ॥३॥

वीरगाथा काल में विविध देवी-देवताओं की उपासना की सूचना तत्कालीन संस्कृत, अपभ्रंश और हिंदी साहित्य से प्राप्त होती है तथा विष्णु और शंकर की मूर्तियों की स्थापना तथा मंदिरों का निर्माण उस समय के शिलालेखों एवं ताम्रपत्रों से लगता है, जिन सबका विधायक शासकवर्ग है परंतु इस निष्ठाभरी भक्ति की उस शौर्य-युग में एक ही पुकार है और वह है प्रतिपक्षी की पराजय और स्वामिधर्म हेतु आत्माहुति। मृत्यु के उपरान्त यदि चिर यौवना अप्सराओं की प्राप्ति और विविध लोकों में निवास सुनिश्चित किया गया है तो वह रणक्षेत्र में वीरगति प्राप्त होने वालों के लिये ही।

निराकार की साधना करने वाले निर्गुण संत और प्रेममार्गी सूफियों के पंथों में यदि सांसारिक बखेड़ों को त्याग कर, माया-मोह के बंधनों को काट कर तथा अपने में और उस परब्रह्म में अभेद भाव मानकर मोक्ष-प्राप्ति की प्रेरणा है तो चित्त को सब ओर से हटाकर दिशा विशेष में निग्रह करना उस भावभूमि में भक्ति (devotion) के सहारे ही संभव हुआ है। निश्चल मन से जब निर्गुणोपासक संत अपने प्रबल तर्क जाल से सहारा लेते हुए संसार की असारता दिखाकर दुर्लभ मानव जीवन पाकर, उसके माध्यम से आवागमन के फेरे सदा के लिए काट देने की प्रेरणा देते हैं तब उसे सुनकर कौन प्रभावित नहीं होता। इसी प्रकार प्रेम की पीड़ा जगाने वाले सूफी संत जब लौकिक कथा के मिस अलौकिक ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग-दर्शन कराते हैं तब जन-जन उससे अभिभूत हो उधर चलने के लिये व्यग्र हो जाता है। परन्तु यह निःसंदेह सत्य है कि निराकारोपासकों की वाणियों की अपेक्षा सगुणोपासकों का प्रभाव भारतीय जनता पर आनुपातिक रूप से अधिक और स्थायी पड़ा है।

यौवनोन्माद की समाप्ति और जरावस्था के आगमन पर संसार से विराग

और परमात्मा के प्रति निष्ठा स्वाभाविक है। राधा-माधव के बहाने गहरे श्रृंगार के चित्र खींचने वाले विद्यापति ने भक्ति की प्रगाढ़ता में भर कृष्ण और शिव की जो सस्तुतियाँ की हैं वे अत्यंत ही मर्मस्पर्शिन हैं क्योंकि उनमें हमें प्रायश्चित और निवेदन का सच्चा स्वर मिलता है। आचार्य केशव ने राम-काव्य भी लिखा और कृष्ण-काव्य भी परन्तु कृष्ण को लेकर ही उन्होंने रस और अलंकार शास्त्र प्रणीत किये। केशव की रामचंद्रिका भी भक्ति के स्थान पर पांडित्य-प्रदर्शन से प्रेरित होकर लिखी गई है। यदि श्वेत केशो वाली जनश्रुति ठीक है तो दरबारी कवि की रसिकता को वृद्धावस्था में युवतियों द्वारा बाबा सबोधन पर अवश्य आघात पहुँचा था। आचार्य भिखारीदास ने अपने काव्य में भक्ति का इस प्रकार स्मरण किया 'आगे के कवि रीझि हे तो कविताई न तो राधा माधव के सुमिरन को बहानी है'।

रीतिकालीन श्रृंगारी कवियों ने राधा और कृष्ण के नाम से रचनाएँ करते हुए भक्ति का वैसा ही ढक्कोसला रचा है जैसे कोई एक चषक वारुणी में एक बूंद गगाजल डालकर उसे धर्मपूत जल घोषित करके पान करे। इस युग के घनआनन्द प्रभृति भक्त कवियों की रचनाएँ अवश्य विचारणीय हैं जिन्होंने राधा और कृष्ण के प्रेम की गहराई को वक्रोक्ति आदि के माध्यम से अभिव्यक्त करते हुए उसका प्राजल, दिव्य और हृदयस्पर्शी रूप प्रस्तुत किया है। घनआनन्द का निम्न सवैया इस वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने के लिए उचित होगा—

पूरन प्रेम को मंत्र महा पन जा मधि सोधि सुधार हे लेख्यो ।
ताही के चारु चरित्र विचित्रनि यो पचि कै रचि राखि विसेख्यो ॥
ऐसो हियो-हित-पत्र पवित्र जो आन कथा न कहूँ अवरेख्यो ।
सो घन-आनन्द जान अजान लौं टूक कियौ, पर बाँचि न देख्यो ॥

आधुनिक युग में भारतेन्दु ने भक्तिभाव से ओतप्रोत अनेक पद, सवैयाएँ और कवित्त लिखे हैं। उदाहरणस्वरूप निम्न छंद दृष्टव्य है—

१ हम तो मोल लिये या घर के ।

दास दास श्री बल्लभ कुल के चाकर राधावर के ।

माता श्री राधिका पिता हरि बंधु दास गुन करके ।

हरीचंद तुमरे ही कहावत, नहिं विधि के नहिं हरि के ।

२. काले परे कोस चलि चलि थक गये पाव

सुख के कसाले परे ताले परे नस के ।

रोय रोय नैनन में हाले परे जाले परे

मदन के पाले परे प्रान पर-बस के ।

हरीचंद अंगहू हवाले परे रोगन के
 सोगन के भाले परे तन बल खसके ।
 पगन में छाले परे नाँधिबे को नाले परे
 तऊ लाल लाले परे राखरे दरस के ॥

३. मारग प्रेम को को समुझै हरिचंद यथारथ होत यथा है ।
 लाभ कछू न पुकारन में बबनाम ही होत की सारी कथा है ।
 जानत है जिय मेरो भली विधि और उपाय सब बिरथा है ।
 बावरे है वृज के सगरे मोहि नाहक पूछत कौन विथा है ॥

परवर्ती कवियों में सत्यनारायण कविरत्न का 'भ्रमरदूत' सूर और नंददाम के भ्रमरगीतों के ढंग का है । राष्ट्रीय कवि मथिलीशरण गुप्त ने एक ओर जहाँ भारत-भारती, जयद्रथ-वध काव्य प्रणीत किये वहाँ दूसरी ओर वैष्णव कवि ने 'साकेत' सदृश काव्य रचा जिसमें उर्मिला को महत्ता प्रदान करने के अनिरिक्त भक्ति-भावना भी मुखरित है जो निम्न दो पंक्तियों से ही स्पष्ट हो जाती है—

राम, तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है ,
 कोई कवि बन जाय सहज सम्भाष्य है ।

आधुनिक काल में हिंदी के धार्मिक मासिक पत्रों 'कल्याण' आदि में भक्ति सम्बन्धी पद और रचनायें निकलती रहती हैं परन्तु आज सांसारिकता का दावा करने वाले युग की पुकार धर्म, आत्मा-परमात्मा, मंदिर-मूर्तियाँ नहीं वरन् रोटी, कपड़ा, मकान तथा दैनंदिन की आवश्यकतायें हैं । वैसे यह सत्य भुलाया नहीं जा सकता है कि भक्ति की सरिता हिंदी साहित्य में आदि से अन्त तक कभी मंथर, कभी मंद और कभी क्षिप्र गति से प्रवहमान दिखाई देती रही है ।

अलंकार

‘अलङ्करोतीति अलंकारः’ अर्थात् शोभा बढ़ाने वाले पदार्थ को अलंकार कहते हैं। जिस प्रकार स्वर्ण निर्मित रत्नजटित आभूषण शरीर को अलंकृत करने के कारण अलंकार कहे जाते हैं उसी प्रकार काव्य को शब्द और अर्थ की चमत्कारक रचना द्वारा जो अलंकृत करते हैं उन्हें साहित्य-शास्त्र में अलंकार कहते हैं। अलंकार काव्य के बाहरी शोभाकारक धर्म हैं अतएव इन्हें अलंकार (आभूषण) संज्ञा दी गई है।

आचार्य दंडी ने अपने काव्यादर्श (२।१) में कहा है कि काव्य को अलंकृत करने वाले शब्दार्थ की रचना को अलंकार कहते हैं। आचार्य वामन (काव्य-अलंकार ३।१) ने गुणों को काव्य के शोभाकारक धर्म बतलाते हैं परंतु दंडी अलंकारों को। आचार्य मम्मट ने (काव्यप्रकाश) में गुणों और अलंकारों को अलग करके गुणों को काव्य का साक्षात् धर्म और अलंकारों को काव्य का अंगभूत शब्द और अर्थ का शोभाकारक धर्म कहकर स्पष्ट किया है। काव्य की आत्मा रस है और काव्य शब्द तथा अर्थ के आश्रित है। अतएव अलंकारों को काव्य का उत्कर्षक मानने में किसे आपत्ति हो सकती है।

आचार्य भामह ने (भामह काव्यालंकार १।३६ और २।३५ में) शब्दार्थ वैचित्र्य को वक्रोक्ति संज्ञा दी है। और इस वक्रोक्ति को ही सम्पूर्ण अलंकारों में व्यापक बतलाते हुए उसे उसका एक मात्र आश्रय माना है। आचार्य दंडी ने (काव्यादर्श २।२२० में) इस उक्ति वैचित्र्य को ‘अतिशयोक्ति’ संज्ञा देते हुए उसे सारे अलंकारों का आश्रय कहा है। श्री आभनवगुप्ताचार्य ने (ध्वन्या-लोकलोचन, पृ० २०९) में भामह की वक्रोक्ति और दंडी की अतिशयोक्ति के

विषय में लिखा है कि लोकोत्तर अतिशय से कहना ही उक्ति वैचित्र्य है। अतएव किसी वक्तव्य को लोगों की साधारण बोलचाल से भिन्न शैली द्वारा अनूठे ढंग में चमत्कारपूर्ण वर्णन करने को ही काव्य का अलंकरण कहा जाता है।

जिस प्रकार शरीर में प्राण की आवश्यकता है उसी प्रकार काव्य में रस की। 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है। यह सत्य है कि जिस प्रकार सौन्दर्यमयी रमणी का सौन्दर्य ही यथेष्ट होता है उसे अलंकारों की अपेक्षा नहीं उसी प्रकार काव्य को भी भाव (रस) के अतिरिक्त अलंकारों की आवश्यकता नहीं है किन्तु इसमें संशय नहीं कि जिस प्रकार रत्नजटित अलंकार सुन्दरी के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देते हैं उसी प्रकार रसरूपी आत्मा वाला काव्य यदि उचित अलंकारों द्वारा अलंकृत हो जाय तो वह सुन्दरतम हो जाता है। अलंकार काव्य-सौष्टव के सुन्दर व स्वाभाविक साधन हैं तथा भावानुभूति के प्रकाशन के उत्कर्ष के अंग हैं। अतः काव्य का अनिवार्य उपकरण न होने पर भी कोई भी सुन्दरतम कविता अलंकारों से पूर्णतया विहीन नहीं हो सकती।

यहाँ यह स्मरणीय है कि काव्य में अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में ही होना चाहिए। अस्वाभाविक, अवाञ्छित अथवा अत्यधिक अलंकारों का प्रयोग काव्य के रस को उसी प्रकार भंग कर देता है जिस प्रकार रमणी के पद का आभूषण कर में, कर का कर्ण में, गले का नासिका में डाल देने से अथवा कभी आभूषण बाहुल्य से उसका सौंदर्य विरूप, कुरूप, भोंडा, भद्दा ही नहीं बहुधा भयावना भी हो जाता है।

स्वाभाविक रूप से अलंकारों के प्रयोग से जहाँ काव्य की चेतना और आकर्षण को बल मिलता है वही उनकी अनावश्यक ठूस-ठाँस से काव्य की स्वाभाविक शोभा भी नष्ट हो जाती है। अलंकार-प्रदर्शन जिस रचना में उसका गौण सहकारी न होकर प्रधान हो जाता है वहाँ रस-भंग होने के साधन प्रस्तुत हो जाते हैं। रीतिकाल के अनेक कवियों की कृतियाँ इस अलंकार-ज्ञान-प्रदर्शन की भ्रांति में पड़कर मात्र विरसता को ही प्राप्त हो सकी हैं।

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र और व्यास के अग्निपुराण के उपरान्त पाँचवीं शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक के आचार्यों भामह, दंडी और उद्भट ने रस, भाव आदि को अलंकारों के अतर्गत रखकर अलंकारों को ही काव्य में प्रधानता दी तथा उन्हें ही काव्य की उत्कृष्टता का प्रधान साधन स्वीकार किया। किंतु ८ वीं शताब्दी के उपरान्त प्रादुर्भूत होने वाले ध्वनिकार (आनंदवर्द्धन) और मम्मट (११ वीं) ने काव्य को तीन भागों में विभाजित किया—

(१) व्यंग्यात्मक ध्वनि काव्य—जिसमें रस का प्रमुख स्थान होता है। इसको प्रथम श्रेणी का उत्तम काव्य ठहराया गया।

(२) गौण व्यंग्यात्मक काव्य—यह मध्यम श्रेणी का काव्य माना गया।

(३) अलंकारात्मक काव्य—यह तृतीय कोटि में आया।

यद्यपि अलंकारों को तृतीय श्रेणी में रखा गया फिर भी सस्कृत साहित्य के आचार्यों ने इस कोटि का मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म दृष्टि से अत्यंत विस्तारपूर्वक गंभीर विवेचन किया है।

प्राचीन साहित्य-ग्रन्थों में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। यद्यपि नाट्यशास्त्र के प्रसंगों से प्रकट होता है कि भरत मुनि के पूर्व भी अनेक साहित्याचार्य हो चुके हैं परंतु उनके नाम और कृतियाँ अज्ञात हैं। भरत मुनि का समय वेदव्यास से पूर्व माना गया है। नाट्यशास्त्र में ४ अलंकार निर्धारित किये गये हैं—उपमा, दीपक, रूपक और यमक। भरतमुनि के उपरांत वेदव्यास रचित अग्निपुराण में १५ अलंकारों का विधान पाया जाता है। इसके बाद लगभग ३५०० वर्षों तक का इतिहास अंधकार पूर्ण है। इस दीर्घ काल में रचा हुआ कोई ग्रन्थ अभी तक नहीं प्राप्त हुआ है। भट्टि रचित भट्टि-काव्य रीति ग्रन्थ नहीं है परंतु उसके तीसरे कांड के दसवें सर्ग में ३८ अलंकारों के उदाहरण दिए गए हैं। भट्टि का समय ५०० से ६५० ई० तक माना गया है। तदुपरांत ईसवी छठी शताब्दी का आचार्य भामह रचित काव्यालंकार मिलता है जिसमें ३८ अलंकारों का निरूपण किया गया है। काव्यालंकार में अनेक अलंकारिकों के नामोल्लेख होने के कारण यह स्पष्ट है कि आचार्य भामह के पूर्व अनेकों अलंकार ग्रंथ रचे गए थे और अग्निपुराण के बाद अलंकारों की संख्या वृद्धि तथा उनका विकास भट्टि, भामह और उनके पूर्ववर्ती विद्वानों के क्रमशः उद्योग और परिश्रम का परिणाम है।

अलंकारों के क्रम-विकास का द्वितीय काल ईसा की ६वीं शताब्दी से ८वीं शताब्दी तक है जिसे भट्टि से लेकर आचार्य वामन तक समझना चाहिये। ७ वीं शताब्दी के अंतिम चरण में आविर्भूत होने वाले महाकवि भारवि के प्रपौत्र आचार्य दंडी ने अपने काव्यादर्श में ३६ अलंकारों की विवेचना की, जिनमें आवृत्ति दीपक नवीन थे। ८वीं शताब्दी के आचार्य उद्भट ने अपने काव्यालंकार-सार-संग्रह में ४१ अलंकार निर्दिष्ट किये जिनमें दृष्टांत, काव्यालिंग और पुनरुक्तवदाभास नवीन थे।

उद्भट के समकालीन आचार्य वामन ने अपने काव्यालंकारसूत्र में ३३ अलंकारों पर प्रकाश डाला जिनमें व्याजोक्ति और वक्रोक्ति नवीन थे। भट्टि और भामह द्वारा निरूपित ३८ अलंकारों के पश्चात् दंडी, उद्भट और वामन द्वारा १४ नवीन अलंकार निरूपित किये गये। इस प्रकार ८ वीं शताब्दी तक

५२ अलंकारों का विधान हो गया था । यद्यपि अलंकारों की संख्या में अधिक वृद्धि नहीं हुई परंतु इस दूसरे काल के तीन आचार्यों (जिनमें मुख्यतः दंडी) ने अलंकार विवेचना विस्तृत और सुस्पष्ट कर दी ।

८ वीं शताब्दी से अगली चार शताब्दियाँ अलंकार विकास का स्वर्ण युग सिद्ध हुईं । ९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में ५५ अलंकारों की व्यवस्था की । ११ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में धारा नगरी के महाराज भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में ७२ अलंकारों का वर्णन किया जिनमें पूर्वाचार्यों की अपेक्षा ९ अलंकार नवीन थे । भोज के उपरान्त ११वीं शताब्दी में ही आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में ७० अलंकारों का निरूपण बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया जिनमें अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति सामान्य और सम अलंकार नये थे । काव्यप्रकाश को जो गौरव प्राप्त हुआ वह आज तक किसी दूसरे ग्रन्थ को उपलब्ध नहीं हो सका । १२वीं शताब्दी के मध्यकाल में रुय्यक ने अपने अलंकारसूत्र में ८४ अलंकार स्थापित किए जिनमें उल्लेख, काव्यार्थपत्ति, परिणाम, विचित्र और विकल्प नवीन थे । इन आचार्यों के उपरान्त १२वीं शताब्दी में जैन विद्वान् वाग्भट प्रथम ने वाग्भटालंकार नामक सूत्रबद्ध ग्रन्थ रचा जिसमें ३६ अलंकारों पर प्रकाश डाला । १२वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में ३५ अलंकारों का संक्षिप्त परंतु महत्त्वपूर्ण वर्णन किया । इस युग में अलंकारों की संख्या बढ़कर १०३ हो गई जो ८वीं शताब्दी तक ५२ से अधिक न बढ़ पाई थी । संख्या वृद्धि के साथ विषय की विवेचना भी अधिकाधिक सूक्ष्म और गम्भीर हो गई । अलंकार सम्प्रदाय को रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक इन चार आचार्यों ने परिष्कृत करके एक प्रतिष्ठित पद पर पहुँचा दिया ।

१३वीं शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी तक अलंकारों के क्रम विकास का अन्तिम काल था । १२वीं—१३वीं शताब्दी के अन्तर्गत होने वाले पीयूषवर्ण जयदेव ने अपने चन्द्रालोक में ८ शब्दालंकार और ८२ अर्थालंकारों का निरूपण किया जिनमें १६ पूर्ववर्ती ग्रंथों में नहीं थे । १४वीं शताब्दी के प्रथम चरण में वर्तमान विद्याधर ने अपने 'एकावली' ग्रन्थ की रचना ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और अलंकार-सर्वस्व के आधार पर की । विद्याधर के समकालीन विद्यानाथ ने अपने प्रतापन्द्रयशोभूषण ग्रन्थ में काव्यप्रकाश और अलंकारसर्वस्व का अधिकांशतः अनुसरण किया । १४वीं शताब्दी के द्वितीय वाग्भट ने अपने काव्यानुशासन में अन्य और अपर अलंकारों को स्वतन्त्र रूप से वर्णित किया । १४वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में १२ शब्दालंकार, ६९ अर्थालंकार, ७ रसवदादि और संकर तथा संसृष्टि अर्थात् कुल ६० अलंकारों का निरूपण किया जिनमें ४ अलंकार नवीन अवश्य थे परन्तु महत्त्वपूर्ण

नहीं। आचार्य मम्मट और रुय्यक के उपरान्त विश्वनाथ अलंकार शास्त्र के उल्लेखनीय रचयिता हुए। १६वीं शताब्दी के अन्तिम चरण और १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होने वाले अप्यय्य दीक्षित ने अपने सरल और सुबोध ग्रंथ कुवलयानन्द में १०० अलंकार, ७ रसवाद आदि ११ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणालंकार और १ संमृष्टि तथा १ मकर उस प्रकार १२० अलंकारों को निश्चित किया। दीक्षित जी ने अलंकार विषयक अपना आलोचनात्मक ग्रंथ चित्रमीमांसा भी महत्त्वपूर्ण रचा जो अपूर्व है और जिसका थोड़ा सा अंश ही अभी तक प्रकाशित हो सका है। उन ग्रंथों में चन्द्रालोक का अनुकरण किया गया है। शोभाकर ने अपने ग्रंथ अलंकार रत्नाकर में पूर्वाचार्यों में २७ अधिक अलंकारों की सृष्टि की जो निरूपित अलंकारों के अन्तर्गत थे। पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके ग्रंथ का खण्डन किया है, इसमें शोभाकर को उनका पूर्ववर्ती मानना उचित होगा। यशस्क ने अपने अलंकारोदाहरण में ६ नए अलंकार लिये जो महत्त्वपूर्ण नहीं है। इनका समय जान नहीं है। १७वीं शताब्दी के प्रथम तीन चरणों में वर्तमान शाहजहाँ के समकालीन पण्डितराज जगन्नाथ 'त्रिशूली' ने अपना रसगंगाधर एक अपूर्व आलोचनात्मक ग्रंथ रचा। ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के बाद मौलिकता में इसी का स्थान है। पण्डितराज ने पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रंथों की विशद और विवेचनात्मक मार्मिक आलोचनाएँ की हैं। परन्तु यह ग्रन्थ अपूर्व है और इसमें उत्तरालंकार तक ७० अलंकार निरूपित हुए हैं। रसगंगाधर अलंकार शास्त्र का अन्तिम ग्रन्थ है। इस समय तक विभिन्न आचार्यों के अध्यवसाय से अलंकारों की संख्या १८० में ऊपर पहुँच गयी थी। पण्डितराज के बाद संस्कृत साहित्य में कोई उल्लेखनीय आचार्य नहीं हुआ। अस्तु यह काल अलंकार विकास का उत्तरकाल था।

यद्यपि हिन्दी आदि अधिकांश आधुनिक भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत तो नहीं है परन्तु संस्कृत से उगका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध अवश्य है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य हिन्दी को पृष्ठभूमि अथवा पैतृक सम्पत्ति की भाँति प्राप्त हुआ। अतः हिन्दी के साहित्याचार्यों के सम्मुख अलंकार विषयक वे समस्याएँ नहीं आईं जैसी संस्कृत में अलंकारों के उत्तरोत्तर विकास में दिखायी गई है। यहाँ तो संस्कृत साहित्य की अपूर्व पृष्ठभूमि आश्रय के लिए पहले से ही प्रस्तुत मिली। सिद्धान्त प्रतिपादित थे, ढाँचे तैयार थे और रूप निर्धारित था जिसमें अपनी भाषा को सजाने मात्र की आवश्यकता थी।

परन्तु हिन्दी में अलंकार ग्रन्थों की भरमार है क्योंकि यहाँ तो एक युग वह आया था जब कि कवि के लिए यह अनिवार्य हो गया था कि वह पहले अलंकार और नायिका भेद पर रचना करे। यह युग रीतिकाल के नाम से विख्यात है। उस काल में रीति ग्रन्थों की वह बाढ़ आई कि कविगण साहित्य

के अन्य अंगों को प्रायः विस्मृत कर बैठे । इन रचनाओं में उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट सभी देखने को मिलती हैं । यहाँ हमारा अभीष्ट उन्हीं का उल्लेख करना मात्र है जो श्रेष्ठ और अधिक प्रचलित हैं ।

सं० १६५९ वि० में रचित महाकवि केशव की कविप्रिया हिन्दी के उपलब्ध ग्रन्थों में श्रेष्ठ और प्रथम स्थान पर है । इसमें ३७ अलंकारों का निरूपण किया गया है । साहित्य सम्बन्धी तथा अन्य उपयोगी विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है जिनमें काव्यादर्श का प्रभाव परिलक्षित होता है । फिर जोधपुर के महाराज जसवंतसिंह (प्रथम) की वि० १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना भाषाभूषण काफी प्रचलित और प्रतिष्ठित ग्रंथ है । यह ग्रंथ कुवलयानन्द के आधार पर है । इसमें ८ शब्दालंकार और १० अर्थालंकारों का विधान किया गया है । कविप्रिया और भाषाभूषण उस समय की रचनाएँ हैं जब हिन्दी में अलंकार-शास्त्र के ज्ञान के लिए कोई साधन न था । हिन्दी साहित्य में इनका नाम चिरस्मरणीय रहेगा ।

सं० १७९९ वि० में उदयपुर के वंशीधर और दलपतराय रचित अलंकार-रत्नाकर भाषा-भूषण का वैसा ही परिवर्द्धित रूप है जैसा कि चन्द्रालोक का कुवलयानन्द । प्रत्येक अलंकार के कई-कई उदाहरण देकर विषय को स्पष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया गया है । उक्त समयानुसार इसकी रचना का महत्त्व निर्विवाद है ।

सं० १९०३ वि० में भिखारीदास रचित काव्यनिर्णय, काव्यप्रकाश और कुवलयानन्द के आधार पर लिखा गया है जिसका क्रम इन ग्रन्थों के अनुसार न होकर रचयिता की इच्छा पर निर्भर रहा है । इसमें १०० अर्थालंकार और १२ प्रमाणालंकार हैं परन्तु विषय का स्पष्टीकरण विस्तृत विवेचना होने हुए भी अधिकांशतः भ्रामक है ।

विक्रमीय १७ वीं और १८ वीं शताब्दी में वर्तमान महाकवि भूषण रचित शिवराजभूषण हिन्दी का अपूर्व ग्रंथ है जिसमें कुवलयानन्द के आधार पर लक्षणों का विधान है । विषय-विवेचना की परिपाटी रीतिकाल में थी नहीं अतएव उसका हम इन सभी ग्रंथों में अभाव पाते हैं । हिन्दी साहित्य के गौरव की श्रीवृद्धि करने वाले मतिराम का ललितललाम, पद्माकर का पद्माभरण, दूलह का कविकंठाभरण, सोमनाथ का रसपीयूष, गोकुल की चैतचंद्रिका, गोविंद का कर्णाभरण, लछिराम का रामचंद्रभूषण और ग्वाल का अलंकार-भ्रम-भंजन आदि अन्य अलंकार ग्रंथ हैं जिनमें लक्षणों का आधार प्रायः कुवलयानन्द से ही लिया गया है ।

हिन्दी के आधुनिक अलंकार ग्रंथों में कविराजा मुरारिदान चारण का सं० १९५४ वि० रचित जसवंतजसोभूषण विद्वत्तापूर्ण और उल्लेखनीय रचना है । सं०

१९५३ वि० में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार रचित अलंकार-प्रकाश जिसका परिवर्द्धित संस्करण (सं० १९८३ विक्रम) काव्यकल्पद्रुम है, हिंदी के प्रकाशित ग्रंथों में श्रेष्ठ है। इसके उपरान्त कालक्रम के अनुसार जगन्नाथप्रसाद भानु का काव्य-प्रभाकर, भगवानदीन 'दीन' की अलंकारमंजूषा, डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का अलंकार-पीयूष और सेठ अर्जुनदास केडिया का भारतीभूषण आदि अलंकार निरूपण विषयक ग्रंथ हैं। पं० रामदहिन मिश्र का सं० २००४ वि० में प्रकाशित ग्रंथ काव्यदर्पण इस समय सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ की अन्य विशेषताओं के साथ एक विशेषता यह भी है कि इसमें आधुनिक कवियों की रचनायें भी विवेचित हैं।

यूरोपीय साहित्य में अलंकारों का उद्भव भिन्न कारणों को लेकर हुआ था। वहाँ वक्तृता को इच्छानुसार प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अलंकारों अथवा विशेष शैलियों का जन्म हुआ था। सिराक्यूज नगरवासी कौरैक्स रिटारिक को एक कला रूप में जन्म देने के लिए विख्यात है। सन् ४६६ ई० पू० में सिराक्यूज में एक प्रजातंत्र की स्थापना होते ही मुक्तदमों की बाढ़ आ गई और कौरैक्स की कला को अत्यधिक प्रश्रय मिला। प्राचीन यूनान में यह शास्त्र अति महिमान्वित हुआ था। कौरैक्स के शिष्य टिसियाज ने इसका समुचित विकास किया है। परंतु इस कला का गहन और विस्तृत अध्ययन आरिस्टाटिल की रिटारिक (३२२-३२० ई० पू० रचित) से होता है। इसके उपरान्त (११० ई० पूर्व में) हरमैगोरस ने इस विषय को उत्तम करके प्रौढ़ बनाया। तदुपरांत सिसरो का नाम उल्लेखनीय है, जिसने शास्त्रोक्त अध्ययन की अपेक्षा अपनी प्रतिभा से इन शैलियों की सौष्टवता बढ़ाई। सन् ६० ई० के लगभग होने वाले क्विंटिलियन, हरमोजिन्स, प्लेथोनियस (चौथी शताब्दी) और प्लेनियसयियोन के नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

रोमन साम्राज्य की प्रथम चार शताब्दियों में इस कला की विशेष उन्नति दृष्टिगोचर होती है। रिटारिक का शिक्षक सोफिस्ट उपाधिभूषक हो गया था। हेड्रियन और एन्टोनाइन के राज्यकाल (सन् ११७-१८० ई०) में रिटोरिक के शिक्षकों का स्थान न केवल महत्वपूर्ण ही था वरन् वह एक आकांक्षित पद भी प्राप्त कर चुका था। रिटोरिक की शिक्षा के लिए सोफिस्ट और पोलिटिकल दो विभाग बना दिए गए थे। सोफिस्ट के अंतर्गत अलंकरण कला के साहित्यिक रूप का अध्ययन कराया जाता था। और पोलिटिकल विभाग में न्यायालयों में प्रयोग में लाई जाने वाली राजनैतिक आलंकारिक शैलियाँ थीं। वैसे पोलिटिकल से सोफिस्ट विभाग की महिमा कहीं अधिक थी। इस कला के शिक्षकों को राज्य की ओर से अन्य कई प्रकार की सुविधाएँ भी प्राप्त थीं। इसके साहित्यिक विभाग की श्रीवृद्धि करने में इसवी प्रथम शताब्दी के डिओक्रिजोस्टम, द्वितीय

शताब्दी के एलियस अरिस्टीडिस और चतुर्थ शताब्दी के थोमिस्टियस, अरमेरियस तथा लाइवेनियस जैसे विद्वानों के नाम चिरस्मरणीय रहेंगे ।

मध्यकालीन शताब्दियों में पाँचवीं शताब्दी के मार्ट्यानस कॅपेला और कैसियोडोरस तथा सातवीं शताब्दी के इसीडोरस ने रिटोरिक्स पर उल्लेखनीय ग्रंथ लिखे हैं । रीनेसाँ के उपरान्त कई नवीन ग्रंथ निर्मित हुए और विद्वत् समाज का ध्यान एक बार पुनः इस शास्त्र की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ । सोलहवीं शताब्दी के लेओनार्डोकाक्स, टाममविन्सन, टाकुनियन और कौरसेलेस की प्रसिद्ध रचनायें प्राचीन ज्ञान को लुप्तावस्था से पूर्ण प्रकाश में लाने में सफल हुईं । इस युग में यूरोप और इंग्लैंड के विश्वविद्यालयों में पुरातन श्रेष्ठ कलाओं की पुनरावृत्ति और इस उद्योग द्वारा उनकी रक्षा के प्रयत्न स्पष्टतः देखे जा सकते हैं । १८वीं शताब्दी से रिटोरिक के अध्ययन को हम गौण रूप को प्राप्त होते देखने लगते हैं । रिटोरिक का शिक्षक लिखित विषयों का सुधार मात्र करने में लगा दिया था परंतु उसकी प्राचीन पदवी आगे पर्याप्त समय तक चलती रही ।

यही कारण था कि परवर्ती विद्वानों ने इस उपेक्षित दिशा में अपनी क्षमता का उपयोग करना श्रेयस्कर नहीं समझा और इसी से आधुनिक शताब्दियों में यूरोप में अलंकाराचार्य नहीं हुए । परंतु वेकन के सग्रहों का उल्लेख किए बिना हम नहीं रह सकते क्योंकि उनमें हमे आरिस्टाटिल की प्रतिभा के दर्शन होते हैं । १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रचित ब्लेयर की रिटोरिक की महिमा उसकी लेखन शैली के ढंग के कारण है न कि विषय से परचित्त कराने के लिए । परंतु आधुनिक काल की श्रेष्ठ रचना ह्याटली रचित 'इलीमेन्ट्स आव रिटारिक' है, जिसमें ह्याटली ने आरिस्टाटिल के मिद्धान्त रिटोरिक तर्क शास्त्र की एक प्रशाखा है' से लेकर उसकी 'वादात्मक लेखन कला' तक पूर्ण समीक्षात्मक ढंग से विवेचना की है । इस प्रकार स्पष्ट है कि अलंकारों का जन्म और उसकी योजना यूरोप में भिन्न कारणों वश हुई थी । परंतु भाषण को अपनी चित्तवृत्ति के अनुरूप ढाल कर वैसा ही श्रोताओं का चित्त भी कर देने के प्रयत्न में जिन शैलियों का जन्म हुआ उनका प्रयोग वक्तृताओं तक ही सीमित नहीं रहा बरन् साहित्य में और विशेष कर काव्य में उनके अनेकानेक प्रयोग हुए ।

आज विज्ञान के इस वर्तमान युग में यद्यपि आधुनिक युग की प्रवृत्ति अलंकरण की ओर उन्मुख न होकर स्वाभाविक नैसर्गिक सौन्दर्य के प्रगटीकरण की ओर ही है किन्तु तब भी सम्भव है कि विश्व के विभिन्न साहित्यों के परस्पर अनुशीलन, अध्ययन, सम्पर्क व आदान-प्रदान के फलस्वरूप विभिन्न देशीय साहित्यकार अपनी रचनाओं में अन्य भाषाओं के साहित्य में उपलब्ध श्रेष्ठ शैलियों को सम्भवतः अपनायें क्योंकि इन चमत्कारक शैलियों में सदा से आकर्षण रहा है और सतल रहेगा ।

जैसा कि पूर्व भी कहा जा चुका है कि कथन की रोचक, चमत्कारपूर्ण, प्रभावमय, स्पष्ट और पुष्ट प्रणाली को काव्य का अलंकरण कहते हैं। यह उक्ति वैचित्र्य अथवा चमत्कृत करने वाली शैली अनेक प्रकार की हो सकती है और इन्हीं शैलियों को आचार्यों ने गुणानुसार इनकी पृथक्ता का बोध कराने के लिए विभिन्न अलंकारों के नाम से प्रतिष्ठित किया है। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि ये समस्त शैलियाँ नियमबद्ध हो गयी हैं और अब उनके अतिरिक्त अन्य शैलियाँ नहीं हैं और न ही उनका भविष्य में निर्माण सम्भव है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य की शैलियाँ संस्कृत साहित्य की देन हैं किन्तु यूरोपीय साहित्य में हमें इनके अतिरिक्त अन्य अनेक नवीन प्रभाव-शाली शक्तिसम्पन्न शैलियाँ दृष्टिगत होती हैं। अलंकारों की नवीन शैलियों को जन्म देना असम्भव तो नहीं है किन्तु दुष्कर अवश्य है। क्योंकि उसके लिए असाधारण प्रतिभा और बुद्धि अपेक्षित है और पूर्वाचार्यों ने इस विषय का पर्याप्त मंथन किया है।

अलंकार प्रधानतः दो प्रकार के होते हैं :-

(१) शब्दालंकार—

जहाँ पर शब्द का चमत्कार होता है।

(२) अर्थालंकार—

जहाँ पर अर्थ का चमत्कार होता है।

शब्दालंकार—ये ६ प्रकार के होते हैं :-

(१) अनुप्रास (२) यमक (३) श्लेष (४) वक्रोक्ति (५) पुनरुक्तिवदाभास और (६) चित्र।

अनुप्रास (Alliteration)—वर्णों के साम्य को अनुप्रास कहते हैं। अनुप्रास अर्थात् 'अनु' (- बारम्बार) + प्र (=प्रकर्ष अर्थात् अव्यवधान या पास-पास) + आस (=न्याय अर्थात् रखना) अर्थात् वर्णों का बार-बार प्रकर्षता से पास-पास रखा जाना।

अनुप्रास दो प्रकार के होते हैं—(अ) वर्णानुप्रास (आ) शब्दानुप्रास।

(अ) **वर्णानुप्रास**—इसमें निरर्थक वर्णों की आवृत्ति होती है। ये दो प्रकार के होते हैं। (१) छेकानुप्रास (२) वृत्यनुप्रास।

(१) **छेकानुप्रास**—छेक का अर्थ होता है चतुर। इसमें अनेक वर्णों का एक बार सादृश्य होता है। यथा—

१—

जंग जुरन जालिम जुझार ।

भुज सार भार भुज ॥

—चन्द्र

- २- सर सर हंस न होत बाजि गजराज न दर दर ।
तरु तरु सुफल न होत नारि पतिव्रता न घर घर ॥

—नरहरि

- ३- लपट से झट रुख जले जले ।
नद नदी घट सूखि चले चले ॥
विकल ये मृग मीन मरे मरे ।
विकल ये दूग दीन भरे भरे ॥

—हरिऔध

(२) वृत्त्यानुप्रास—इसमें एक वर्ण की या अनेक वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होती है। इसमें उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं। उपनागरिका वृत्ति में ट, ड, ठ, ढ को छोड़कर शेष सारे वर्णों का प्रयोग होता है तथा शृंगार, हास्य व करुण रस की अभिव्यंजना के लिए यह वृत्ति अत्यन्त वांछित है। उदाहरणस्वरूप—

- १- तरणि के ही संग तरल तरंग से ।
तरणि झूबी थी हमारी ताल में ॥

—पंत

परुषा वृत्ति द्वारा ओज गुण की व्यंजना होती है। इसमें ट, ठ, ड, ढ तथा द्वित्व वर्णों की बहुलता होती है। वीर, रौद्र और भयानक रस इस वृत्ति में भली प्रकार परिपक्व होते हैं। उदाहरणस्वरूप :—

- १- दिल्लिय ढाल कुलाल ,
कुलाहल किन्नरिन ।
दिल्लिय नाथ सु हाथ ,
समथिय अथियन ॥

—चन्द

- २- निकला पड़ता था वक्ष फोड़कर वीर हृदय था ।
उधर धरातल छोड़ आज उड़ता सा हृय था ।
जैसा उनके क्षुब्ध हृदय में धड़ धड़ धड़ था ।
वैसा ही उस बाजि वेग में पड़ पड़ पड़ था ।
फड़ फड़ करने लगे जाग पेड़ों पर पक्षी ।
अपलक था आकाश चपल वगलित गति लक्ष्मी ।

—मैथिलीशरण गुप्त

- ३- बिल्लिय बलन दबाय करि, सिव सरजा निरसंक ।
लूडि लियो सूरति सहर, बंकककरि अति डंक ॥

बंकककरि अति डंकककरि अस संकककुलि खल ।
 सोचचचकित भरोचचचलिय विमोचचचख जल ॥
 तट्ठट्ठइ मन कट्ठट्ठक ! सोइ रट्ठट्ठल्लिय ।
 सहट्ठिसि दिसि भट्ठट्ठिभइ रट्ठट्ठल्लिय ॥

—भूषण

कोमलावृत्ति में माधुर्य तथा ओज गुण व्यंजक वर्णों के अतिरिक्त वर्णों की रचना की जाती है । शृंगार, शांत तथा अद्भुत रसों के यह अनुकूल होती है ।
 उदाहरणस्वरूप—

१— नव नव सुमनों से चुनकर
 धूलि, सुरभि मधु रस हिमकण
 मेरे उर की मृदु कलिका में
 भरदे करदे विकसित मन

—पन्त

२— परे तें तुसार, भयो झार पतझार, रही
 पीरी सब डार सो वियोग सरसति है ।
 बोलत न पिक, सोई मौन ह्वै रही है आस
 पास निरजास, नैन नीर बरसति है ।
 सेनापति केली बिन, सुन री सहेली ! माह
 मास न अकेली बन बेली बिलसति है ।
 विरह तें छीन तन, भूषन बिहीन दीन
 मानहु बसंत कंत काज तरसति है ।
 इसमें र, ल आदि की कई बार-बार आवृत्ति हुई है ।

(अ) शब्दानुप्रास—

इसे लाटानुप्रास भी कहते हैं । इसमें सार्थक वर्णों की आवृत्ति तो होती ही है, शब्द और अर्थ की आवृत्ति भी हुआ करती है । यह नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा—

१— त्रैननं त्रिजटेव सीस त्रितयं, त्रिरूप त्रीमूलयं ।
 त्रिदेवं त्रिदिसा त्रिभू त्रिगुनयं, त्री संधि वेदत्रयं ॥

—चन्द्र

२— वे घर हैं वन ही सदा जो ह्वै बन्धु वियोग ।
 वे घर हैं वन ही सदा जो नहि बन्धु वियोग ॥

!

—मृतिराम

- ३- नभ लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन ।
रति पाली आली अनत आये बन माली न ॥
—बिहारी

- ४- तुरमती तहखाने तीतर गुसुलखाने ,
सूकर सिलहखाने कूकत करीस हैं ।
हिरन हरमखाने स्याही हैं सुतुरखाने ,
पाड़े पीलखाने औ करंजखाने कीस हैं ।
भूषन सिवाजी गाजी खगग सों खपाए खल ,
खाने खाने खलन के खेरे भए खीस हैं ।
खड़गी खजाने खरगोस खिलवत खाने ,
खीसैं खोले खसखाने खाँसत खबीस हैं ।
—भूषण

(२) यमक (Repetition of same words or syllables similar in sound) निरर्थक वर्णों की अथवा भिन्न-भिन्न अर्थ वाले सार्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति या उनके पुनः श्रवण को यमक कहते हैं । यथा—

- १- वर जीते सर मैं के ऐसे देखे मैं न ।
हरिनी के नैनान तें हरि ! नीकें यह नैन ॥
- २- अतर गुलाब चोवा चन्दन सुगन्ध सब ,
सहज शरीर की सुवास विकसाती हैं ।
पल भरि पलंग तें भूमि न धरति पाँव ,
तेई खान पान छोड़ि बन बिललाती हैं ।
भूषन भनत सिवराज बीर तेरे त्रास ,
हार-भार तोरि निज मुध बिसराती हैं ।
ऐसी परीं नरम हरम बादसाहन की ,
नासपाती खातीं ते बनास पाती खाती हैं ।
—भूषण

(३) सार्थक वर्णों की आवृत्ति—

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहन वारी .
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं ।
कन्दमूल भोग करें कन्दमूल भोग करें ,
तीन बेर खातीं सो तौ तीन बेर खाती हैं ।
भूखन सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग ,
विजन डुलातीं ते वै विजन डुलाती हैं ।

भूषण भनत सिवराज वीर तेरे त्रास ,
नगन जड़ाती ते बै नगन जड़ाती हैं ॥

—भूषण

४— कगल अण्णह राजकर, मुअ जण्ह इह वत्त ।
गोरी रत्तौ तुअ धरनि, तू गोरी रस रत्त ॥

—चन्द बरदायी

(३) श्लेष (Paronomasia)—जिस रचना के शब्दों या अर्थों में एक से अधिक अर्थ का प्रयोग मिले उसे श्लेष कहते हैं। इस अलंकार को कुछ विद्वानों ने अर्थालंकार के अन्तर्गत भी स्थान दिया है परन्तु अधिकांश विद्वान इसे शब्दालंकार ही मानते हैं। इसका विषय अति व्यापक है। यह प्रायः सभी अलंकारों का शोभाकारक है। हिन्दी में सेनापति की रचना श्लेष अलंकारों के लिए प्रसिद्ध है। उदाहरणस्वरूप—

लिये मुचाल विशालबर समद सुरंग अबैन ।
लोग कहैं बरनै तुरग में बरने तुव नैन ॥

—मतिराम

इसमें अर्थ श्लेष का चमत्कार दर्शनीय है।

रहिमन पानी राखिये बिन पानी सब सून ।
पानी गए न ऊबरे मोती मानस चून ॥

—रहिमन

यहाँ पर शब्द श्लेष का चमत्कार दिखाया गया है। सेनापति द्वारा वर्णित श्लेष की सहायता से राम और गंगा पक्ष पर घटित कवित्त देखिये—

कुस लव रस करि गाई सुर धुनि कहि ,
भाई मन संतन के त्रिभुवन जानी है ।
देव न उपाई कीनौ यहै भौ उतारन कौं ,
विसद वरन जाकी सुधा सम बानी है ।
भुवपति रूप बेह धारी पुन्र सील हरि ,
आई सुरपुर तें धरनि सियरानी है ।
तीरथ सरब सिरोमनि सेनापति जानी ,
राम की कहानी गंगा-धार सी बखानी है ॥

—सेनापति (कवित्तरत्नाकर)

(४) वक्रोक्ति (Crooked speech)—किसी के कहे हुए वाक्य का किसी अन्य व्यक्ति द्वारा श्लेष से अथवा काकु से अन्य अर्थ की कल्पना किया जाना। वक्ता ने कुछ कहा हो श्रोता का उससे भिन्न अर्थ की कल्पना करके उत्तर देना इस अर्थ का चमत्कार है।

वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है—

(१) श्लेष तथा (२) काकु ।

श्लेष वक्रोक्ति—इसमें एक से अधिक अर्थ प्रयोग में आते हैं । उदाहरणार्थ—

१— को तुम ! हैं घनश्याम हम, तो बरसो कित जाय ।
नहिं मनमोहन हैं प्रिये ! फिर क्यों पकरत पाय ॥

२— को तुम ! हरि प्यारी ! कहाँ बानर को पुर काम ।
श्याम सलोनी ? श्याम कपि क्यों न डरे तब बाम ॥

३— मुह दरिद्र अरु तुच्छ तन, जंगलराव सु हृद् ।
बन उजार पसु तन ! चरन, क्यों दूबरो, बरह ॥

काकु वक्रोक्ति—काकु एक विशेष प्रकार की कण्ठ ध्वनि होती है । जहाँ स्वोक्ति में ही काकु उक्ति होती है वहाँ काकु व्यंग्य होता है उदाहरणार्थ—

अब सुख सोवत सोच नहिं भीख माँगि भव खाहि ।

सहज एकाकिन के भजन कबहुँकि नारि खटाहि ॥

इसमें काकाक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य है न कि काकु वक्रोक्ति ।

१— मानस सलिल सुधा प्रतिपाही ,
जियइ कि लवण पयोधि मराली ।

२— वरषा विलोकि वीर ! बरसे बधूटी वृंद
बोलत पपीहा पीयु पीयु मन भायेंगे
बल्लभ विचार हिय कटुरी सयानी सखी
ऐसे समय नाथ विदेश तें न आयेंगे ॥

३— हर जिसे दस कन्धर ने लिया ,
कब भला फिर फेर उसे दिया ।
खल किसे न हुआ मम त्रात है ,
निडर हो करता परिहास है ।

—रामचरित उपाध्याय

(५) पुनरुक्तिवदाभास (Similar tautology)—जहाँ भिन्न अर्थ वाले भिन्न आकार के पद सुनने में समान अर्थ वाले अनुभूत हों । उदाहरणार्थ—

१— समय जा रहा और काल है आ रहा ।

सचमुच उल्टा भाव भुवन में छा रहा ॥—गुप्त जी

यहाँ समय और काल समानार्थक प्रतीत होते हैं परन्तु काल का अर्थ यहाँ मृत्यु है ।

२— वन्दनीय किहि के नहीं वे कविद मतिमान ।

सुरग गयेह काव्य रस जिनको जगत जहान ॥ —बिहारी

यहाँ जगत और जहान समान अर्थ वाले जान पड़ते हैं परन्तु जगत का अर्थ प्रकाशित और जहान का अर्थ सारे जगत में है।

(६) **चित्र**—जहाँ पर वर्णों का प्रयोग इस प्रकार किया जाय कि उनसे चित्र भी बन जाय। कमल, छत्र, धनुष, हाथी, घोड़ा, धेनु, सर्वतोभद्र, दर्पण, चक्र, मुष्टिका, हार, चमर, चौकी आदि इसके अनेक अकार होते हैं। यह अलंकार न तो रस की सिद्धि में ही कोई सहायता करता है और न इसमें विशेष चमत्कार ही है केवल यह कवि की निपुणता सिद्ध करता है। आचार्य केशव ने अपनी कविप्रिया में इस अलंकार की विशद चर्चा की है। भूषण कवि-रचित कामधेनु का चित्र बनाने वाला निम्न छंद देखिए:—

ध्रुव जो गुरता तिनको गुरु भूषन दानि बड़ो बिरजा पिव है।

हुव जो हरता रिन को तरु भूषन दानि बड़ो सिरजा छिव है।

भुव जो भरता दिन को नरु भूषन दानि बड़ो सरजा सिव है।

तुव जो करता इनको अरु भूषन दानि बड़ो बरजा निव है।

अर्थालंकार

अग्निपुराण में व्यास का कथन है कि अर्थालंकार रहित शब्द-सौन्दर्य भी मनोहर नहीं होता तथा अर्थों को अलंकृत करने वाले ही अर्थालंकार है। जो शब्द जिस अलंकार के मृष्टा हों उनके बदलने पर भी वह अलंकार स्थित रहे तो वह अर्थालंकार कहा जाता है।

उपमा— (Simile)

यह सबसे प्राचीन अलंकार है। नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख मिलता है। और अग्निपुराण में दिए हुए चार अलंकारों में यह सर्वप्रथम है। 'उपमेय और उपमान में सादृश्य की योजना करने वाले समान धर्म का नाम ही उपमा है। उपमा का अर्थ है समीपता से किया गया मान। जैसे 'चंद्रमा के समान मुख कांतिवान है' में चंद्रमा और मुख समीप लाकर तुल्य किये गए हैं।

उपमा के चार अंग हैं—उपमेय, उपमान, समान धर्म और उपमावाचक शब्द।

उपमेय— जिसको उपमा दी जाय। इसके अन्य नाम वर्ण्य, वर्णनीय, प्रस्तुत, प्रकृत और विषय हैं।

उपमान— जिसमें उपमा दी जाय। इसके अन्य नाम अवर्ण्य, अवर्णनीय, अप्रकृत और विषयी हैं।

समान धर्म—उपमेय और उपमान दोनों में समानता रखनेवाले गुण, क्रिया आदि धर्म कहलाते हैं।

उपमावाचक शब्द—उपमेय और उपमान की समानतासूचक सादृश्यवाचक शब्द उपमावाचक शब्द कहलाते हैं ।

उपमा के अनेक भेद हैं जिनमें पूर्णोपमा, लुप्तोपमा, बिबप्रतिबिबोपमा, श्लेषोपमा, मालोपमा अधिक प्रसिद्ध हैं ।

पूर्णोपमा—वहाँ होती है जहाँ उपमा के चारो अंग उपस्थित होते हैं । यथा—सिंह सी मदोन्मत्त चाल ।

१— जा दिन ते छवि सों मुसकात कहूँ निरखे नँदलाल विलासी,
ता दिन ते मन ही मन में मतिराम दिये मुसकानि सुधासी ।
नेक निमेष न लागत नैन चकी चितवे तिय देव तियासी,
चंद्रमुखी न हलै न चलै निरवात-निवास में दीपसिखा सी ।

यहाँ चंद्रमुखी उपमेय है, 'निरवात निवास में दीपसिखा' उपमान है 'न हलै न चलै' समान धर्म है तथा 'सी' उपमावाचक शब्द है ।

२— शरों की नोंक पर लेटे हुए गजराज जैसे,
थके, टूटे गरुड़ से घ्रस्त पद्मगराज जैसे,
मरण पर वीर जीवन का अगम बल भार डाले,
दबाए काल को, सायास संज्ञा को संभाले;
पितामह कह रहे कौन्तेय से रण की कथा हैं ।

लुप्तोपमा—वहाँ होती है जहाँ उपमा के चार अंगों में से कोई एक लुप्त हो । यथा नागिन सी तलवार ।

१—पावक तुल्य अमीतन को भयो मीतन को भयो धाम सुधा को ।

आनंद भो गहिरो समुदं कुमुदावलि तारन को बहुधा को ॥

भूतल माहि बली सिवराज भो भूषन भाखत सत्रु सुधा को ।

बंदन तेज त्यों चंदन कीरति सोंधे तिगार बधू वसुधा को ॥

इसके प्रथम चरण में दो लुप्तोपमायें हैं । दूसरे में वाचक लुप्ता और चौथे में धर्म वाचक लुप्ता है ।

श्लेषोपमा—जहाँ पर एक से अधिक अर्थवाचक उपमा के शब्दों का प्रयोग किया जाता है । यथा—

१— उदयाचल से निकल मंजु मुसकान कर
वसुधा मंदिर को सुंदर आलोक से,
भर देने वाली नवीन पहली उषा
के समान ही जिसका सुंदर नाम है ।

यहाँ उषा शब्द से राजकुमारी और प्रातःकाल दोनों का अर्थ लगता है तथा सार्थक उपमालंकार है ।

२— महीभूतन में लसत है तू सुमेरु सम सत,
है नृपेन्द्र ! तू काव्य में वृषपर्वा मम निस्त ॥

इसमें महीभूत (राजा या पर्वत) और काव्य (काव्य या शुकाचार्य) पद श्लिष्ट हैं तथा सम्पूर्ण छन्द में श्लिष्टा-परंपरिता-मालोपमा है।

मालोपमा—जहाँ पर उपमाओं की लड़ी पिरोई होती है। यथा—

इंद्र जिमि जंभ पर वाड़व सुअंभ पर,
रावण सवंभ पर रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह पर संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजरात्र है।
बाबा द्रुम दण्ड पर चीता मृग झुण्ड पर
भूषन वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्हू जिमि कंस पर
त्यों मलेच्छ वंस पर सेर शिवरात्र है।

उपमालंकार के और भी अनेक भेद-प्रभेद हैं।

रूपक (Metaphor)-(आरोप)–

उपमेय में उपमान का अभेद रूप से आरोप किया जाना ही रूपक है।

रूपक दो प्रकार का होता है—अभेद रूपक और ताद्रूप्य रूपक।

अभेद रूपक—उपमेय में अभेद से उपमान का आरोप—अर्थात् भेद होने पर भी अभेद रहता है। अभेद का अर्थ हुआ एकता। इस अलंकार में अभेद न होने पर भी अभेद कहा जाता है। जैसे चन्द्रमुख में चन्द्र और मुख में भेद होने पर भी उन्हें एक ही कहा गया है। भ्रान्तिमान अलंकार में भी उपमेय और उपमान में अभेद होता है परन्तु उसमें निश्चित रूप से अभेद न करके भ्रान्ति रूप से अभेद की कल्पना की जाती है।

अभेद रूपक के तीन प्रकार हैं—

(१) सावयव (सांग) रूपक—जहाँ अवयवों सहित उपमान का आरोप होता है। यथा—

(१) भुगति भूमि किय ब्यार । वेद सिंचिय जल पूरन ॥
वीथ सुवय लय मध्य । ग्यांन अंकू रस जूरन ॥
त्रिगुन साख संग्रहिय । नाम बहु पत्त रत्त छित्ति ॥
सुकुम सुमन फुल्लयौ । सुगति पक्की ब्रव संगति ॥

बुज सुमन डसिय बुध पक्क रस । बट विलास गुन पिस्तरिय ॥

तरु इक्क साख त्रय लोक मंहि । अजय विजय गुन विस्तरिय ॥

यहाँ भोग-भूमि में क्यारी का, वेदवाणी में जल का, ज्ञान में अंकुर का, तीन गुणों में शाखाओं आदि का आरोप किया गया है।

- (२) अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल ।
 काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल ।
 महामोह के नूपुर बाजत, निंदा शब्द रसाल ।
 भ्रम भर्यो मत भयो पखावज चलत असंगत चाल ।
 तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल ।
 माया को कटि फेंटा बाँध्यो लोभ तिलक दियो भाल ।
 कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहि काल ।
 सूरदास की सबेँ अविद्या दूरि करौ नँदलाल ॥

इस पद में काम-क्रोध का चोलना पर, विषयों का माला पर, मोह का नूपुरों पर, निंदा का रसीले शब्दों पर, भ्रम भरे मन का पखावज पर, तृष्णा का नाद पर, माया का फेंटा पर और लोभ का तिलक पर आरोप किया गया है। तथा इस प्रकार उपमेय के अंगों और उपमान के अंगों में अभेद बताया गया है।

- (३) विरति चर्म, असि ग्यान, मद लोभ मोह रिपु मारि ।
 जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस विचारि ॥

—तुलसी

इसमें वैराग्य में ढाल, ज्ञान में तलवार और मद-मोह-लोभ में शत्रु का आरोप किया गया है।

- (४) रनित भृङ्ग घण्टावली, झरित दान मद नीर ।
 मंद मंद आवत चलयौ, कुंजत कुंज समीर ॥

—बिहारी

यहाँ समीर में हाथी का, भृंग में घण्टे का और मकरन्द में दान (मद-जल) का आरोप किया गया है।

- (५) सूखे सिकता सागर में यह नैया मेरे मन की,
 आँसू की धार बहाकर खे चला प्रेम बेगुन की ॥

—प्रसाद

निरवयव (निरङ्ग) रूपक—अवयवों से रहित केवल उपमेय में उपमान का आरोप होता है। इसके दो भेद होते हैं—माला रूपक और शुद्ध रूपक। यथा—

- (१) विधि के कमंडलु की सिद्धि है प्रसिद्ध यही
 हरि पद पंकज प्रताप की लहर है
 कहै पद्माकर गिरीस सीस मण्डल के
 मुण्डन की माल ततकाल अधहर है ।

भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य पथ
जन्म जप जोग फल फल की फहर है ।
क्षेम की छहर गंग रावरी लहर
कलिकाल को कहर जम जाल को जहर है ॥

यहाँ गंगा जी में ब्रह्मा के कमण्डल की सिद्धि आदि अनेक निरवयव उपमानों का आरोप किया गया है । यह माला रूपक है जिसमें एक उपमेय में अवयवों के बिना अनेक उपमानों का आरोप पाया जाता है ।

- (१) इस हृदय-कमल का घिरना अलि-अलकों की उलझन में ।
औस-मरन्द का गिरना मिलना निःश्वास-पवन में ।

—प्रसाद

इस छंद में चार निरंग रूपकों की योजना है ।

- (२) ओ चिता की पहली रेखा, अरे विश्व बन की व्याली ।
ज्वालामुखी रफोट के भीषण प्रथम कंप सी मतवाली ॥

यहाँ चिता में विश्व बन की व्याली आदि निरवयव उपमानों का आरोप होने से माला रूपक है ।

- (३) सुरपति के हम ही हैं अनुचर, जगत्प्राण के भी सहचर ,
मेघदूत की सजल कल्पना, चातक के चिरजीवन धर ।

—पन्त

इसमें बादल पर चार निरवयव उपमानों का आरोप किया गया है ।

- (४) कनक छाया में जब कि सकाल खोलती कलिका उर के द्वार ।
सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल तड़प बन जाते हैं गुंजार ॥

—पंत

यहाँ उर में द्वार का रूपक है और मधुपों के बाल में गुंजार का अस्तु इसमें निरवयव रूपक का भिन्न रूप पाया जाता है ।

उपर्युक्त दोनों छन्दों में निरवयव रूपक का शुद्ध रूप है जिनमें अवयवों के बिना उपमान का उपमेय पर आरोप किया गया है ।

परम्परित रूपक--जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है । इसके दो प्रकार होते हैं—

- (१) श्लिष्ट शब्दमूलक और
(२) भिन्न शब्दमूलक । यथा—
(१) या भव पारावर को उलँघि पार को जाय,
तिय छवि छाया ग्राहिनी नहै बीच ही आय ।

—तुलसीदास

यहाँ पर नारी सौंदर्य में जल में रहने वाले छायाग्राहिणी नामक पौराणिक जीव के आरोप के कारण संसार में समुद्र का आरोप है। यह श्लिष्ट शब्दमूलक है।

(२) वाङ्मय ज्वाला सोती थी इस प्रणय सिंधु के तल में ।
प्यासी मछली सी आँखें थीं विकल रूप के जल में ॥

—प्रसाद

यहाँ पर विरह-वेदना के कारण प्रणय के सागर में बड़वाग्नि बताई गई है तथा उस वेदना से व्यथित मछली सी आँखों का रूप रूपी जल में व्याकुल भाव दिखाया गया है। इसमें 'सी' उपमा का भ्रामक है परन्तु उपमा नहीं है वरन् रूपक ही है और वह भिन्न शब्दमूलक है। (अप्यय दीक्षित ने अपने कुवलयानन्द में रूपक की इस विधा का निर्देश किया है)।

(ब) ताद्रूप्य रूपक—

इसमें उपमेय को उपमान का ही दूसरा रूप कहा जाता है। अर्थात् उपमेय उपमान का रूप ग्रहण करता है पर उससे भिन्न कहा जाता है यथा—

(१) अमिय झरत चहुँ ओर अरु नयन ताप हरि लेत ।

राधा मुख यह अपर ससि सतत उदित मुख देत ॥

यहाँ अपर ससि द्वारा उपमेय राधा के मुख को उपमान चन्द्रमा से भिन्न चन्द्र कहा गया है। सतत उदित के कारण अधिक ताद्रूप्य है।

(२) दुइ भुज के हरि रघुबर सुंदर भेस ।

एक जीभ के लछिमन दूसर सेस ॥ —तुलसी

इसमें लक्ष्मण को दूसरा शेषनाग कहकर एक जिह्वा वाला बताकर न्यूनता भी दिखा दी गयी है।

आचार्य भिखारीदास ने न्यून ताद्रूप्य का निम्न उदाहरण दिया है—

(३) कुंज के संपुट हैं ये खरे हिय में गड़ि जात ज्यों कुंत की कोर हैं ।

मेरु हैं पै हरि हाथ में आवत चक्रवती पै बड़े ही कठोर हैं ।

भावती तेरे उरोजनि में गुन दास लखे सब औरहि और हैं ।

संभु हैं पै उपजावें मनोज सुवृत्त हैं पै परिचित के चोर हैं ।

यहाँ शंभु आदि का आरोप करके उरोजों का विलक्षण वैधर्म्य दिखाकर विरोध किया गया है जिसकी पुष्टि सभी आरोप करते हैं। अस्तु इसमें न्यून ताद्रूप्य रूपक न होकर विरोधाभास अलंकार का प्राधान्य है।

अनन्वय (Comparison of an object with its own ideal)—इसमें एक ही वस्तु को उपमेय और उपमान रूप से कथन किया जाता है। अनन्वय का अर्थ है अन्वय (संबंध) न होना। यथा—

(१) सागर है सागर सदृश गगन-गगन सम जानु ।

है रन रावन राम को रावन राम समानु ॥

(२) साहि तनै सरजा तब द्वार प्रतिच्छन दान की वुंदभि बाजै ।

भूषन भिच्छुक भीरन को अति भोजहु तैं बड़ि मौजनि साजै ॥

राजन को गन राजन ! को गनै ? साहिन मैं न इती छवि छाजै ।

आजु गरीब नेराज मही पर तो सों तुही सिवराज बिराजै ॥

यहाँ 'तो सो तुही' में उपमेय का उपमान उपमेय ही कहा गया है। इस अलंकार में स्वयं उपमेय ही अपना उपमान इसीनिये कहा जाता है कि उसके योग्य उपमान का अभाव होता है।

(३) नारियों की महिमा-सतियों की गुण गरिमा में—

जिनके समान जिन्हें छोड़ कोई और नहीं, माता हैं मेरी वे ।

उत्प्रेक्षा - (Poetical Fancy), (संभावना)। इसमें प्रस्तुत (उपमेय) का निषेध करके अप्रस्तुत (उपमान) में उसकी संभावना की जाती है। इस अलंकार द्वारा उपमान का उत्कटता से जान होता है तथा नवीन उपमानों की योजना का इसमें सबसे अधिक अवसर रहता है। हिंदी साहित्य में जायसी की उत्प्रेक्षाएँ दर्शनीय हैं।

उत्प्रेक्षा चार प्रकार की होती है—

१. वस्तुत्प्रेक्षा—जिसमें एक वस्तु की दूसरी वस्तु में संभावना की जाती है। यथा—

(१) सोहत ओढ़े पीत पट श्याम सलोने गात ।

मनो नीलमणि सैठ पर आतन पर्यो प्रभात ॥

यहाँ कृष्ण के सलोने श्याम गात पर शोभित पीताम्बर के सौंदर्य पर नीले माणिक्य के पर्वत पर प्रभातकालीन सूर्य-प्रभा पड़ने की उत्प्रेक्षा की गई है।

(२) मानहुँ नाल खंड बुइ भए । दुहुँ बिच लंक तार रहि गए ।

हिण के मुरे मुरे वह तागा । पंग देत कित सहि सक लागा ॥

इसमें पद्मिनी की कटि की सूक्ष्मता का दिग्दर्शन कराने के लिए जायसी ने तारों से जुड़ी हुई कमल-नाल की उत्प्रेक्षा की है।

(३) जुरे जंघ सोभा अति पाए । केरा खंभ फेरि जनु लाए ॥

२. हेतुत्प्रेक्षा—इसमें अहेतु में हेतु की संभावना की जाती है।

सहस किरिन जो सुखज दिपाई ।

देखि लिलार सोउ छपि जाई ॥

सूर्य के अस्त होने का प्राकृतिक कारण है किन्तु पद्मावती के दैदीप्यमान

ललाट के सौन्दर्य व तेज के सम्मुख उसके अस्त होने की संभावना जायसी ने अहेतु में हेतु के माध्यम से की है।

हँसत दसन अस चमके पाहन उठे शरविक ।

दारिउँ सरि जो न कँ सका फाटेउ हिया वरविक ॥

दाढ़िम के विदीर्ण होने का स्वाभाविक कारण है किन्तु पद्मावती के दाँतों की कांति और सौन्दर्य को देखकर स्पर्द्धा में हीन ठहरने के कारण कवि ने उसके हृदय का विदीर्ण होता बताया है।

३. **फलोत्प्रेक्षा**—जहाँ पर अफल में फल (result) की संभावना की जाती है। यथा—

पहुप सुगंध करहि एहि आसा ।

मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा ॥

प्रकृति में पुष्पों की सुगंधि का फल यह होता है कि अपनी सृष्टि के प्रजनन हेतु उनकी सुगंधि नितली आदि कीटाणुओं को समीप ले आये। यहाँ पर जायसी ने पुष्पों की सुगंधि विकीर्ण करने का फल यह बतलाया है कि पद्मावती उन्हें अपनी नासिका से लगा ले। इस प्रकार अफल में फल की संभावना की गई है।

४. **गम्योत्प्रेक्षा**—जिसमें उत्प्रेक्षा वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता है। इसका अन्य नाम प्रतीयमाना भी है। यथा—

(१) नित्य ही नहाता क्षीर सिंधु में कलाधर है।

सुन्दर तब आनन की समता की इच्छा से ॥

समता की इच्छास्वरूप यहाँ जो फल की कामना है उसकी उत्प्रेक्षा की गई है परन्तु उत्प्रेक्षावाचक शब्द मनु, जनु आदि नहीं प्रयुक्त हुए हैं।

(२) चरणे चामीकर तणा चन्द्राणणि सजि नूपुर घूघरा सजि ।

पीला भमर किया पहराइत कमल तणा सकरंद कजि ॥

चंद्रमुखी राजकुमारी रुक्मिणी ने मुवर्ण के नूपुर धारण करके उन पर घूँघरू सजाये (मानो) कमलों के पराग की भ्रमरों से रक्षा के लिये पीली वर्दी वाले पहरेदार नियुक्त किये। यहाँ उत्प्रेक्षावाचक मनु, जनु नहीं लाये गये हैं।

गम्योत्प्रेक्षा केवल हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा ही हो सकती है वस्तुत्प्रेक्षा नहीं; क्योंकि उत्प्रेक्षावाचक शब्दों के प्रयोग के बिना वस्तुत्प्रेक्षा संभव नहीं है।

सापह्वोत्प्रेक्षा—जहाँ अपह्वुति सहित उत्प्रेक्षा की जाती है। उत्प्रेक्षा जब अन्ध अलंकारों द्वारा उत्थापित होती है तब वह अधिक चमत्कारक हो जाती है जैसे श्लेषमूला उत्प्रेक्षा, सापह्व-उत्प्रेक्षा आदि।

(१) आता है चल के प्रवाह गिरि से पा वेग की तर्जना,

होती है ध्वनि सो न, किंतु करती मानो वही गर्जना।

बीची-झोभ-खिली सुदन्त-अवली ये फेन आभास है,
श्री गंगा कलि-काल का कर रहीं मानों बड़ा हास है ॥

इस छंद में गंगा के प्रवाह के फेनों का निषेध करके उसमें कलिकाल की हँसी करने की उत्प्रेक्षा की गई है अस्तु यह अपह्नुति द्वारा उत्थापित उत्प्रेक्षा है।

(२) जन प्राची जननी ने शशि शिशु को जो दिया डिठौना है,
उसको कलंक कहना यह भी मानो कठोर टौना है।

यहाँ कलंक का निषेध करके माँ के डिठौना के रूप में कह कर उसकी उत्प्रेक्षा की गई है।

उत्प्रेक्षा में वस्तु के सत्य-स्वरूप का ज्ञान होने से वह भ्रांतिमान अलंकार नहीं होती, ज्ञान की एक कोटि की प्रबलता के कारण वह संदेह अलंकार नहीं होती तथा अध्यवसाय साध्य होने या उपमान का अनिश्चित रूप से कथन होने के कारण वह अनिशयोक्ति नहीं हो सकती।

प्रतीप—(Converse) इस अलंकार में उपमान को उपमेय कल्पना करना आदि कई प्रकार की विपरीतता होती है। इसके पाँच प्रकार हैं।

प्रथम प्रतीप—प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के रूप में कल्पित किया जाता है। यथा—

ए सखि देखलि एक अपरूप ।
सुनइत मानबि सपन-सरूप ॥
कमल जुगल पर चाँदक माला ।
तापर उपजल तरुन तमाला ॥
तापर बेढ़लि बिजुरी-लता ।
कालिंदी तट धीरे चलि जाता ॥
साखा-सिखर सुधाकर पाँति ।
ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति ॥
बिमल बिम्बफल जुगल विकास ।
तापर कीर थीर कर वास ॥
तापर चंचल खंजन-जोर ।
तापर साँपनि झाँपल सोर ॥

इस छंद में प्रसिद्ध उपमानों को उपमेय रूप में कल्पित करके कृष्ण का रूप वर्णित है।

द्वितीय प्रतीप—प्रसिद्ध उपमान की उपमेय रूप में कल्पना करके (वर्णनीय) उपमेय का अनादर किया जाता है। यथा—

१- करती तू निज रूप का गर्व किंतु अविवेक ।

रमा, उमा, शचि, शारदा तेरे सदृश अनेक ॥

यहाँ नायिका (वर्णनीय) उपमेय है; रमा, उमा, शचि आदि उपमानों को इसमें उपमेय बताकर उसका गर्व दूर किया गया है—

२- का घूँघट मुँह मूँदहु अबला नारि ।

चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि ॥

यहाँ भी नायिका उपमेय है तथा उपमान चंद को उपमेय बताकर उसका अहंकार दूर किया गया है ।

तृतीय प्रतीप—उपमान रूप में उपमेय की कल्पना करके प्रसिद्ध उपमान का निरादर किया जाता है । यथा—

१- पद्मिनि गवन हंस गय दूरी । कुंजर लाज मेल सिर धूरी ।

यहाँ पर पद्मिनी की चाल उपमेय है जिसको उपमान कल्पना करके प्रसिद्ध उपमान हंस और गजराज की चालें निरादर की गई हैं ।

२- मृगियों ने दृग मूँद लिये दृग देख सिंघा के बाँके ।

गमन देख हँसी ने छोड़ा चलना चाल बना के ॥

इसमें उपमेय सीता जी के नेत्र और चाल को उपमान कल्पित करके प्रसिद्ध उपमान मृगियों के नेत्र और हंसिनी की चाल आदि का निरादर किया गया है ।

चतुर्थ प्रतीप—उपमान को उपमेय की उपमा के अयोग्य बताया जाता है । यथा—

तेरे मुख सा पंक सुत या शशांक यह बात ।

कहते हैं कवि झूठ वे बुद्धि-रंक विख्यात ॥

इसमें पंक सुत (कमल) या शशांक-उपमानों को उपमेय (नायिका के मुख) के अयोग्य ठहराया गया है ।

पंचम प्रतीप—जहाँ उपमान का कार्य उपमेय ही भलीभाँति करने में समर्थ हो वहाँ उपमान की क्या आवश्यकता—ऐसा वर्णन करके उपमान का तिरस्कार किया जाता है । यथा—

कुंद कहा पय वृंद कहा अरु चंद कहा सरजा जस आगे ?

भूयन भानु कृसानु कहाखुमान प्रताप महीतल पागे ।

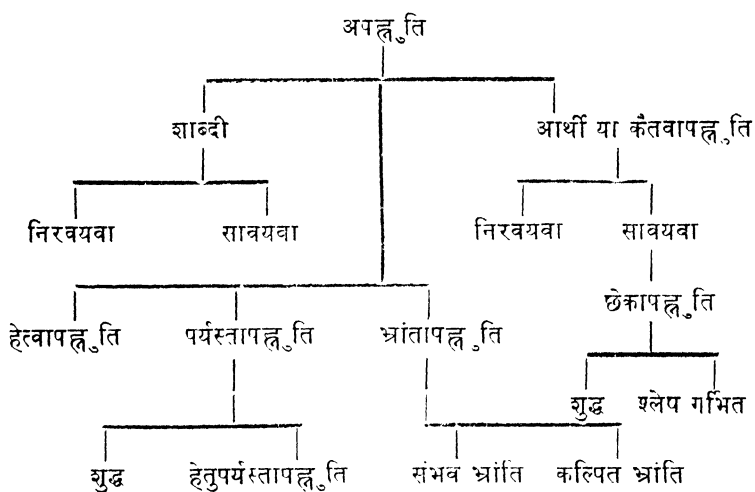
राम कहा द्विजराम कहा बलराम कहा रन में अनुरागे ।

बाज कहा मृगराज कहा अति साहस में सिवराज के आगे ॥

यहाँ उपमेय सरजा के यश के सम्मुख उपमान कुंद, पय और चंद का तिरस्कार है । खुमान के प्रताप के सामने उपमान भानु और कृमानु की अवज्ञा है । उपमेय रण-अनुरक्ति की तुलना में राम, परशुराम और बलराम की उपेक्षा

है तथा उपमेय शिवाजी के साहस के आगे बाज और सिंह के साहस की अव-
हेलना है ।

अपह्नुति—(Concealment) यहाँ पर उपमेय (प्रकृत) का निषेध करके (छिपाकर) उपमान (अप्रकृत) का आरोप (स्थापन) किया जाता है । अपह्नुति का अर्थ है छिपाना या निषेध । इसके प्रकारों को हम निम्न ढंग से समझ सकते हैं—



हेत्वापह्नुति—उपमेय के निषेध का कारण दिखाते हुए उपमान की स्थापना । यथा—

सिव सरजा के कर लसे, सो न होय किरवान ।

भुज भुजगेस भुजंगिनी भखति पौन अरि प्रान ॥

यहाँ 'न होय किरवान' से सत्य छिपाकर 'पौन अरि प्रान' खाने रूप कारण से तलवार को नागिन रूप सिद्ध किया गया है ।

पर्यस्तापह्नुति—किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु के धर्म की स्थापना करने के लिए उस दूसरी वस्तु के धर्म का निषेध किया जाना । यथा—

१— है न मुधा यह किंतु है मुधा रूप सत्संग ,

विष हलाहल है न यह हालाहल दुःसंग ।

इसमें सत्संग में साधन-धर्म की स्थापना करने के लिए मुधा के मुधा-धर्म का निषेध किया गया है ।

२— काल करत कलिकाल में, नहिं तुरकन को काल ।

काल करत तुरकान को, सिव सरजा करवाल ॥

'कलिकाल में मुसलमानों को मृत्यु नहीं मारती, शिवाजी की तलवार

मारती है। यहाँ कलियुग से 'काल करने' धर्म का निषेध करके उसे शिवाजी की करवाल में स्थापित किया गया है।

भ्रांतापह्नुति—सत्य बात प्रकट करके शंका निर्मूल करना। इसमें कहीं संभव भ्रांति और कहीं कल्पित भ्रांति होती है। यथा—

१— एक समै सजि कै सब सैन सिकार को आलसगीर सिधाए।

'आवत हे सरजा सम्हरो' एक ओर तें लोगन बोल जनाए।

भूषन भो भ्रम औरंग के सिव भौंसिला भूप की धाक धुकाए।

धाय कै सिंह कह्यौ समुझाय करौलनि आय अचेत उठाये।

औरंगजेब ने 'सरजा' का अर्थ शिवाजी समझा इसलिए भयग्रस्त होकर मूर्च्छित हो गया। तदुपरान्त हाँका देने वालों ने सिंह कहकर उसे उठाया। यहाँ 'सरजा' शब्द से जो शिवाजी का भ्रम हो गया था उसे सिंह कहकर दूर किया गया।

छेकापह्नुति—अपनी गुप्त बात प्रकट होने पर मिथ्या समाधान द्वारा उसे छिपाना। यथा—

१— भयो निपट मो मन मगन सखी लखत घनश्याम।

लख्यो कहाँ नंदलाल, नहिं जलधर बीपति धाम।

नायिका ने अपनी सहेली से कहा कि घनश्याम को देखकर मेरा मन मगन हो गया। स्वभावतः ही सखी ने जिज्ञासा की कि नंदलाल को कहाँ देखा। इस पर नायिका ने अपना रहस्य खुलते देख कर कहा कि मैं तो जलधर (काले बादल) की चर्चा कर रही हूँ तथा इस असत्य उत्तर से उसने सत्य को छिपाया।

२— रहि न सकत कोउ अपतिता यहि पावस रिनु माँय।

कहा भई उत्कंठिता ? नहिं पथ फिसलत पाँय ॥

नायिका ने अपनी सखी से कहा कि इस वर्षा ऋतु में कोई पतित (अमर्यादित, गिरे) हुए बिना नहीं रह सकता। सखी ने पूछा कि क्या तुम प्रिय से मिलने के लिए उत्कंठित हो रही हो। नायिका ने अपना भेद खुलते देखकर कहा कि नहीं मैं तो इस वर्षा ऋतु में पैरों के फिसलने की बात कह रही हूँ।

कैतवापह्नुति या आर्यापह्नुति—इसमें उपमेय का निषेध नहीं किया जाता वरन् कैतव, मिस, व्याज आदि शब्दों द्वारा निषेध का बोध कराया जाता है। यथा—

१— सिणगार करे मन कीधी स्यामा देवि तण देहरा दिसि।

होडि छंडि चरणे लागा हँस मोती लगि पाणही मिसि ॥

शृंगार करके राजकुमारी रुक्मिणी ने देवी के मंदिर की ओर जाने का मन किया। उस समय मोतियों से जड़ी हुई जूतियों के मिस हंस स्पर्द्धा छोड़कर

उनके चरणों में लोटने लगे । यहाँ उपमेय रुक्मिणी की चाल का बोध उपमान हंस गति का स्थापन करके कराया गया है ।

व्यतिरेक—जहाँ पर उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष का वर्णन होता है । इसके २४ भेद हैं ।

१. राधा मुख को चंद सा कहते हैं मतिरंक ।

निष्कलंक है यह सदा शशि में प्रगट कलंक ॥

२. दहन करती चिता तन जीवन-रहित ।

दुख का अनुभव अतः होता नहीं ॥

रात दिन करती दहन जीवन सहित ।

हे न चिता ज्वाल की सीमा कहीं ॥

३. का सरवरि तेहि देउं मयंकू । चाँद कलंकी वह निकलंकू ॥

४. रितु किहि दिवस सरस राति किहि सरस,

किहि रस सन्ध्या सुकवि कहन्त ।

वे पख सूपति बिहूँ मास बे,

बसन्त ताइ सारिखी वहन्त ॥

५. जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में ।

अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधु माया में ॥

भ्रम (भ्रांति) (Mistake or Error)—अप्रकृत (उपनाम) के सदृश प्रकृत (उपमेय) को देखने पर अप्रकृत की भ्रांति होने से भ्रांतिमान अलंकार होता है । एक वस्तु के भ्रम के कारण दूसरी वस्तु समझ लेना ही भ्रांति है । यह सादृश्यमूलक चमत्कारक भ्रांति कवि-कल्पित होती है और दस भ्रम की उत्पादक उसकी प्रतिभा है । यथा—

१. दुग्ध समझ कर रजत पात्र को लगे चाटने जिन्हें बिडाल ।

तरु छिद्रों से गिरी देख गज लगे मानने जिन्हें मृनाल ॥

रमणी जन रति अंत तल्प से लेने लगीं वस्त्र निज जान ।

प्रभामत्त शशि किरण सभी को भ्रमित बनाने लगी महान ॥

२. तसु रंग वास तसु वास रंग तण कर पल्लव कोमल कुसुम ।

वणि-वणि मालणि केसर वीणति भूली नख प्रतिबिंब भ्रम ॥

३. कुसुम जानि शुक चोंच पर भ्रमर गिर्यो मँडराय ।

सोहू तेहि चाहत धरन जामुन फल ठहराय ॥

संदेह (Doubt)—किसी वस्तु के विषय में सादृश्यमूलक संशय होने में संदेह अलंकार होता है । इसमें प्रायः उपमेय में उपमान का संदेह होता है ।

१. तारे आसमान के हैं आये मेहमान बन,
याकि, कमला ही आज आके मुसकाई है ।
आई अप्सरायें हैं अलक्षित कहीं क्या जो कि,
उनके विभूषणों की ऐसी ज्योति छाई है ।
चन्द्र ही क्या बिखर गया है चूर-चूर होके,
क्योंकि आज नभ में न पड़ता दिखाई है ।
चमक रही है चपला ही एक साथ याकि,
केशों में निशा के मुकुतावली सजाई है ॥
२. सम्प्रति अे किना-किना अे सुहिणो आयौ कि हूँ अमरावती ।
जाइ पूछियौ तिणि इम जम्पियौ देव सु आ दुआरामती ॥
३. निद्रा के उस अलसित 'वन में,
वह क्या भावी की छाया ।
दृग पलकों में विचर रही या,
वन्य देवियों की माया ॥

उल्लेख (Representation)—एक वस्तु का निमित्त भेद से (ज्ञाताओं के भेद के कारण अथवा विषय भेद के कारण) अनेक प्रकार से उल्लेख (वर्णन) किये जाने को उल्लेख अलंकार कहते हैं । यथा—

१. मल्लानामशनिनृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रो शिशुः ।
मृत्यूर्भोजपते विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंग गतः साग्रजः ॥

श्रीमद्भागवत् के इस श्लोक की छाया पर बना हुआ हिन्दी का निम्न सवैया है—

- अति उत्सुक हो जन दर्शक ने हरि को अपने मन रंजन जाना ।
शिशु वृंद ने आनंद कंद तथा पितु नंदक ने निज नंदन जाना ।
युवती जन ने मन मोहन को रति के पति का मव गंजन जाना ।
भुवि रंग में कंस ने शंकित हो जग वंदन को निज कंदन जाना ॥
२. कामाणि कहि काम काल कहि केवी नाराइण कहि अवर नर ।
वेदारथ इम कहै वेदवैत जोग तत्त जोगेसवर ॥

कृष्ण को कुंडनपुरी में कामिनियों ने कन्दर्प कहा, किसी ने काल कहा, दूसरे जनों ने उन्हें नारायण कहा, वेदज्ञों ने उन्हें वेदार्थ कहा तथा योग के तत्त्वदर्शियों ने उन्हें योगेश्वर कहा ।

अतिशयोक्ति (Hyperbole)—‘अतिशयतः अतिक्रान्ते’ (शब्द

चिंतामणि) अर्थात् उल्लंघन । लोकमर्यादा का उल्लंघन करने वाली उक्ति में अतिशयोक्ति अलंकार होता है । शब्द और अर्थ की विचित्रता अतिशयोक्ति के ही आश्रित है । आचार्य दंडी का कथन है कि अतिशयोक्ति के बिना कोई अलंकार हो ही नहीं सकता और उन्होंने संदेह, निश्चय, मीलित आदि अलंकारों को पृथक् न लिखकर अतिशयोक्ति के अन्तर्गत ही लिखा है । इसके निम्न पाँच भेद हैं—

रूपकातिशयोक्ति—(भेदेप्यभेदः; अर्थात् भेद में अभेद देखना)—उपमान द्वारा निगरण किये हुए उपमेय का अध्यवसान ही इस शैली का चमत्कार है । यहाँ केवल उपमान द्वारा ही उपमेय का वर्णन किया जाता है । यथा—

रतनारे नेत्रों के बीच घूमती हुई पुतलियों की शोभा का वर्णन जायसी ने इस प्रकार किया है —

१. राते कँवल करहिं अलि भवाँ ।

घूर्माहिं माति चर्हिं अपसवाँ ॥

२. बलदेव महाबल तामु भुजावलि पिड़ि पहरन्तै नवी परि ।

बिजड़ा मुहे वेड़तै बलिभद्रि सिराँ पुंज कीधा समरि ।

—पृथ्वीराज (वेलि)

३. बाँधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से ।

मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से ॥

—प्रसाद

भेदकातिशयोक्ति—(अभेद में भेद) उपमेय का अन्यत्व वर्णन । इस प्रणाली में वास्तव में भेद न होने पर भी भेद वर्णन किया जाता है । यथा—

आनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान ।

वह चितवनि औरे कछू जिहि बस होत सुजान ॥

यहाँ सुन्दरी के अन्य साधारण कटाक्षों में 'औरे' पद के द्वारा भेद बताया गया है ।

सम्बन्धातिशयोक्ति—असंबंध में संबंध की कल्पना का किया जाना । यथा—

१ नित गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू ।

नाहि त होइ बाजि रथ चूरू ॥ --जायसी

सिंहलगढ़ के दुर्ग की ऊँचाई का वर्णन करते हुए कवि का कथन है कि सूर्य और चंद्र प्रतिदिन आने छोड़ें (एवं हरिणों) और रथों को उधर से निकलते हुए बचाकर चलते हैं, नहीं तो वे नष्ट भ्रष्ट हो जावें ।

२. किं कहिमु तामु जमु अहि थाकौ कहि,
 नाराइण निरगुण निरलेप ।
 कहि रुक्मिणि प्रदुमन अनिरुध का,
 सह सहचरिअ नाम संखेप ॥ —बेलि

असंबंधातिशयोक्ति—संबंध में असंबंध की कल्पना होना । यथा—
 औषधालय भी अयोध्या में बने थे तो सही ।
 किंतु उनमें रोगियों का नाम तक भी था नहीं ॥

—रामचरित उपाध्याय

कारणातिशयोक्ति—कारण और कार्य के पूर्वापर की विपरीतता का होना । कारण पहले होता है और कार्य बाद में परंतु इसके विपरीत वर्णन ही इस अलंकार की विशेषता है ।

१. दोनों रथी इस शीघ्रता से थे शरों को छोड़ते ।
 जाना न जाता था कि वे कब थे धनुष पर जोड़ते ॥

—गुप्त जी

इस अलंकार के तीन भेद हैं—

- (१) अक्रमातिशयोक्ति (कारण और कार्य का एक ही साथ होना);
- (२) चपलातिशयोक्ति (कारण के ज्ञान मात्र से कार्य होना) तथा
- (३) अत्यन्तातिशयोक्ति (कारण के प्रथम ही कार्य होना) ।

इनके उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

१. वह शर इधर गांडीव गुण से भिन्न जैसे ही हुआ ।
 धड़ से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ ॥

—गुप्त जी

२. आयौ अस खेड़ि अरि सेन अंतरै प्रिथमी गति आकास पथ ।
 त्रिभुवन नाथ तणौ बेला तिणि रव सम्भली कि दीठ रथ ॥

—बेलि

उस समय कृष्ण के रथ का स्वर सुनाई दिया कि रथ दिखाई पड़ा ।

३. विप्र विलैंब न कीध जेणि आइस वसि वात विचारि न भली बुरी ।
 पहिलुं इ जाइ लगन ले पुहतो प्रोहित चंदेवरी पुरी ॥ —बेलि
 सोचने से पहले ही पुरोहित लगन लेकर चंदेरी पहुँच गया ।

अर्थान्तरन्यास—(Coroboration) जहाँ सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से समर्थन किया जाय वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है । यह चार प्रकार का होता है—

(१) सामान्य का विशेष से साधर्म्य से समर्थन,

- (२) विशेष का सामान्य से साधर्म्य से समर्थन,
 (३) सामान्य का विशेष से वैधर्म्य से समर्थन, तथा
 (४) विशेष का सामान्य से वैधर्म्य से समर्थन । यथा—

१. पैज काज पारथ, नाथ दुरजोधन भंज्यौ ।

पैज काज श्रीराम, लंक दसकंधर गंज्यौ ॥

पैज काज श्रीकृष्ण, कंस मथुरा सहि मार्यौ ।

पैज काज बलि राय, रूप वामन करि गाह्यौ ॥

हूँ पैज काज बंधन सहिस, तुम बंधन चषे नहीं ।

ज्यों तेल नीबु बपु तिलछही, ते साहि इसी बत्ती कही ॥ —चंद

यहाँ पार्थ, राम, श्रीकृष्ण, वामन आदि की पैज (प्रतिज्ञा) अर्थात् विशेष-वृत्तांत द्वारा धीरे धीरे अपनी पैज अर्थात् सामान्य वृत्तांत का समर्थन करता है । इसके अंतिम चरण में आये ज्यों से उदाहरण अलंकार का भ्रम न होना चाहिये क्योंकि पूर्व चरणों के वर्णनों से यह असम्बद्ध है ।

२. गरज आपनी आपसों, रहि मन कही न जाय ।

जैसे कुल की कुलबधू, पर घर जात लजाय ॥

यहाँ कुलबधू की चर्या के विशेष वृत्तांत से पूर्वाद्ध वर्णित सामान्य वृत्तांत अपनी गरज के कथन का समर्थन किया गया है ।

परिसंख्या (Special mention)—जहाँ प्रश्नपूर्वक अथवा बिना ही प्रश्न के कुछ कहा जाय वह उसी के समान किसी वस्तु के निषेध करने के लिए हो वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है । यथा—

१. दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज ।

जोतिअ मनहि सुनिअ अस रामचन्द्र के राज ॥

इसमें कहा गया है कि राम-राज्य में दंड केवल यतियों (दंडी सन्यासियों) के हाथ में और भेद केवल नर्तकों के समाज में संगीत में दिखाई पड़ता था । राज्य-दंड और भेद-नीति के निषेध व्यंजना द्वारा प्रतीत होते हैं । यहाँ श्लेष भी मिश्रित है ।

निदर्शना (Illustration)—दृष्टांतकरण अर्थात् करके दिखाना । निदर्शना अलंकार में दृष्टांत रूप में अपना कार्य उपमा द्वारा दिखाया जाता है । इसके तीन प्रकार होते हैं—

प्रथम निदर्शना, द्वितीय निदर्शना और तृतीय निदर्शना । यथा—

१. धरती बान बेधि सब साखी । साखी ठाढ़ देहिं सब साखी ।

यहाँ पद्मावती की पलकों की बरौनियों द्वारा धरती को बाणों से बेधने के सम्बन्ध की असंभव कल्पना के कारण प्रथम निदर्शना है ।

२. मधुप त्रिभंगी हम तजी प्रगट परम करि प्रीति ।

प्रगट करत सब जगत में कटु कुटिलन की रीति ॥

त्रिभंगी कृष्ण ने प्रेम करके गोपियों को त्याग दिया और इस प्रकार उन्होंने-
ने कुटिल व्यक्तियों की प्रणाली संसार में प्रकट कर दी । इसमें गोपियों का
स्वरूप कृष्ण के प्रीति-त्यागने के कारण का संबंध जगत में कुटिलों की क्रिया से
दिखाने के फलस्वरूप द्वितीय निदर्शना है ।

३. वह सुजोति हीरा उपराही ।

हीरा जाति सो तेहि परछाहीं ॥

यहाँ दाँत उपमेय का गुण उपमान हीरा में आरोपित होने से तृतीय निदर्शना है ।

पर्यायोक्ति (Periphrasis)—में अपनी बात सीधी तरह से न कहकर
दूसरी तरह से कही जाती है । इसके दो प्रकार हैं ।

महाराज सिवराज, तेरे बैर देखियतु ,

घन-बन ह्वै रहे हरम हबसीन के ।

भूषन भनत राम नगर जवारि तेरे ,

बैर परवाह परे रुधिर नदीन के ।

सरजा समत्थ बीर तेरे बैर बीजापुर ,

बैरि बैयरनि कर चीन्ह न चुरीन के ।

तेरे बैर देखियतु आगरे दिली के बीच ,

सिंदुर के बिंदु मुख इंदु जमनीन के ॥

यहाँ बीजापुर की स्त्रियों के विधवा होने और यवनियों का अपने को
छिपाने का वर्णन घुमा-फिरा कर किया गया है । यह प्रथम पर्यायोक्ति है ।
दूसरी पर्यायोक्ति में बहाने से कार्य साधन किया जाता है । यथा—

नाथ लखन पुर देखन चहहीं । प्रभु सँकोच उर प्रगट न कहहीं ।

जो राउर अनुशासन पाऊँ । नगर दिखाय तुरत लै आऊँ ॥

इसमें रामचंद्र जी की नगर देखने की अभिलाषा लक्ष्मण जी की इच्छा
बताकर पूरी हुई है ।

व्याजस्तुति—(Artful praise)—निंदा के वचनों द्वारा स्तुति
को व्याज स्तुति कहते हैं । स्तुति के वचनों द्वारा निंदा को व्याजनिंदा कहते
हैं । यथा निम्न छंद में भूषण ने श्लिष्ट शब्दों में शिवाजी के दान को साधा-
रण बताकर निंदा की है परन्तु वास्तविक अर्थ ग्रहण करने पर स्तुति स्पष्ट
हो जाती है । यथा—

१. पीरी पीरी हुन्नं तुम देत हौ मंगाय हमें ,
 सुबरन हम सों परखि कर लेत हौ ।
 एक पल ही मैं लाख रुखन सों लेत लोग ,
 तुम राजा ह्वैं कै लाख दीबे कों सचेत हौ ।
 भूषन भनत महाराज सिवराज बड़े ,
 दानी दुनी ऊपर कहाए केहि हेत हौ ।
 रीझि हँसि हाथी हमें सब कोऊ देत ,
 कहा रीझि हँसि हाथी एक तुमहियें देत हौ ।
२. मोहि करि नंगा अंग अंगन भुजंगा बाँधैं ।
 ऐरी मेरी गंगा तेरी अदभुत लहर है ॥

इसमें गंगा जी की निदा तो प्रत्यक्ष है परन्तु अप्रत्यक्षरूप में यह प्रशंसा की गई है कि उनकी कृपा में ही शिव को अपने अंगों पर भुजंग बाँधने की शक्ति प्राप्त हुई है ।

निम्न छंद में भूषण ने शिवाजी के शत्रुओं की स्तुति करते हुए उनकी निदा की है—

तू तो रातो दिन जग जागत रहत बेऊ ,
 जागत रहत रातौ दिन बन-रत हैं ।
 भूषन भनत तू विराजै रज भरो बेऊ ,
 रज भरी देहिन दरी में विचरत हैं ।
 तू तौ सूर गन कौ विदारि विहरत सूर -
 मंडलै विदारि बेऊ सुर लोक रत हैं ।
 काहे तें सिवाजी गाजी तेरोई सुजस होत ,
 तो सों अरिवर सरिवर सी करत हैं ॥

मुद्रा—मुद्रा का अर्थ है मुहर या पेट्टी । मुद्रा-न्याय के आधार पर इस अलंकार का नाम मुद्रा हुआ है । जिस प्रकार नाम अंकित मुहर या पेट्टी किसी व्यक्ति विशेष से संबंधित होने के कारण उसकी सूचना देती है उसी प्रकार मुद्रा अलंकार में वर्णन के प्रसंग में सूचनीय अर्थ का सूचन किया जाता है । यथा—

करुणे क्यों रोती है ?

‘उत्तर’ में और अधिक तू रोई,
 मेरी विभूति है जो ,
 उसको ‘भवभूति’ क्यों कहे कोई ।

यहाँ करुणा का वर्णन करते हुए ‘उत्तर’ एवं ‘भवभूति’ शब्दों द्वारा महा-कवि भवभूति के ‘उत्तररामचरित’ नाटक की सूचना दी गई है ।

अधिक—(Exceeding) बड़े आधेय (जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु में रखी जाय) और आधारों (जिनमें दूसरी वस्तु रखी जाय) की अपेक्षा छोटे आधारों और आधेय का क्रमशः बड़ा वर्णन किया जाता है।

यथा— **सिव प्रचंड कोदंड कों तानत प्रभु भुजदंड ।**

भयो खंड तब चंड-रव नहि मायो ब्रह्मांड ॥

इसमें बड़े आधार ब्रह्मांड की अपेक्षा आधेय धनुष भंग का शब्द वस्तुतः कम होने पर भी (नहि मायो) पद द्वारा बड़ा बताया गया है।

अल्प—(Smallness) छोटे आधेय की अपेक्षा वस्तुतः बड़ा आधार भी छोटा वर्णन किया जाता है। यथा—

१ अब जीवन की हे कपि आस न मोहि ।

कनगुरिया की मुंदरी कंकन मोहि ॥ —तुलसी

२ तुम पूछत कहि मुद्रिके मौन होति यह नाम ।

कंकन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम ॥ —केशव

३ सुनहु स्याम ब्रज में जगी दसम दसा की जोति ।

जहँ मुंदरी अंगुरीन की कर में ढीली होति ॥

इन सब उद्धरणों में आधेय अँगूठी की अपेक्षा आधार हाथ छोटा बताया गया है।

अप्रस्तुतप्रशंसा—(Indirect description) या उपमान की प्रशंसा। इस अलंकार में अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराई जाती है।

राधिका को बदन सँवारि बिधि धोये हाथ ।

ताते भयो चंद कर झारे भए तारे हैं ।

यहाँ प्रकृति में अनिर्वचनीय सुषमा उत्पन्न करने वाले चंद्र और तारों की उत्पत्ति सृष्टि चित्रकार विधाता के राधा का मुख बनाने के उपरांत क्रमशः अपने हाथ धोने और झटकने से बतलाकर वास्तव में राधा के सौंदर्य की अनन्यता और अपरूपता की चर्चा की गई है।

इस अलंकार के निम्न पाँच भेद हैं—

(१) **कारण निबन्धना—**प्रस्तुत कार्य का ज्ञान कराने के लिए अप्रस्तुत कारण का कथन।

(२) **कार्य-निबन्धना—**प्रस्तुत कारण का ज्ञान कराने के लिए अप्रस्तुत कार्य का कथन।

(३) **विशेष-निबन्धना—**साधारण उपमेय होने पर वहाँ असाधारण उपमान का कथन।

(४) सामान्य-निबन्धना—असाधारण उपमेय होने पर वहाँ साधारण उपमान का कथन ।

(५) सारूप्य-निबन्धना—उपमेय का कथन न करके उसके समानान्तर स्थिति वाले उपमान का वर्णन ।

समासोक्ति, रूपकातिशयोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा में परस्पर भ्रम नहीं करना चाहिए ।

विभावना—(Peculiar causation) कारणान्तर (अन्य कारण) की कल्पना का किया जाना । कारण न होने पर कार्य नहीं हो सकता अस्तु प्रसिद्ध कारण के अभाव में जिस कार्य का सम्पादन होना बताया जाता है, उसके दूसरे कारण की कल्पना इस असम्भवता को मिटाने के लिए की जाती है ।

विभावना के निम्न छः भेद हैं—

१. पहली विभावना—प्रसिद्ध कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति ।

यथा—

(१) जीभ नाहि पै सब किछु बोला । तन नाहीं सब ठाहर डोला ।

—जायसी

(२) बिनु पद चलै सुनै बिनु काना । कर बिनु कर्म करै विधि नाना
आनन रहित सकल रस भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ।

२. दूसरी विभावना—कारण के अपूर्ण होने पर भी कार्य की उत्पत्ति ।

यथा—

मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्व ।

महामन्त्र गजराज कहँ बस कर अंकुस खर्ब ।

ब्रह्मा आदि सब देवताओं और मदांध गज को वशीभूत करने के दुष्कर कार्य हेतु मंत्र तथा अंकुश सदृश लघु और खर्व कारण बताया गया है ।

३. तीसरी विभावना—कार्य में बाधाएँ होने पर भी कार्य की उत्पत्ति ।

यथा—

तुव बेनी ब्याली रहै बाँधी गुनह बनाइ ।

तऊ वाम ब्रज चंद कों बदाबदी डसि जाइ ।

(राधा की) वेणी रूपी सपिणी के गुणों (डोरों) से बाँधी होने के कारण उसने में बाधाएँ हैं, फिर भी वह बदाबदी से कृष्ण को डस जाती है ।

४. चौथी विभावना—अन्य कारण से कार्य की उत्पत्ति । यथा—

ता बिन अखिल खलभलें खल खसक में ,

जा दिन सिवाजी गाजी नेक करखत हैं ।

सुनत नगारन अगार तजि अरिन की ,
 दारगन भाजत न बार परखत हैं ।
 छूटे बार, बार छूटे, बारन तें लाल बेखि ,
 भूषन सुकवि बरनत हरखत हैं ।
 क्यों न उतपात होहि बैरिन के झुंडन में ,
 कारे घन उमड़ि अंगारे बरखत हैं ।

बादल अग्नि की उत्पत्ति का कारण नहीं है परन्तु यहाँ उससे आग उत्पन्न कराई गई है ।

५. पाँचवीं विभावना—विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति । यथा—

१. निय नाम सीत जालें वण नीला,
 जालें नलणी थकी जलि ।

२. साँझ सोचि कुंदण पुरि सूतौ जागियौ परभाति जगति ।

६. छठी विभावना—कार्य द्वारा कारण उत्पन्न होना । यथा—

अचरज भूषण मन बढ़यौ, श्री सिवराज खुमान ।

तब कृपान ध्रुव धूम तें, भयो प्रताप-कृसान ॥

अग्नि से धुयें की उत्पत्ति होती है परन्तु यहाँ शिवाजी के कृपाण रूपी दृढ़ धुयें से प्रताप रूपी अग्नि की उत्पत्ति बताई गई है ।



छन्द या वृत्त

“साधारणतः भारतीय छन्दों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है । (१) संस्कृत तथा (२) प्राकृत । प्रथम कोटि के छन्दों में वर्ण-गणना प्रधान होती है तथा द्वितीय में मात्रा-गणना ।

‘संस्कृत’ छन्दों से भी प्राचीन वैदिक छंद हैं जिनमें वर्ण विचार की प्रमुखता रहती है । उन छन्दों में केवल वर्णों की संख्या ही प्रधान है तथा उनमें ह्रस्व अथवा दीर्घ मात्रायें लगाने से कोई अन्तर नहीं माना जाता जबकि ‘वैदिक’ छन्दों से विकसित ‘संस्कृत’ छन्दों में वर्ण विचार की तो प्रमुखता है ही साथ ही उनमें मात्रिक विचार भी समाविष्ट हो गये हैं ।

‘प्राकृत’ छन्द प्रारम्भ से ही मात्रिक रहे हैं । इनमें सबसे प्राचीन ‘गाथा’ है तो अपने संस्कृत रूप में ‘आर्या’ नाम से प्रसिद्ध है । ऐसे छन्दों में मात्रिक गणना ही प्रधान होती है किन्तु कवि अपनी इच्छा एवं आवश्यकतानुसार ‘प्राकृत’ छन्दों के वर्णों को ह्रस्व अथवा दीर्घ कर सकता है । कभी-कभी दीर्घ वर्ण (ए और ओ) में केवल एक ही मात्रा की गणना की जाती है । वर्ण वृत्तों की अपेक्षा मात्रा वृत्तों में कवि को अधिक स्वच्छन्दता का अवसर रहता है तथा साथ ही वे संगीत के लिए भी उपयुक्त होते हैं । संगीत में ताल का निदान प्रधान है । तथा ताल का विचार मात्राओं पर अवलम्बित है न कि वर्णों पर । सम्भवतः इन्हीं दो प्रमुख कारणों से ‘प्राकृत’ काव्य की आदि अवस्था में साधारण वर्ग से आने वाले, प्राकृत काव्य रचयिताओं ने मात्रा वृत्तों को अपनाया था । संगीत जनसाधारण पर प्रभाव डालने वाली कला है तथा संस्कृत नाटकों के अवलोकन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि नाटक के प्रारम्भ

में नटी द्वारा गाये जाने वाले गीतों में प्राचीन मात्रा वृत्त 'गाथा' अथवा आर्या छन्द का ही प्रयोग किया गया है। इस बात से कौन अपरचित है कि प्राकृत काल में शैल्यूष तथा मागधों ने जनसाधारण का मनोविनोद करने के लिए डफली पर गाये जाने योग्य अधिकांश मात्रिक छन्दों को जन्म दिया था जिनमें कुछ कालकवलित हो गये, कुछ संगीत में पहुँच गये, कुछ नृत्य में विशेष रूप से प्रयोग में लाये जाने लगे तथा कुछ अपने उन्हीं प्रारम्भिक रूपों में आज भी चले आ रहे हैं।

'प्राकृत' छन्दों के निर्माण का श्रेय केवल लोक कवियों को ही नहीं है। जब प्राकृतों ने साहित्यिक तथा लौकिक रूप धारण कर लिये तब महान् विद्वानों ने भी इन भाषाओं में साहित्य सर्जन किया तथा सम्भवतः यही एक प्रमुख कारण है कि मध्ययुगीन प्राकृत रचनायें संगीत विहीन हैं। किन्तु अपभ्रंशयुगीन रचनाओं का अवलोकन करते ही स्पष्ट हो जाता है कि ये कृतियाँ जिनका सृजन सर्वसाधारण के लिए हुआ था तथा जिनके रचयिता सदैव साधारण 'भाट' ही नहीं थे, संगीतमय हैं तथा इन्हें एक डफली पर गा सकने योग्य बना दिया गया है। 'पञ्जटिका' छन्द एक ऐसा ही छन्द है। अपभ्रंश काव्य में इसके प्रयोग की भरमार है। इस छन्द में मात्राओं के उपरान्त स्वभावतः ही ताल लगने लगती है।

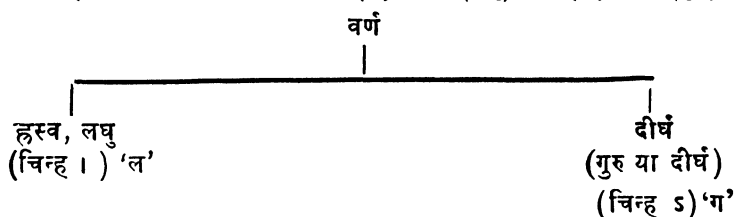
अपभ्रंश छन्दों में कुछ ऐसे भी छन्द हैं। जिनका प्रयोग नृत्य में किया जाता है। 'घत्ता' तथा 'मदनगृह' ऐसे ही छन्द हैं, जिनके गाये जाने पर नर्तक के एक विशेष क्षण पर गति परिवर्तन का रहस्य भली भाँति समझ में आ जाता है।

छन्द प्रयोग वास्तव में कवि की प्रतिभा पर अवलम्बित है। जैसे श्रेष्ठ खराद करने वाले के हाथों में जाकर हीरे की चमक द्विगुणित हो जाती है बहुत कुछ वही हाल छन्द का भी है। छन्द के नियम पालन के अतिरिक्त कवि की प्रतिभा, विषय के अनुकूल छन्द चुनकर रस तथा अलंकारों का वास्तविक अभिव्यंजन करके छन्द की महत्ता को बहुत कुछ गौरवपूर्ण पद पर पहुँचा सकती है। वर्णन को दृष्टि में रखकर ही छन्द का चुनाव होना चाहिए। प्रत्येक छन्द हर प्रकार के वर्णन करने के लिए उपयुक्त नहीं होता। जैसे वर्णनात्मक काव्य के लिए सूफी कवि उसमान एवं जायसी ने चौपाई छन्द को अपनाया तथा कालान्तर में तुलसी ने भी उसकी शक्ति देखकर अपना राम-चरित मानस लिखा। चौपाई छन्द में अन्य प्रतिभासम्पन्न कवियों ने भी काव्य-सृजन किया किन्तु ठेठ अवधी की जो मिठास जायसी ला सके अथवा जो मंजुलता तुलसी ने पैदा की है, उस तक अन्य कवि नहीं पहुँच सके। छन्द का चुनाव भाषा को देखकर करना अभीष्ट है। अवधी भाषा में चौपाई छन्द

को जो सफलता प्राप्त हुई है। वह ब्रज भाषा में सम्भव न थी। फिर प्रत्येक छन्द प्रत्येक रस के अनुरूप भी नहीं होता। यद्यपि छन्द शास्त्राकारों ने ऐसे नियमों का निर्देश नहीं किया है फिर भी यह बात प्रकाशित काव्यों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाती है”^१

छन्द—वर्ण और मात्रा गणना, यति (विराम) और गति का नियम तथा चरणान्त में समता जिस काव्य में हो उसे छन्द कहते हैं। जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने संस्कृत वृत्त और ग्रीक Versus शब्द में साम्य देखा था। अंग्रेजी में छन्द को Meter और कभी-कभी Verse भी कहते हैं।

वर्ण—वर्ण दो प्रकार के होते हैं—(१) ह्रस्व (लघु) और (२) दीर्घ (गुरु)।



(१) ह्रस्व—पिंगल में ह्रस्वाक्षर को लघु कहते हैं। लघु का चिन्ह ‘।’ है। यथा—अ, इ, उ, क, कि, कु। लघु वर्ण का सांकेतिक नाम ‘ल’ है। लघु वर्ण एक मात्रिक होता है।

(२) दीर्घ—पिंगल में दीर्घाक्षर को गुरु कहते हैं। गुरु का चिन्ह ‘s’ है। यथा—

(१) आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः;

(२) का, की, कू, के, कै, को, कौ, कं, कः

गुरु वर्ण द्विमात्रिक होते हैं।

(१) संयुक्ताक्षर के पूर्व का लघु वर्ण गुरु माना जाता है। यथा ‘अक्षर’ इसमें ‘क्ष’ संयुक्ताक्षर है अतः पूर्वाक्षर ‘अ’ पर अधिक भार पड़ने के कारण उसे द्विमात्रिक अथवा गुरु माना जाता है।

(२) संयुक्ताक्षर के पूर्व का लघु वर्ण जिस पर भार नहीं पड़ता लघु ही रहता है। यथा—कन्हैया, जुन्हैया

(३) सानुस्वार एवं सविसर्ग वर्ण दीर्घ अथवा गुरु माने जाते हैं। यथा—बंक, दुःख। इसमें ‘बं’ तथा ‘दुः’ गुरु वर्ण है।

(४) सानुस्वार एवं सविसर्ग वर्ण यदि स्वयं दीर्घ हों तो उनकी मात्राओं

१. चंद वरदायी और उनका काव्य, (छंद-समीक्षा, पृ० २१३-१४),

ढा० विपिन बिहारी त्रिवेदी, हिंदुस्तानी एकेडेमी, सन् १९५१ ई०।

में कोई वृद्धि नहीं होती। यथा—गांगये, हाः हाः। इसमें 'गां' और 'हाः' स्वयं दीर्घ वर्ण हैं। अनुस्वार एवं विसर्ग के कारण इन पर कोई अन्य प्रभाव नहीं पड़ता।

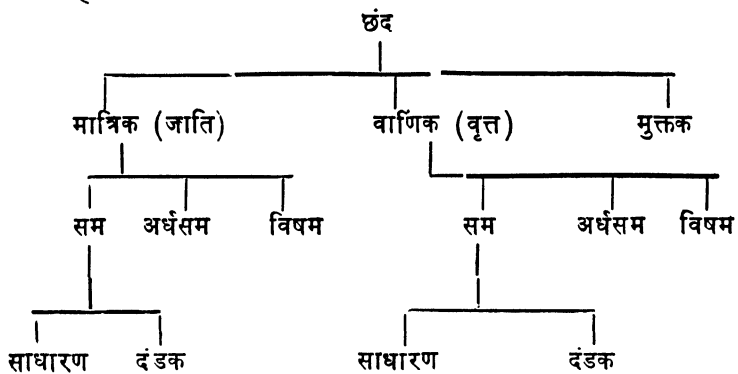
(५) अर्धचन्द्र ' ~ ' वाले वर्ण लघु या एक ही मात्रा के माने जाते हैं। यथा—हँसना, फँसना आदि।

(६) कभी-कभी पदान्त का लघु वर्ण विकल्प रूप से (प्रयोगानुसार) गुरु मान लिया जाता है। यथा—'लीला तुम्हारी अति ही त्रिचित्र' में 'त्र'।

(७) कुछ दीर्घ वर्ण विकल्प से लघु पढ़े जाते हैं। यथा—'करत जो बन सुर नर मुनि भावन' में 'जो'।

(८) कुछ लघु वर्ण विकल्प से दीर्घ पढ़े जाते हैं। यथा—(६) सदृश।

मात्रा—वर्ण के उच्चारण में जो समय व्यतीत होता है उसे मात्रा कहते हैं। लघु वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है यह उतना ही काल होता है जितना एक चुटकी बजाने में लगता है। लघु वर्ण की एक मात्रा मानी जाती है। गुरु वर्ण के उच्चारण में लघु से दुगुना समय लगता है अतः उसकी दो मात्रायें मानी जाती हैं। मात्रा के अन्य नाम कला, कल, मता, मत भी मिलते हैं।



मात्रिक छंद—(क्रम हत मत्ता) जिन छंदों में मात्राओं की संख्या तथा उनकी व्यवस्था का ध्यान रखा जाता है अर्थात् जहाँ मात्रिक संख्या समान होती है, वर्णों की संख्या और व्यवस्था उपेक्षणीय होती है, उन्हें मात्रिक छंद कहते हैं।

वर्णिक वृत्त—(क्रम गत वृत्ता) जिन छंदों में मात्राओं की संख्या पर विचार न रखते हुए गुरु तथा लघु की व्यवस्था का सर्वत्र निरंतर ध्यान रखा जाता है उन्हें वर्णिक वृत्त कहते हैं। इन वृत्तों में वर्ण क्रम तथा उनकी संख्या भी समान होती है। हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस छंद के चारो चरणों

में वर्ण क्रम एक सा हो और उनकी संख्या भी समान हो वह वर्णिक छंद है । इस प्रकार के छंद गणों द्वारा क्रमबद्ध होते हैं ।

मुक्तक छंद—मात्रा और गणों के बन्धन से मुक्त छंद मुक्तक कहे जाते हैं ।

मात्रिक तथा वर्णिक दोनों प्रकार के भेदों के तीन-तीन उपभेद होते हैं ।

१. **सम**—जिसके चारों चरणों के लक्षण एक से हों अर्थात् जिन छंदों में मात्राओं अथवा वर्णों की संख्या चारों चरणों में समान रहती हो उसे सम छंद कहते हैं ।

२. **अर्द्धसम**—जिसके प्रथम और तृतीय (विषम) तथा द्वितीय और चतुर्थ (सम) चरणों की मात्राओं अथवा वर्णों की संख्या समान हो उन्हें अर्द्धसम छंद कहते हैं । दो चरणों वाले छंदों का प्रत्येक चरण दल कहलाता है ।

३. **विषम**—जिसके चारों चरणों में क्रम अलग-अलग हों उन्हें विषम छंद कहते हैं । अथवा जो न सम होते हैं और न अर्द्धसम ।

सम छंद दो प्रकार के होते हैं—

साधारण—मात्रिक में ३२ मात्राओं तक साधारण छंद तथा वर्णिक में २६ वर्ण तक साधारण वृत्त कहे जाते हैं ।

दण्डक—मात्रिक में ३२ से अधिक मात्रा वाले दंडक छंद तथा वर्णिक में २६ से अधिक वर्ण वाले दंडक वृत्त कहे जाते हैं ।

अक्षर (वर्ण)—ये दो प्रकार के होते हैं—

१. **शुभाक्षर**—ये १५ होते हैं । यथा—क, ख, ग, घ, च, छ, ज, द, ध, न, य, श, स, क्ष, ज्ञ ।

२. **अशुभाक्षर**—इन्हें दग्धाक्षर कहते हैं । ये १९ होते हैं । यथा—ङ, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व, ष, ह ।

दग्धाक्षरों को कविता के प्रारम्भ या आदि में नहीं रखना चाहिए यद्यपि इनके परिहार का भी विधान है ।

वर्णिक गण—तीन-तीन वर्णों के एक समूह को वर्णिक गण कहते हैं । वर्णों की गुरुता और लघुता के विचार से तथा लघु और गुरु वर्णों की व्यवस्था क्रम एवं स्थान के विचार से गणों के आठ प्रकार होते हैं ।

(१) मगण (२) नगण (३) भगण (४) यगण (५) जगण (६) रगण (७) सगण (८) तगण ।

वर्णिक गण कोष्टक

नाम	लघुसंज्ञा	रेखारूप	वर्णरूप	उदाहरण
मगण	म	SSS	मागाना	राजाज्ञा, मांधाता
नगण	न	III	नगन	कमल, सरल
भगण	भ	SI	भागन	भारत, नीरज
यगण	य	ISS	यगाना	यशोदा, भगोसा
जगण	ज	ISI	जगान	मराल, नवीन
रगण	स	SIS	रागना	भारती, सारथी
सगण	र	IIS	सगना	कमला, अबला
तगण	त	SSI	तागान	आकाश, पीयूष

पिंगल के दशाक्षर—वर्णिक गणों के आठ अक्षर म, न, भ, य, ज, र, स, त तथा ग (गुरु) ल (लघु) के दो अक्षर मिलकर पिंगल के दशाक्षर कहे जाते हैं। सम्पूर्ण काव्य सृष्टि में ये दशाक्षर उसी भाँति व्याप्त हैं जिस प्रकार विश्व में भगवान् विष्णु।

मात्रिक छंद

चौपाई—चौपाई मात्रिक छंद है और छंदःप्रभाकर में १६ मात्राओं वाले संस्कारी समूह के अंतर्गत वर्णित है। इसकी १६ मात्राओं में गुरु लघु का अथवा चौकलों का कोई क्रम नहीं होता, अंत में जगण (ISI) या तगण (SSI) न होना चाहिए अर्थात् गुरु लघु (SI) न हों। इसमें चार पद होते हैं। उदाहरणस्वरूप देखिए—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एक मन मोरा ।

सो मन रहत सदा तुव पाहीं । जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं ।

छंदः कोशः (छं० ३७) तथा प्राकृतपिंगलम (छंद ९७-८) का चउपइया छंद प्रति चरण में ३० मात्राओं के क्रम से कुल १२० मात्राओं वाला वर्णित है। छंदः कोशः का लघु चउपइआ (छंद ४०) तथा रूपदीपपिंगल का चौपाई (छंद ४०) प्रत्येक चरण में १५ मात्राओं वाला कहा गया है।

छंदः प्रभाकर में इसे १५ मात्राओं वाले तैथिक समूह के अन्तर्गत रखा गया है।

चौपाइयाँ कई प्रकार की होती हैं। चौपाई के एक पद को पाई, दो पद दो पाई या अर्द्धाली, तीनपद तीन पाई और चारपद चौपाई कहे जाते हैं। चौपाई और पादाकुलक छंदों की गति लगभग समान होने से एक का दूसरे में भ्रम होता है। इन दोनों में इतना अंतर ध्यान में रखना चाहिए कि पादा-

कुलक के प्रत्येक चरण में चार-चार चौकल होते हैं परन्तु चौपाई में इनकी आवश्यकता नहीं होती। जिस चौपाई के चारों चरणों में ४-४ चौकलों की व्यवस्था हो उसे पादाकुलक ही कहना चाहिए।

रोला—रोला छंद २४ मात्राओं वाले अवतारी समूह के अन्तर्गत है। इसके सम पदों में १३ (= ३ + २ + ४ + ४ या ३ + २ + ३ + ३ + २) और विषम पदों ११ (= ४ + ४ + ३ या ३ + ३ + २ + ३) मात्राओं का क्रम होता है। इसमें चार चरण होते हैं। यथा—

शुभ सूरज-कुल-कलश नृपति दशरथ भये भूपति ।

तिनके सुत भये चारि चतुर चित चारु चारुमति ।

रामचन्द्र भुवचन्द्र भरत भारत-भुव-भूषण ।

लक्ष्मण अह शत्रुघ्न दीह दानव-दल-दूषण ।

भिखारीदास ने छंदार्णवपिंगल में रोला छंद में २४ मात्रायें मानी हैं और उसकी गति अनियमित लिखी है किन्तु उनके उदाहरणों में १२, १२ मात्राओं में विश्राम मिलता है।

गीतिका^१—गीतिका छंद २६ मात्राओं वाले 'महाभागवत' समूह के अंतर्गत है। उसमें १४-१२ की यति से २६ मात्रायें होती हैं। अंत में १५ का नियम है। इस छंद की ३ री, १० वीं, १७ वीं और २४ वीं मात्रायें सदा लघु रहती हैं। यथा—

मुख एक है नत लोक लोचन लोल लोचन को हरे ।

जनु जानकी संग सोभिजें सुभ लाज देहन को धरे ।

तहँ एक फूलन के बिभूखन एक मोतिन के किये ।

जनु छोरसागर देवता तन छोर छोटनि को छिये ॥

हरिगीतिका—हरिगीतिका छंद २८ मात्राओं वाले 'यौगिक' समूह के अंतर्गत है। इसमें १६-१२ की यति से २८ मात्रायें होती हैं। छंद के अंत में १५ का नियम है। इसकी रचना की योजना २, ३, ४, ३, ४, ३, ४, ५ = २८ है। यथा—

शुभ द्रोणागिरिगण शिखर ऊपर उदित औषधि सी गनौ ।

बहुवायु वश वारिद होरहि अरुझि दामिनि छुति मनौ ॥

अति किधौ रुचिर प्रताप पावक प्रगट सुर पुर को चली ।

यह किधौ सरित सुदेश मेरी करी दिबि खेलति भली ॥

सरसी^२—सरसी छंद २७ मात्राओं वाले 'नाक्षत्रिक' समूह के अंतर्गत है।

१. गीतिका—यह मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार का होता है। यहाँ पर मात्रिक छंद के लक्षण दिये जा रहे हैं।

२. सरसी

इस में १६, ११ की यति से २७ मात्रायें होती हैं। अंतः ५ का नियम है। इस के अन्य नाम 'कबीर' तथा 'सुमन्दर' भी मिलते हैं। कबीरदास की वाणी के पलटे होली में जो कबीर नाम से गाये जाते हैं इसी छंद लिखे जाते हैं।

पथा—

कोई नचावै रंडी मुंडी, कथक भाँड़ धन खोय ।

आप नचाइय विद्या देवी, मुलुक मुलुक जस होय ॥

(भला यह रीति तुम्हारे कुल की है)

आपस मे न करे मुकदमा, घूस हजारों देयें ।

डिगरी पावै खरचा जोड़े, लंबी साँसें लेयें ॥

(भला पंचाइट को नहीं मानेंगे)

बहू बेटियाँ मातु पिता की कही न माने बात ।

पढ़े गुने बिन यही फजीहत दाऊजी अकुलात ॥

(भला बिन नारि पढ़ाये मत रहियो)

दोहा—संस्कृत द्विपथक से द्विपथा और प्राकृत दुवहअ होकर दोहा शब्द की व्युत्पत्ति है। ६-१०वीं शताब्दी के विरहाङ्क रचित वृत्तजातिसमुच्चयः तथा १० वीं शताब्दी के स्वयम्भू रचित श्री स्वयम्भूःच्छन्दः' में हमें 'दुवहअ' रूप मिलता है जिससे द्विपथक से दुवहअ होने की शका का समाधान हो जाता है।

दोहा छंद में २४/२४ मात्राओं के दो चरण होते हैं तथा १३/११ मात्राओं पर यति का नियम है। अर्थात् विषम चरणों में १३ और सम चरणों में ११ मात्रायें होती हैं। इस प्रकार चारों चरणों में ४८ मात्रायें होती हैं। उदाहरण-स्वरूप देखिये—

राम नाम मणि दीप धरि, जोह देहरी द्वार ।

तुलसी भीतर बाहिरो, जौ चाहसि उजियार ॥

कविदर्पणम् भाग २ (अवदोहक या दोहक) छं० १५, छंदःकोशः छं० २१ प्राकृतपैङ्गलम् भाग १ छं० ७८-६, रूपदीपपिगल (दोहाक) छं० ३६ और छंदः प्रभाकर पृ० ८४-६ में उपर्युक्त योजना स्वीकार की गई है तथा यह (६ + ४ + ३, ६ + ४ + १) गण विस्तार माना गया है। परन्तु नन्दितादय रचित 'गाथा लक्षणम्' छं० ८४, वृत्तजातिसमुच्चयः द्विपथक (दुवहअ = ४ + ४ + ४ + ५/४ + ४ + ५५) छं० २७, श्रीस्वयम्भूःच्छन्दः (दुवहअ) छं० ७ और हेम चन्द्राचार्य रचित छंदोऽनुशासनम् (दोहक) छं० १०० में पादात की मात्रा

१. तुलसी की छंद साधना, डा० विपिन विहारी त्रिवेदी, जनभारती, भा० १, पृ० २१-२६, बगीच हिंदी परिषद, १९४९ ई०

सदैव दीर्घ निर्धारित करने के कारण प्रति चरण में १४-१२ के विश्राम से २६ मात्राओं का नियम कहा गया है।

जिस प्रकार प्राकृत काल में गाथा या गाथा छन्द का अत्यधिक प्रयोग किया जाता था उसी प्रकार अपभ्रंश काल में दोहा का प्रयोग पाया जाता है।^१ प्राकृत के जर्मन विद्वान Dr. Hermann Jacobi तथा Dr. L. Alsdorf दोहा छंद की महिमा से पर्याप्त प्रभावित हुए थे। उनके सम्पादित (जर्मन संस्करण) कुमारपाल प्रतिबोध और हरिवंश पुराण में उनकी लगन और गम्भीर शोध के परिणाम देखे जा सकते हैं। दोहा के २३ भेद होते हैं।

सोरठा— इसके सम चरणों में १३ और विषम चरणों में ११ मात्रायें होती हैं। यथा—

- (१) जौ चाहसि उजियार, राम नाम मणि दीप धर।
जोह देहरी द्वार, तुलसी भीतर बाहिरो ॥
- (२) जो सुमिरत सिधि होय, गननायक करिवर वदन।
करहु अनुग्रह सोय, बुद्धि रासि सुभ गुन सदन ॥
- (३) कुंद इंदु सम देह, उमा रमन करना अयन।
जाहि दीन पर नेह, करउ कृपा मर्दन मयन ॥

छप्पय ^२— छप्पय संयुक्त वृत्त छन्द है। छप्पय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से है—सं० षट्पद > प्रा० षट्पअ > अप० छप्पअ > हि० छप्पय। इस छंद में ६ पद (चरण) होते हैं। पहले चरण रोला के होते हैं जिनमें २४ मात्राओं का नियम होता है और अंतिम दो चरण उल्लाला के। उल्लाला में कहीं २६ और कहीं २८ मात्रायें होती हैं। छप्पय के ७१ भेद होते हैं, उनके नाम निम्न दो छप्पयों में 'भानु' ने अपने छंदः प्रभाकर में दिये हैं। यथा—

- (१) अजय विजय बल कर्ण वीर बेताल विहंकर।
मकंट हरि हर ब्रह्म इन्दु चंदन जु शुभंकर।
श्वान सिंह शार्दूल कच्छ कोकिल खर कुंजर।
मदन मत्स्य ताटक शेष सारंग पयोधर।

1. This is the most current metre of the Apabhramsa gnostic didactic poetry and its position can be well described by calling it the Apabhramsa counterpart to the Prakrit गाथा।^१

२. अधिक विस्तार के लिए देखिये—छप्पय छंद (एक समीक्षा), डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी, विशाल भारत, अक्टूबर सन् १९५० ई० तथा भारतेंदु की भारतीय छंद योजना, डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी, भारतेंदु—कला, पृ० ३८-४२, बंगीय हिंदी परिषद्, सं० २००७ वि०।

शुभ कमल कन्द वारन शलभ भवन अजंगम सर सरस ।

गणि समर सु सारस मेरु कहि मकर अली सिद्धिहि सरस ॥ १ ॥

(२)

बुद्धि सु करतल और सु कमलाकार धवल वर ।

मलय सुध्रुवगनि कनक कृष्ण रंजन मेधाभर ।

गिद्ध गरुड़ शशि सूर्य शल्य मुनि नवल मनोहर ।

गगन रच्छ नर हीर भ्रमर शेखर शुभ गौहर ।

जानियै सुकुसुमाकर पतिहि दीप शंख बसु शब्द मुनि ।

छप्पय सु भेद शशि मुनि वरन गुरु लघु घट बढ़ ।

रीति गुनि ॥ २ ॥

चल्यौ दरद जेहि करद रच्यो विधि मित्र दरद हर ।

सरद सरोरुह वदन जाचकन वरद मरद वर ।

लसतसिंह सम दुरद नरद दिसि दुरद अरद कर ।

निरखि होत अरि सरद हरद सम जरद कांति धर ।

कर करद करत बेपरद जब, गरद मिलत वपु गाज को ।

रन-जुआ-नरद वित नूप लस्यो करद मगध-महाराजको ।

श्री स्वयम्भूःछन्दः भाग ४ छंद ३२ और कविदर्पणम् भाग २ छं० ३३ में षट्पद छन्द के नियमों का उल्लेख है। कविदर्पणम् में इसे वस्तुवदन और उल्लाल के मेल से बना बताया गया है। छन्दःकोशः छं० १२ और प्राकृतपैङ्गलम् छं० १०५-१०८ में छप्पय छंद ११, १३ मात्राओं के विश्राम से पहले ४ चरण तदुपरांत उल्लाला के दो चरणों के मेल से बना निर्धारित किया गया है तथा उल्लाला के प्रत्येक चरण में २८ मात्राओं की योजना दी गई है।

भिखारीदास ने अपने छन्दार्णव-पिंगल में रोला की ११ वीं मात्रा लघु होने पर उसे काव्य बतलाकर काव्य और उल्लाला के योग से छप्पय छंद का निर्माण बतलाया है। यथा—

रोला में लघु रुद्र पर 'काव्य' कहावे छन्द ।

ता आगे उल्लाल दै, जानहु छप्पै बन्द ॥ ३४ ॥ सातवीं तरंग

'भानु' ने अपने छंदः प्रभाकर (९वीं आवृत्ति, वि० सं० १९९६, पृ० ६८-६९) में छप्पय को रोला और उल्लाला के योग से बना बताया गया है तथा उल्लाला में कहीं २६ और कहीं २८ मात्राओं का उल्लेख किया है।

मध्यकालीन शताब्दियों में राजस्थान आदि कतिपय प्रदेशों में छप्पय छंद कवित्त नाम से भी प्रसिद्ध रहा है। पृथ्वीराजरासो, मंछकृत रघुनाथरूपक प्रभृति ग्रन्थों में छप्पय को कवित्त संज्ञा दी गई मिलती है।

काव्य दर्पणकार के वर्णन से ज्ञात होता है कि १३ वीं शताब्दी तक इस छंद की प्रतिष्ठा और प्रचार बढ़ चले थे और प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में

इसका बहुतायत से प्रयोग किया गया है। हिंदी काल में छप्पय छंद अपने गौरव और गरिमा सहित समादृत हुआ। वैसे परवर्ती हिन्दी रचनाओं में भी छप्पय का आदर रहा परन्तु उसकी विशेष प्रतिष्ठा रासो काल में दृष्टिगोचर होती है। पृथ्वीराजरासो ने इस छन्द को विशेष रूप से महिमान्वित किया। वीर रसात्मक रासो कालीन रचनाओं में इस छंद ने एक शैली विशेष प्राप्त कर ली थी जिसका अनुसरण तुलसी, भूषण आदि ने भी किया। चौपाई के लिये जिस प्रकार जायसी और तुलसी विख्यात हैं तथा कुडलियों के लिए जिस प्रकार गिरधर उसी प्रकार छप्पय के लिए नरहरि और नाभादास के नाम उल्लेखनीय हैं।

कुंडलिया—दोहा रोला जोरि कं छै पद चौबिस सत्त ।

आदि अंत पद एक सो, कर कुंडलिया सत्त ॥

कुंडलिया छंद दोहा और रोला के योग से बनता है। इसके प्रति चरण में २४ मात्राएँ होती हैं। यथा—

(१) रहिए लटपट काटि दिन बरु घामहि में सोय ।

छाँह न बाकी बैठिए जो तरु पतरो होय ॥

जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा देहै ।

जा दिन बहै बयारि टूटि सब तर से जैहै ।

कह गिरधर कविराय छाँह मोटे की गहिए ।

पाता सब झरि जाय तऊ छाया में रहिये ॥

(२) कज नयनि मज्जन किए बंठी ब्योरति बार ।

कच अंगुरिनि बिच दीठि दं निरखत नंद कुमार ॥

निरखति नंदकुमार सखिन की दीठ बचाये ।

एक पंथ है काज करति मुख अलक छिपाये ।

छियौ चन्द हरिचन्द सघन घन देइ लुकज्जन ।

तहँ सों द्वे उड़गन निरखत करि ढिग जुग कज्जन ।

छंद.कोश: छं० ३१ और प्राकृतपैंगजम् [छंद १४६] में कुंडलिया छंद को दोहा और उल्लाला के संयोग से बना हुआ, कुल १४४ मात्राओं का विशुद्ध यमक सहित, आदि में समान पद बाना बतलाया गया है। पहले 'दोहा' होता है और फिर 'उल्लाला'।

छन्द:प्रभाकर (पृ० ९७) में इसे दोहा और रोला के योग से बना बताया गया है; प्रति चरण में २४ मात्राएँ और आदि अन्त का शब्द एक सा कहा गया है।

वर्णिक छंद

वर्णिक छंद वैदिक या संस्कृत थे और मात्रिक छंद लौकिक अर्थात् लोक भाषाओं—प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के जन-कवियों द्वारा प्रणीत हुए थे।

वर्णिक छंदों की प्रकृति और प्रवाह संस्कृत भाषा में अपूर्व पाये जाते । परन्तु जन-भाषाओं में उनमें वैसा प्रवाह और सौंदर्य नहीं पाया जाता । तुलसी छंदों की इस प्रवृत्ति से भलीभाँति अभिज्ञ थे । अपने मानस में उन्होंने जो कुछ भाषा में लिखा उसमें मात्रिक छंद प्रयुक्त किये परन्तु संस्कृत में लिखने पर उन्होंने वर्णिक वृत्तों का ही प्रयोग किया । पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी ने खड़ी बोली की शक्ति और सामर्थ्य दिखाने के प्रयास में अपने युग विशेष की आलोचना कर मुँह बंद करने के लिये भले ही वर्णिक वृत्तों का प्रयोग 'प्रियप्रवास' में कर दिखाया है परन्तु संस्कृत भाषा में प्रयुक्त छंदों की तुलना में वे निःसन्देह शिथिल प्राण और गति वाले ठहरते हैं ।

वंशस्थ—वंशस्थ वर्णिक छंद १२ वर्णों की आवृत्ति वाले 'जगती' समूह के अंतर्गत है । इसके प्रत्येक चरण में १२ वर्ण और (ज, त, ज, र अथवा 151 + 551 + 151 + 515) गण योजना है ।

१— सुतं पतंतं प्रसमीक्ष्य पावके, न बोधयामास पतिं पतिव्रता ।
पतिव्रता शाप भयेन पीड़ितो, हुताशनश्चंदन पंक शीतलः ॥

२— अनेक आकार प्रकार रंग के ।
सुधा समोये फल पुंज से सजा ।
विराजता अस्य रसाल तुल्य था ।
समोदकारी अमरुद रोदसी । —हरिऔध

३— मुकुन्द चाहे यदुवंश के बने ।
रहें सदा या वह गोप वंश के ।
न तो सकेंगे ब्रजभूमि भूलि वे ।
न भूल देगी ब्रज मोदिनी उन्हें । —हरिऔध

वसंततिलकः—वसंततिलक वर्णिक छंद १४ वर्णों की आवृत्ति वाले 'शर्करी' समूह के अन्तर्गत है । इसके प्रत्येक चरण में १४ वर्ण, (त भ ज ज ग ग अथवा 551 + 511 + 151 + 151 + 55 गण योजना) और अंत में २ गुरु होते हैं । इसके अन्य नाम उद्धर्षिणी, सिंहोन्नता, वसंत-तिलक प्रभृति भी हैं ।

१— यां चितयामि सततं मयिसा विरक्ता ।
साप्यन्यमिच्छति जनं सजनोऽन्य सक्तः ॥
अस्मत्कृतेतु परितुष्यति काचिदन्या ।
धिक तांचतंच मदनंच इमांच मांच ॥

२— बैठारि आसन सब अभिलाष पूजै ।
सीता समेत रघुनाथ संबंध पूजे ॥

जाके मिमित्त यज्ञ यज्यो सो पायो ।
ब्रह्मांडमंडन स्वरूप जो वेदगायो ॥

—रामचंद्रिका, केशव

३- नाना पुराण निगमागम सम्मतं—
द्रामायणे निगदितं कृचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तस्मुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा ।
भाषा निबंधमति मंजुलमातनोति ॥

—बालकांड, तुलसी

४- रोना अशुभजान प्रयाण काल ।
रोये बिना न छन भी मन मानता था ।
आँसू न ढाल सकतीं निज नेत्र से थीं ।
डूबी द्विधा जलधि में जन मंडली थी ।

—प्रियप्रवास, हरिऔध

५- कुंजें वही थल वही यमुना वही है ।
बेलें वही बन वही विटपी वही है ।
हैं पुष्प पल्लव वही ब्रज भी वही है ।
थे किन्तु इयाम बिन हैं न वही जनाते ।

—प्रियप्रवास, हरिऔध

मालिनी—मालिनी छंद १५ वर्णों की आवृत्ति वाले, अतिशर्करी, समूह के अंतर्गत है । इसके प्रत्येक चरण में ८-७ की यति से १५ वर्ण, १२ मात्रायें और (न न म य य अथवा III + III + SSS + ISS + ISS) गण योजना है ।
उदाहरण—

१- अतुलित बलधामं स्वर्ण शैलाभ देहं ।
दनुज बन कृशानुं ज्ञानिनामग्रगन्यं ।
सकल गुण निधानं वानराणामधीशं ।
रघुपति वरदूतं वातजातं नमामि ॥

—सुन्दरकांड, तुलसी

२- प्रमुदित मथुरा के मानवों को बना के ।
सकुशल रह के औ विघ्न बाधा बचा के ।
निज प्रिय सुत दोनों साथ लेके सुखी हो ।
जिस दिन पलटेंगे गेह स्वामी हमारे ॥

—प्रियप्रवास, हरिऔध

शिखरिणी—शिखरिणी छंद १७ वर्णों की आवृत्ति वाले 'अथात्यष्टि' समूह के अंतर्गत है ।

इसके प्रत्येक चरण में ६-११ की यति से १७ वर्ण, २५ मात्रायें, और (य म न स भ ल ग अथवा 155 + 555 + 111 + 115 + 511 + 15) गण योजना है ।
उदाहरणस्वरूप—

- (१) क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पथ्यक शयनं ।
क्वचिद् शाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदन रुचिः ।
क्वचित् कंथाहारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो ।
मनस्वीकार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥
- (२) अनूठी आभा से सरस सुषमा से सुरस से ।
बना जो देती थी बहुगुणमयी भू विपिन को ।
निराले फूलों की विविध दल वाली अनुपमा ।
जड़ी बूटी हो हो बहु फलवती थीं विलसती ॥

—प्रियप्रवास, हरिऔध

मन्दाक्रांता—मन्दाक्रांता छंद १७ वर्णों की आवृत्ति वाले 'अथात्यष्टि' समूह के अंतर्गत है । इसके प्रत्येक चरण में ४, ६, ७ की यति से १७ वर्ण, २७ मात्रायें और (म, भ, न, त, त ग, ग अथवा 555 + 511 + 111 + 551 + 551 + 55) गण योजना है । मन्दाक्रांता शब्द का अर्थ है धीरे-धीरे खींचने वाली ।

- (१) धन्याऽयोध्या दशरथ नृपस्याप माता च धन्या ।
धन्योवंशो रघुकुल भवो यत्र रामावतारः ।
धन्यावाणी कविवर मुखे राम नाम प्रपन्ना ।
धन्योलोके प्रतिदिन मसौ रामनाम शृणोति ॥
- (२) तारे टूटे तम टल गया छा गयी ध्रोम लाली ।
पंछी बोले तमचुर जगे ज्योति फेंकी दिशा में ।
शाखा डोली तरु निचय की कंजफूले सरों में ।
धीरे धीरे दिनकर कढ़े तामसी रात बीती ॥

—प्रियप्रवास, हरिऔध

शार्दूलविक्रीडित—शार्दूलविक्रीडित वर्णिक छंद १९ वर्णों की आवृत्ति वाले 'धृति' समूह के अंतर्गत है । इसके प्रत्येक चरण में १२, ७ की यति से १६ वर्ण और (म स ज स त त ग अथवा 555 + 115 + 151 + 115 + 551 + 551 + 5) गण योजना है ।

- (१) मूलं धर्मतरोर्विवेकलजलधेः पूर्णोन्दुमानन्दं ।
वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनं ध्वान्तापहं तापहं ।
मोहाम्भोधरपूगपाटनविधौ स्वः सम्भवं शंकरं ।
वन्दे ब्रह्माकुलं कलंक शमनं श्री रामभूप्रियम् ॥१॥

—अरण्यकाण्ड, तुलसी

- (२) काले कुत्सित कीट का कुसुम में कोई नहीं काम था ।
 काँटे से कमनीय कंज कृति में क्या है न कोई कमी ।
 पोरों में कब ईख की विपुलता ग्रंथियों की भली ।
 हा दुर्वैव प्रगल्भते ! अपटुता तूने कहाँ की नहीं ॥

—प्रियप्रवास, हरिऔध

सवैया—इसके कई भेद हैं जिनके प्रत्येक चरण में २२ से लेकर २६ वर्ण तक होते हैं । इनके नाम हैं मदिरा (भ ७ + ग), मत्तगयंद (भ ७ + ग ग), सुमुखी (ज ७ + ल ग), चकोर (भ ७ + ग ल), वाम (ज ७ + य), किरौट (भ ८), (सुन्दरी स ७ + ग), अरविद (स ८ + ग), सुख (स ८ + ल ल) आदि । इनके अतिरिक्त मात्रिक सवैया भी होता है । सवैया के चारों चरणों के अंत के वर्ण समान होने आवश्यक हैं । मत्तगयंद सवैया का एक उदाहरण दृष्टव्य होगा—

उत्तम गाथ सनाथ जब धनु श्री रघुनाथ जु हाथ कं लीनो ।

निर्गुण से गुणवंत कियो सुख केशव संत अनंतन दीनो ।

ऐंचो जहाँ तबहीं कियो संयुत तिच्छ कटाच्छ नराच नवीनो ।

राजकुमार निहारि सनेह सों शंभु को साँचो शरासन कीनो ॥

मुक्तक छंद

मुक्तक छंद वे हैं जिनके प्रत्येक चरण में केवल वर्णों की संख्या का ही प्रमाण रहता है अथवा कहीं-कहीं गुरु लघु का नियम पाया जाता है । यह मुक्तक इसलिए कहलाता है कि यह गणों के बंधन से मुक्त होता है अर्थात् यह कवियों को मात्रा और गणों के बंधन से मुक्ति प्रदान करता है । इसके नौ भेद हैं—मनहर (३१ वर्ण), जनहरण (३ ल + १ ग = ३१ वर्ण), कलाधर (गुरु लघु १५ + ग = ३१ वर्ण), रूपघनाक्षरी (३२ वर्ण अन्त्य लघु), जलहरण (३२ वर्ण), डमरू (३२ वर्ण परन्तु सब लघु), कृपाण या किरपान (आठ-आठ की यति से २१ वर्ण और अंत में नकार श्रुति मधुर होती है), विजया (८-८ वर्ण की चार चौकड़ियाँ और चरणांत में लघु गुरु अथवा नगण भी होता है) तथा देवघनाक्षरी (३३ वर्ण, ८-८-८-८ पर यति होती है और अंतिम तीनों वर्ण लघु होते हैं ।)

मन हरण—इस छंद के प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण होते हैं और १५-१६ वर्णों पर यति का नियम है । इसमें चरणांत का वर्ण गुरु होता है परन्तु शेष के लिये गुरु लघु का नियम नहीं होता । इसे कवित्त, घनाक्षरी और मनहर भी कहते हैं ।

(१) सुंदर सुजान पर, मंद मुस्कान पर ;

बाँसुरी की तान पर, ठौरन ठगी रहै ।

मूरति विशाल पर, कंचन सी माल पर ,
 हंसन सी चाल पर खोरन खगी रहै ।
 भौहें धनु मैन पर, लोने जुग नैन पर ,
 शुद्ध रस बैन पर वाहिद एगी रहै ।
 चंचल से तन पर, साँवरे बदन पर ,
 नंद के नंदन पर लगन लगी रहै ॥
 दानिन के शील पर दान के प्रहारी दिन ,
 दातदारि ज्यों निदान देखिये सुभाय के ।
 दीप दीप हूँ के अवनीपन के अवनीप ,
 पृथु सम केशोदास दास द्विज गाय के ।
 आनंद के कंद सुरपालक से बालक ये ,
 परदारप्रिय साधु मन वच काय के ।
 देह धर्मधारी पं विदेहराज जू से राज ,
 राजत कुमार ऐसे दसरथ राय के ॥

घनाक्षरी—इस छंद के दो भेद हैं—

(१) रूप घनाक्षरी और

(२) देव घनाक्षरी

रूपघनाक्षरी—इस छंद के प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण होते हैं और १६-१६ वर्णों पर यति का नियम है । चरणांत का वर्ण लघु होता है—

बेर बेर बेर लै सराहं बेर बेर बहु,
 रसिक बिहारी देत बंधु कहै फेर फेर ।
 चाखि चाखि भाषे यह वाहू ते महान मीठो
 लेहु तो लखन यों बखानत हैं हेर हेर ।
 बेर बेर देवं सबरी सुबेर बेर
 तऊ रघुबीर बेर बेर तेहि टेर टेर ।
 बेर जनि लावौ बेर बेर जनि लावौ
 बेर बेर जनि लावौ बेर लावौ कहैं बेर बेर ॥

देवघनाक्षरी—देवघनाक्षरी के प्रत्येक चरण में ३३ वर्ण होते हैं । ८, ८, ८, ९ पर यति का नियम होता है तथा अन्त के तीनों वर्ण लघु होते हैं ।

यथा—

झिल्ली झनकारें पिक चातक पुकारें बन ,
 मोरनि गुहारें उठे जगुनू चमकि चमकि ।

घोर घन घोर भारे धुरवा धुरारे धाम ,
 धूमनि मचावें नाचें दामिनी दमकि दमकि ।
 भूकनि बयारि बहै लूकनि लगावें अंक,
 हूकनि भभूकनि की उर में खमकि खमकि ।
 कैसे करि राखौ प्राण प्यारे 'जसवन्त' बिन,
 नान्हीं नान्हीं बूंद झरै मेघवा झमकि झमकि ॥

* समाप्त *

